मध्ययुगीन

सगुण और निर्गुण हिन्दी साहित्य

का

तुलनात्मक अध्ययन

[१४०० ई० से १७०० ई० तक]

[प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध]

डॉ० आशा गुप्ता

शकाब्द १८९२

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक
मौलिचन्द्र शर्मा
सचिव, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रथम संस्करण ११००
मूल्य २५·००
शकाब्द १८९२ : सन् १९७० ई०

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय,
प्रयाग

प्रकाशकीय

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य आध्यात्मिक समृद्धि से सम्पन्न होने के कारण साहित्य के इतिहासकारों ने इसे 'स्वर्णयुग' कहा है और इतिहास के विषय का वर्गीकरण करते हुए इस युग को 'भक्तिकाल' की संज्ञा दी है। भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य सगुण और निर्गुण—अध्यात्म की इन दो धाराओं में प्रवाहित हुआ है। सगुणभक्ति साहित्य के 'रामभक्ति' एवं 'कृष्णभक्ति' दो स्रोत हैं तथा निर्गुण भक्ति के 'ज्ञानाश्रयी' और 'प्रेमाश्रयी' दो स्रोत हैं। इन्हीं चतुर्मुख स्रोतों से ब्रह्म के सगुण-साकार स्वरूप एवं निराकार तत्त्व का निरूपण हिन्दी साहित्य में पाया जाता है।

इस शोध ग्रंथ में लेखिका डा० आशा गुप्ता ने निर्गुण तथा सगुण भावधारा की दार्शनिक पृष्ठभूमि, धार्मिक विचारधाराओं तथा साहित्य के विभिन्न स्वरूपों को प्रस्तुत करते हुए निर्गुण-सगुण का शास्त्रीय विवेचन किया है। आशा है शोधकर्त्ताओं जिज्ञासुओं एवं अध्येताओं के लिए यह ग्रंथ उपादेय होगा।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

मौलिचन्द्र शर्मा
सचिव

प्राक्कथन

अपरिमेय तथा अमूल्य भारतीय भक्ति साहित्य, विस्तृत एवं वैविध्यपूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों, विभिन्न धर्मों तथा संप्रदायों एवं विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत दीर्घ काल तक लिखा जाता रहा। फलस्वरूप अनेक भाषाओं एवं बोलियों तथा अनेक शैलियों से भक्ति साहित्य का सृजन हुआ। इसी असीम भक्ति साहित्य में मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति साहित्य अपनी महत्त्वपूर्ण सत्ता रखता है।

हिन्दी भक्ति साहित्य की आध्यात्मिकता एवं समृद्धि के दृष्टिकोण से मध्ययुग को 'भक्ति-काल' एवं 'स्वर्ण-युग' के नाम से अभिहित किया जाता है। १४०० ई० से लेकर १७०० ई० तक की विस्तृत सीमा में जो साहित्य ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण इन उभय पक्षों के प्रति भक्ति की प्रगाढ़ भावना से प्रेरित होकर स्वतः स्फूर्त्त हो फूट पड़ा है, उसी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध का विवेच्य विषय है। फलस्वरूप प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत उन्हीं रचनाओं को अध्ययन के हेतु ग्रहण किया गया है जिनमें रचयिता का हृदय ब्रह्म के सगुण अथवा निर्गुण स्वरूप के प्रति अटल श्रद्धा से अभिभूत है तथा उसकी कृति इसी भावना की प्रेरणाभूत अभिव्यक्ति है। निर्गुण भक्ति साहित्य की उभय शाखाओं-ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाश्रयी—के साहित्य सृजन की पृष्ठभूमि में निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म पर दृढ़ आस्था लक्षित होती है। इसी प्रकार सगुण भक्ति साहित्य की उभय शाखाओं—रामभक्ति एवं कृष्णभक्ति—की काव्य स्फूर्त्ति का स्रोत, निश्चित रूप से, ब्रह्म के सगुण एवं साकार स्वरूप में अनन्य विश्वास है।

प्रत्यक्ष रूप से निर्गुण भक्ति-धारा में ब्रह्म के विग्रह के प्रति अविश्वास तथा सगुण भक्ति धारान्तर्गत ब्रह्म के विग्रह के प्रति दृढ़ आस्था के कारण पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। किन्तु तथ्य यह है कि दोनों विचारधाराओं में ब्रह्म के व्यापकत्व पर विश्वास है, अतः संकीर्णता के स्थान पर उदारता होने के फलस्वरूप अनेक स्थलों पर भावसाम्य है।

अलौकिक दृष्टिकोण से निर्गुण और सगुण हिन्दी भक्तिसाहित्य का अध्येता हृदयैक-संवेद्य परमानन्द संवित् की सत्यानुभूति के अभिवर्षण से स्नात हो निर्मलता एवं पवित्रता की अनुभूति करता है, साथ ही लौकिक दृष्टि से अध्ययन करने वाला प्राणि मात्र से प्रेम करते हुए कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठा का कल्याणप्रद भाव ग्रहण करता है। वास्तव में हिन्दी भक्ति साहित्य की उभय धाराओं में उपर्युक्त दोनों पक्षों का सुन्दर सामंजस्य है।

निर्गुण और सगुण भक्ति साहित्य की तुलना अनेक दृष्टिकोणों से की जा सकती थी। प्रत्येक दृष्टिकोण से तुलनात्मक अध्ययन स्वतंत्र शोध का विषय होने की सामर्थ्य रखता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में निर्गुण तथा सगुण भावधारा की दार्शनिक पृष्ठभूमि, धार्मिक विचारधाराएँ, साहित्य के विभिन्न स्वरूप, सामाजिक पक्ष, काव्य-रूप, एवं परवर्ती साहित्य पर प्रभाव की दृष्टि से निर्गुण और सगुण साहित्य, इन षट्कोणों से विवेच्य विषय पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

केन्द्रीय सरकार इस विषय पर शोध कार्य करने के लिए तीन वर्ष तक ह्यूमैनिटीज़ रिसर्च स्कालरशिप देकर मुझे प्रोत्साहित किया था।

प्रारम्भ में डा० धीरेन्द्र वर्मा, एवं बाद में डा० रामकुमार वर्मा के निर्देशन में यह शोध-प्रबन्ध लिखा गया था, उनके प्रति अत्यधिक अनुगृहीत हूँ। सन् १९६२में प्रयाग विश्वविद्यालय नेइस शोध प्रबन्ध को स्वीकृत किया था। शोध प्रबन्ध का मूल रूप बना रहे इसलिए किसी प्रकार के परिवर्तन नहीं किए गए हैं।

प्रयाग आशा गुप्ता

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय

निर्गुण तथा सगुण भावधारा की दार्शनिक पृष्ठभूमि

(क) आध्यात्मिक विचारधारा : उद्भव और विकास

ब्रह्म तत्व पर चिन्तन करना मानव हृदय की एक अत्यन्त उच्च एवं उदात्त वृत्ति है, साथ ही इस अलौकिक सत्ता को स्वीकार करना तत्वविवेचक दृष्टि के लिए एक महान् गूढ़ प्रश्न है। ईश्वर को पहले स्वीकार करना होगा, उसके पश्चात् ही उसके सगुण अथवा निर्गुण होने की समस्या सामने आती है। अतः सगुण और निर्गुण दोनों विचारधाराओं के मूल में एक निश्चित तथ्य है, वह है ईश्वर की सत्ता का अन्तर्दर्शन।

जिस समय किसी परोक्ष शक्ति की सत्ता का निश्चय हो गया होगा उसी समय यह प्रश्न उठा होगा कि उस सत्ता का परिवेश है कैसा ? उसका कोई रूप, आकार आदि है या नहीं, और है तो कैसा है । उस सत्ता को नाम भी क्या दिया जाय और उसका वोध किस प्रकार कराया जाय, यह समस्या सामने उपस्थित हुई होगी। 'सत्ता' शब्द भी उपयुक्त है या नहीं, यह प्रश्न विचारणीय है।

इस प्रकार तर्क के आधार पर अनेक समस्याएँ उपस्थित होती हैं। यदि ब्रह्म जैसी कोई सत्ता है भी तो क्या उसकी अनुभूति पूर्ण रूप से संभव है ? मनुष्य की इंद्रियां इतनी कुंठित और अपर्याप्त हैं कि वे अपनी विषयगत सीमा में ब्रह्म का अनुभव कर भी नहीं सकती। इन्द्रियाँ स्थूल हैं—स्थूलगत विषय ही उनका गन्तव्य है, जब कि ब्रह्म सूक्ष्म है और सूक्ष्म अनुभूति ही उसका बोध तत्व है। ऐसी स्थिति में मनुष्य ब्रह्म को असत् भी मान सकता है। इसी आधार पर निरीश्वर-वाद की पुष्टि संभव हो जाती है। दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि ब्रह्म की अनुभूति अंशतः ही हो। उसकी विराट् सत्ता इतनी असीम हो कि वह सीमाबद्ध इन्द्रियों से पूर्णतः हृदयंगम न हो सके। ऐसी स्थिति में अनुभूति अंशतः कल्पना के सहारे पूर्ण हो और उस कल्पित तत्व का विवे-चन विवेचक के दृष्टिकोण पर ही आधारित हो। भिन्न भिन्न विवेचकों की कल्पना में अंतर हो सकता है, और ब्रह्म की वास्तविक सत्ता इन विवेचनाओं से निश्चित रूप से परे है।

तीसरी स्थिति यह हो सकती है कि ब्रह्म की अनुभूति होने पर भी उसकी अभिव्यंजना में इंद्रियाँ संपूर्ण रूप से असमर्थ हों। इसीलिए संभवतः ब्रह्म को अगोचर कहा गया हो। कबीर का हृदय गूंगा बनकर ब्रह्मानन्द के गुड़ का स्वाद वर्णन कर सका है। 'नश्वर स्वर' से अनश्वर के गीत' किस प्रकार गाए जा सकते हैं। वस्तुतः ब्रह्म तत्व की विराट् सत्ता की अनुभूति में अनेक कठिनाइयाँ हो सकती हैं। अतः इस कठिनाई के साथ साथ इस प्रकृत्ति में अन्तव्यप्ति और उससे परे 'प्रकृति परावर नाथ' के संबंध में अनेकानेक प्रश्न सदैव ही उठा करते हैं कि उस शक्ति

की अनुभूति को शब्दों में प्रकट करना सम्भव है कि नहीं। स्थूल रूप से इस प्रारम्भिक समस्या के तीन पार्श्व दृष्टिगत होते हैं:—

१. तर्कपूर्ण प्रमाण न दे सकने के कारण कोई ऐसी सत्ता ही न मानी जाय। जैसा कि कपिल ने अपने सांख्य सूत्र में कहा—

'प्रमाणाभावाद्नतत्सिद्धिः'।[१] प्रमाण के अभाव में उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता।

२. यह कहा जाय कि ब्रह्म है, परन्तु उसको शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में ऋषि भाव और वास्कलि की बहुश्रुत कथा का उद्धरण दिया जाता है। वास्कलि ने जब ऋषि भाव से पूछा कि ब्रह्म क्या है और कुछ भी उत्तर न पाने पर बार बार पूछा तब भाव ने यही उत्तर दिया कि मैं बता तो रहा हूं, तुम समझ नहीं रहे कि आत्मा मौन है।[२] प्राचीन ग्रन्थों में आत्मा शब्द का प्रयोग बराबर परम शक्ति के लिए मिलता है।

३. तीसरी बात, जिससे प्रस्तुत विषय का सीधा संबंध है, वह यह है कि ब्रह्म है, यह निश्चित है; ऐसा नहीं है कि ब्रह्म नहीं है—शंकराचार्य के शब्दों में 'न नास्ति ब्रह्म'[३], किन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि उससे सम्बन्धित अनुभूति को किस प्रकार किन शब्दों में अभिव्यक्त किया जाय। अभिव्यक्ति का आधार नाम हो सकता है अथवा प्रतीक रूप में उसे कहा जा सकता है। इन्द्रियों से परे जो ब्रह्मानुभूति है उसका बोध कराने के प्रयास में ब्रह्म विचार की उद्भावना हुई होगी। किसी भी एक स्थूल आकार व रूप से रहित वह परम शक्ति कण कण में व्याप्त होते हुए भी सर्वोपरि है। इसको आरम्भ में भारतीय मनीषा ने अनुभव किया और "ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिदम्"[४] या "ईशावास्यमिदं सर्वं"[५] आदि शब्दों में प्रकट किया है। निर्गुण और सगुण का वादविवाद इस तीसरे पक्ष के साथ ही है। फिर भी निश्चयात्मक रूप से यह कहना असंभव है कि निर्गुण और सगुण विचारधाराओं का उद्भव कहाँ, कैसे और किन किन शब्दों के माध्यम से हुआ। प्रागैतिहासिक काल से भारतीय दर्शन की प्रखर व अटूट विचार श्रृंखला मिलती है। निर्गुण और सगुण का 'भक्ति' के क्षेत्र में विकास बहुत बाद में हुआ होगा अन्यथा आरम्भ से ये दोनों शब्द 'दर्शन' के अन्तर्गत विचारणीय समझे जाते रहे हैं।

संहिता—वाङ्मय

ऋग्वेद में ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक ही ईश्वर को अनेक नामों से अभिहित किया गया है—

---

१. ए फ़ॉरिज़्म ऑव् कपिल, पुस्तक ५, सूत्र १०।
२. ए हिस्ट्री ऑव् इण्डियन फिलॉसफ़ी, दास गुप्ता, पृ० ४५।
३. तैत्तिरीय उपनिषद्, वल्ली २, अनुवाक ६, शांकर भाष्य, पृ० १५७।
४. ईशोवास्योपनिषद्, शान्ति पाठ।
५. वही, मन्त्र १।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

ऋ १।१६४।४६

अर्थात्—वह (परमेश्वर) एक है तथापि उसे मनीषियों ने इन्द्र, मित्र (सूर्य) वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान, यम, मातरिश्वा (वायु) इस प्रकार बहुत नामों से कहा है। और वाजसनेयी चिन्तक (वाजसनेय शाखा के अध्येता) भी ऐसा ही कहते हैं—

तद् यद् इदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवम्।
एतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः॥

जोकि एक एक देवता के प्रति 'इसे यजन करो' 'इसे यजन करो' ऐसा कहा है, वह इस (परमेश्वर) की ही विसृष्टि है निर्माण है, उसके रूप में सब देवता हैं।

इन उद्धरणों से सिद्ध होता है कि सर्वत्र भिन्न भिन्न रूप में अवस्थित एक ही देवता (परमेश्वर) का आह्वान किया जाता है।[1]

संहिताओं में ईश्वर की व्याख्या के सम्बन्ध में कीथ महोदय के अनुसार एक मंत्र से यह प्रकट होता है कि वैदिक ऋषि ने एक ही ईश्वर को इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि, सूर्य, यम तथा मातरिश्वा आदि अनेक नामों से विभूषित किया है।[2]

योगभाष्यकार ने एक श्रुति उद्धृत करते हुए बताया है कि प्रधान आत्मा का व्याख्यान करना ही श्रुति की वृत्ति है। "प्रधानस्यात्मख्यापनार्थाप्रवृत्तिरिति श्रुतिः"[3]

वस्तुतः वैदिक संहिताओं में ईश्वर के लिए अनेक वाचक शब्द हैं। 'आत्मा' के प्रयोग का सम्भवतः आधिक्य है। दूसरा प्रयुक्त वाचक शब्द 'पुरुष' है। कतिपय विद्वानों का विश्वास है कि ब्रह्म सम्बन्धी संहितान्तिर्गत श्रुतियाँ निर्गुण पुरुष का वर्णन करती हैं। वह 'अक्षरात्परतः परः' के रूप में कथित हुआ है। वह निर्गुण पुरुष ऐश्वर्य से विमुक्त है, उसे किसी भी विशेषण से विभूषित नहीं किया जा सकता।[4] यहाँ नकारात्मक वर्णन का रूप स्पष्ट है।

पंचदशीकार का कथन है कि वेद में प्रणव की जितनी भी उपासनाएँ हैं वे प्रायः सब की सब निर्गुण ही हैं। कहीं कहीं सगुणोपासना का भी आभास होता है।

---

१. हिंदी ऋग्वेद भाष्य भूमिका, जगन्नाथ पाठक, पृ० ३।

२. 'इट इज फ्रैंक्ली एक्स्प्रेस्ड ऐज रिगार्ड्स द गॉड्स इन वन वर्स 'दे कॉल इट् इन्द्र वरुण, मित्र, अग्नि, ऐण्ड द विन्गेड बर्ड (द सन्) : द वन् दे काल बाइ मेनी नेम्स, अग्नि, यम ऐण्ड मातरिश्वान्।"

रेलिजन एण्ड फ़िलॉसफी ऑव वेद, कीथ, वाल्यूम ३२, पृ० ४३५।

३. पातंजल योगसूत्र, भगीरथ मिश्र, 'दो शब्द'।

४. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास—प्रथम भाग, पृ० ४३१।

प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्गुण एव वेदगाः।
क्वचित् सगुणताप्युक्ता प्रणवोपासनस्य हि।"

श्लोक १४७।

वैदिक काल के आर्य इन्द्रादि देवताओं एवं प्रजापति हिरण्यगर्भ की उपासना करते थे, जो कि स्पष्ट ही सगुण उपासना के अन्तर्गत आती है। हिरण्यगर्भ देव ही कालक्रम से ब्रह्मा, विष्णु और शिव—इन तीन नामों से त्रिरूप में विभक्त हुए हैं। ब्रह्माण्ड के अधिपति प्रजापति हिरण्यगर्भ का एक अन्य नाम 'अक्षर आत्मा' है। वे ऐश्वर्य से सम्पन्न अतएव सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी हैं। 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।' इत्यादि ऋचा में उन्हीं की स्तुति हुई है।[1]

अध्ययन से प्रतीत होता है कि वैदिक काल में ही ब्रह्मज्ञान निर्गुण व सगुण दोनों रूपों में था। डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन नितान्त उपयुक्त है कि श्रुतियों के परिशीलन से यह स्पष्ट ही जान पड़ता है कि ऋषियों के मस्तिष्क में ब्रह्म के दो स्वरूप थे—

१. एक गुण, विशेषण, आकार और उपाधि-से परे निर्गुण, निर्विशेष निराकार और निरुपाधि।

२. दूसरा इन सब बातों से युक्त अर्थात् सगुण, सविशेष, साकार और सोपाधि।

निष्कर्ष यह कि आत्मज्ञान के साथ ही निर्गुण और सगुण दोनों विशेषणों का उद्भव हुआ। फिर भी इस विषय में बराबर मतभेद रहा है कि वेदों में ब्रह्म का निरूपण किस प्रणाली से किया गया। कुछ विद्वान् मानते हैं कि वेद बहुदेववाद को लेकर चले, कुछ अध्येता वेदों में सगुण उपासना का अस्तित्व सिद्ध करते हैं, कुछ एकेश्वरवाद का सबसे बड़ा प्रमाण वेदों को ठहराते हैं। उपर्युक्त विवेचन से पहला तथ्य जो सामने आता है वह यह है कि वैदिक ऋचाओं के अन्तर्गत मनुष्य से ऊँची किसी महती सत्ता पर निश्चित रूप से विश्वास रहा है।

इसके अतिरिक्त वैदिक सूक्त यह घोषित करते हैं कि मनुष्य का उस विराटसत्ता से कुछ सम्बन्ध है, और ऐसा सम्बन्ध है जहां वह अपनी आवश्यकता प्रकट कर सकता है, उस उच्च सत्ता के प्रति अपना आश्चर्य प्रकट कर सकता है, अपने अभावों की पूर्ति के लिए याचना कर सकता है, अपने ऐश्वर्य की निस्संकोच कामना कर सकता है। वैदिक स्तुतियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि उस समय के ऋषि को, द्रष्टा को यह विश्वास था कि ईश्वर का अस्तित्व है, मनुष्य की परिस्थिति का अस्तित्व है, तथा उसके चारों ओर विराट प्रकृति का अस्तित्व है। पर्जन्य, विद्युत, प्रभंजन, सूर्य इत्यादि नैसर्गिक शक्तियों में देवताओं की कल्पना सामान्य बुद्धि के लिए स्वभावतः ही सूझने के योग्य हैं। इसलिए प्रारम्भ में ऐसी कल्पना थी कि देवता अनेक हैं। प्राचीन आर्यों की सब शाखाओं में इस प्रकार के अनेक प्राकृतिक देवताओं की कल्पना पाई जाती है। परन्तु आगे चल कर जैसे जैसे मनुष्य की बुद्धि का विकास होता गया, वैसे वैसे अनेक देवताओं में सर्वशक्तिमान एकदेव या ईश्वर की कल्पना प्रस्थापित होती गयी। इस प्रकार प्राचीन काल के आर्यों ने अनेक देवता

---

१. पातंजल योगसूत्र, डा० भागीरथ मिश्र, 'दो शब्द'।

माने थे जैसे इन्द्र, वरुण, सूर्य, सोम आदि। परन्तु एक ईश्वर की कल्पना ऋग्वेद काल में हो चुकी थी, और उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित कर दिया था कि अन्य सब देवता उसी के स्वरूप हैं।

उपनिषद् :

उपनिषदों में ब्रह्म के सगुण व निर्गुण दोनों ही प्रकार के वर्णन पाये जाते हैं। 'श्वेताश्वेतरोपनिषद्' में ब्रह्म के लिए स्पष्ट रूप से निर्गुण शब्द का प्रयोग किया गया है:—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।[१]

यह आत्मतत्व सहज ही समझ में आ जाए ऐसा नहीं है। 'न एषः सुविज्ञेय :'[२] कारण यह है कि वह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु से भी अधिक सूक्ष्म है, तर्क से अतीत है, इस विषय में मनुष्य का प्रवेश नहीं होता—'गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमनुप्रमाणात्।'[३] किन्तु फिर भी भारतीय मनीषा ने उस ऐसे दुर्लभ आत्मज्ञान के विषय में प्रवेश करने का प्रयत्न छोड़ा नहीं। नचिकेता यम संवाद में हमें अनेक ऐसे मंत्र मिलते हैं जिनमें सच्ची अनुभूति के साथ ऐसे ही सूक्ष्म ब्रह्म के वर्णन हैं। उदाहरणस्वरूप इस प्रकार के कथन उपलब्ध होते हैं कि आत्मतत्व अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु से भी सूक्ष्म है, वह सनातन है[४], वह कठिनता से देखे जाने के योग्य है,[५] वह तर्क द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है।[६] मनुष्य जब इस आत्म तत्व को जान लेता है तब वह हर्ष शोक से रहित हो जाता है।[७] वह 'महान्तं विभुमात्मानं' अस्थिर शरीर में, शरीररहित एवं अविचल भाव से स्थित है।[८] किन्तु

---

१. श्वेताश्वेतरोपनिषद्, ६, ११।

२. कठोपनिषद्, अध्याय' १, वल्ली २, श्लोक ८।

३. वही।

४. नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।
   उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते।।१६।। कठोपनिषद्।

५. तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
   अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।।१२।। कठोपनिषद्।

६. नैषा तर्केण मतिरापनेया
   प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
   यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
   त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा।।९।। कठोपनिषद्।

७. वही, श्लोक १२।

८. अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
   महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।।२२।। कठोपनिषद्।

वह ब्रह्म जहाँ जैसा है, यह ठीक ठीक कौन जानता है।[1] वह ब्रह्म शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित, गन्धरहित, विनाशरहित, नित्य, अनादि, अनन्त, सर्वथा सत्य है।[2]

उपर्युक्त कथनों के आधार पर निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि उपनिषदों में ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूपों के वर्णन उपलब्ध होते हैं। परन्तु उपनिषदों का झुकाव निर्गुण ब्रह्म की ओर अधिक है।

श्रीमद्भगवद्गीता :

गीता में ब्रह्म के सगुणत्व का निर्गुणत्व की अपेक्षा अधिक निश्चित प्रतिपादन मिलता है। वैसे तो गीता में अनेक विशेषण मिलते हैं जो निर्गुण सगुण दोनों की पुष्टि करते हैं। जैसे 'कविम्, पुराणम्, अनुशासितारम्, अचिन्त्यरूपम्, आदित्यवर्णम्,'[3] आदि। अध्याय १३, श्लोक ३१ में ब्रह्म का एक विशेषण सीधे निर्गुण शब्द ही है।[4] ब्रह्मा को अव्यक्त बताकर ब्रह्म को उस अव्यक्त से भी परे कहा गया है।[5] वह अजम्, अव्ययम्, अनादिम्, अक्षरम्, अविनश्यन्तम्[6] है। उपर्युक्त प्रकार के कथन ब्रह्म के निर्गुण रूप की परिभाषा के अन्तर्गत ही आएंगे। लेकिन 'सर्वभूतानाम् सनातनम् बीजम्'[7] या 'उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु'[8] या 'सर्वस्य

---

१. यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥२५॥
कठोपनिषद्, अध्याय १, वल्ली २।

२. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥१५॥ कठोपनिषद्।

३. कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥९॥
गीता, अध्याय ८।

४. अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥३१॥ गीता, अध्याय १३।

५. श्रीमद्भगवद्गीता—अध्याय ८, श्लोक सं० २०।

६. वही, अध्याय २, श्लोक सं० २१।
वही, अध्याय १०, श्लोक सं० ३।
वही, अध्याय ८, श्लोक सं० ३, ११।
वही, अध्याय १३, श्लोक सं० २७।

७. बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥१०॥ वही, अध्याय ७।

८. न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥९॥ वही, अध्याय ९।

प्रभवः'[1] जैसे कथन उसके सगुण रूप के द्योतक हैं। एक ओर कृष्ण यह कहते हैं—'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'[2] तो दूसरी ओर 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया'[3] भी कह देते हैं। एक स्थल पर तो बिल्कुल ही सगुण स्वरूप की पुष्टि होती है जब कृष्ण कहते हैं कि 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।'[4]

इस प्रकार गीता में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप के साथ सगुण रूप को बड़ी सूक्ष्मता के साथ स्पष्ट किया गया है, साथ ही गीता में ईश्वर के वर्णन कुछ इस प्रणाली से किए गए हैं कि अलौकिक सत्ता के एक विराट् गरिमापूर्ण व्यक्तित्व की भावना के प्रति अनायास विश्वास उत्पन्न हो जाता है।

सांख्यसूत्र :

सांख्यसूत्रों में ईश्वर के सगुण रूप की चर्चा बिल्कुल नहीं है। प्रमाण के अभाव में कपिल ने ईश्वर की सत्ता को ही नहीं स्वीकार किया। 'प्रमाणाभावद्नतत्सिद्धिः।'[5] कपिल की मुख्य बात यही थी कि प्रमाण के अभाव में ईश्वर को किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। परवर्ती शास्त्र-कारों ने इस निष्कर्ष को तर्क से काटा। शंकराचार्य ने कहा 'अथ च ब्रह्म' क्योंकिऐसा आभास-नहीं होता कि हमारा अस्तित्व नहीं है। भागवतकार ने कहा कि 'सत्वं रजस्तम इतित्रिवृदेक मादौ' और यह कि प्रमाण के न मिलने से यह न कहना चाहिए कि ब्रह्म है ही नहीं।[6] इस प्रकार कपिल को निरीश्वरवादी मान लिया गया। उनके सिद्धान्तों में पुरुष सम्बन्धी कल्पना जगत्सृष्टिकर्ता परमेश्वर की कल्पना से भिन्न है। "उनके मत से प्रकृति जड़ जगत है, जो पुरुष के सान्निध्य से अपने स्वभाव से ही सृष्टि उत्पन्न करती है।"[7]

परन्तु विशेष बात यह है कि कपिल ने आत्मा की सत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। कपिल ने आत्मा को सर्वोपरि ठहराया और अन्त में आत्मा को 'निर्गुण' विशेषण से विभूषित किया।

---

१. अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥८॥
वही, अध्याय १०।
२. वही, अध्याय ७, श्लोक सं० २५।
३. वही, अध्याय ४, श्लोक सं० ६।
४. वही, अध्याय ९, श्लोक सं० २६।
५. एफ़ॉरिज़्म आँव कपिल, पुस्तक ५, १०।
६. सत्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ सूत्रं महानहमिति प्रवदंति जीवम्।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोःपरं यत्।३७।
श्रीमद्भागवत्, एकादश स्कन्ध, अध्याय ३।
७. महाभारत मीमांसा, धर्म, सोलहवाँ प्रकरण, तत्वज्ञान, परमेश्वर, पृ० ४८३।

योगसूत्र :

पतंजलि के योगसूत्र में ईश्वरसम्बन्धी कुछ सूत्र हैं। एक सूत्र को ईश्वर की परिभाषा कहना अनुपयुक्त न होगा—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'[1] क्लेशकर्म-विपाक और आशय से अपरामृष्ट (तात्पर्य अस्पृष्ट वा असंयुक्त से है) पुरुष विशेष ही ईश्वर है। आगे टीकाकार और भी स्पष्ट करते हुए कहता है—जिस पुरुष में ऐश्वर्य की पराकाष्ठा हो चुकी है, वह भी ईश्वर है। जिसका ऐश्वर्य साम्यातिशून्य है वे ही ईश्वर हैं, और वे ही पुरुषविशेष हैं। इस परिभाषा में वही प्रणाली अपनाई गई है कि ईश्वर में क्या नहीं है, अर्थात् यह परिभाषा प्रत्यक्ष रूप से नकारात्मक है। योगसूत्र में ईश्वर की जो व्याख्या की गयी है उसमें उनके गुणों का वर्णन नहीं है। निष्कर्ष यह है कि योगसूत्रकार ने प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर को निर्गुण ही माना है।

पुराण :

भगवद्गीता में जिस सगुण ब्रह्म की ओर संकेत था उसका विकास पुराणों में हुआ। भागवत पुराण का मध्ययुग के हिन्दी भक्तिकाव्य पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। भागवतकार इस बात को मानकर चला है कि ब्रह्म के दो स्वरूप हैं—निर्गुण और सगुण। निर्गुण और गुणपति का अनेक स्थलों पर स्तुति रूप में एक साथ प्रयोग है—

नमस्तुभ्यमनंताय दुर्वितर्क्यात्मकर्मणे।
निर्गुणाय गुणेशाय सत्त्वस्थाय च सांप्रतम्॥५०॥[2]

एक स्थल पर भागवतकार ने इस प्रकार कहा है कि गुणमय प्रपंच में निर्गुण आत्मा सुशोभित है।[3] एक अन्य श्लोक में इस प्रकार का कथन मिलता है कि वह अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण और गुणों के नियन्ता भगवान, मनुष्य के कल्याण के लिए प्रकट होते हैं।[4] भागवत में श्रीकृष्ण स्वयं अपने को दीपक की भांति साक्षी स्वरूप कहते हैं।[5] भगवान को तीनों गुणों का नाथ बताकर तीनों गुणों से परे कहा गया है।[6] ईश्वर की लीला को दुर्गम[7] कह कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि सगुण और निर्गुण रूप में अविरोध है।[8]

---

१. पातंजल योगसूत्र, सूत्र १०।
२. श्रीमद्भागवत, अष्टम् स्कन्ध, अध्याय ५।
३. वही, दशम् स्कन्ध, अध्याय २०, श्लोक सं० १८।
४. नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥१४॥ वही, वही, अध्याय २९।
५. वही, वही, अध्याय ६०, श्लोक सं० २०।
६. वही, षष्ठस्कन्ध, अध्याय ९, श्लोक सं० ३२।
७. वही, षष्ठस्कन्ध, अध्याय ९, श्लोक सं० ३४।
८. वही, षष्ठस्कन्ध, अध्याय ९, श्लोक सं० ३६।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में इस प्रकार का कथन है कि आप ही निर्गुण और निराकार हैं और आप ही सगुण हैं। आप ही साक्षी रूप हैं निर्लिप्त हैं और परमात्मा हैं। प्रकृति और पुरुष के आप ही कारण है।[१]

विष्णु पुराण में निर्गुण भक्ति को अगम और सगुण भक्ति को सुगम बताते हुए सगुण भक्ति का ही विधान बताया गया है। भगवान के स्थूल और सूक्ष्म दो रूप हैं लेकिन योगाभ्यासीजन पहले पहल उस रूप का (अमूर्त) चिन्तन नहीं कर सकते अतः उन्हें श्री हरि के विश्व रूप का ही चिन्तन करना चाहिए —

> न तद्योगयुजा शक्यं नृप चिन्तयितुं यतः।
> ततः स्थूलं हरे रूपं चिन्तयेद्विश्वगोचरम्।।[२]

रामानुज तथा परवर्ती अन्य आचार्य :

शंकराचार्य ने ब्रह्म की सत्ता मानते हुए उसके समस्त गुणों का खण्डन किया था। शंकराचार्य का कथन था कि ब्रह्म की एकमात्र सत्ता अवश्य है—'न नास्ति ब्रह्म। कस्मादाकाशादि हि सर्वं कार्यं ब्रह्मणो जातं ग्रह्यते।' ब्रह्म नहीं है, ऐसी बात नहीं है। क्यों नहीं है ? क्योंकि ब्रह्म से उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण कार्यवर्ग देखने में आता है।[३] परन्तु शंकराचार्य ने ब्रह्म के समस्तगुणों का खंडन किया। जहां शंकराचार्य ने प्राकृत अप्राकृत समस्त गुणों का ब्रह्म में अभाव बताया वहां रामानुज ने कहा कि वह प्राकृत गुणों से रहित है। रामानुज और शंकराचार्य में दो शताब्दियों का अन्तर समझा जाता है फिर भी दोनों का नाम एक क्रम से रख दिया जाता है। इसका कारण यह है कि शंकराचार्य ने जब तर्कसहित ब्रह्म के समस्त गुणराहित्य की स्थापना की तब उनके बाद रामानुज ही ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने तर्क सहित ब्रह्म में अप्राकृत गुणों का समावेश सिद्ध किया। रामानुज ने कहा कि निष्कलम् निरंजनम् इत्यादि गुणनिषेधक वचन हेयगुणों का निषेध करते हैं।[४] सत्यकामादि वाक्य समस्त कल्याण गुणों का प्रतिपादन करते हैं। रामानुज के द्वारा कथित इस प्रकार के वाक्य प्राप्त हैं—'वह' जो अदृश्यता आदि गुणों से युक्त है।[५] एक स्थल पर ही नहीं, अनेक स्थलों पर रामानुज ने ऐसा कहा है कि ब्रह्म कल्याणकारी गुणों से परिपूर्ण है। श्रुतियों के 'नेति नेति' को समझाते हुए रामानुज कहते हैं कि जितना उसको कहा गया है उतना ही वह नहीं है। ब्रह्म सत् चित्त आनन्द इन तीनों गुणों से युक्त है। वह 'विष्णु' रूप में है।

---

१. ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, कृष्ण जन्म खण्ड, १, ३६, ३७।
२. विष्णुपुराण, ६, ७, ५५।
३. तैत्तिरीय उपनिषद्, वल्ली २, अध्याय ६, शांकरभाष्य।
४. सर्व दर्शन संग्रह, मध्वाचार्य, रामानुज दर्शनम्. पृ० १०६, २९।
५. वेदान्तसार, भगवद् रामानुज, अधिकरण १, प्रथमाध्याये, द्वितीय पादः, पृ० ७४।

इस प्रकार निर्गुण स्वरूप को स्वीकार करते हुए भी सगुण स्वरूप की साधार और सतर्क स्थापना करने वाले पहले आचार्य रामानुज थे। रामानुज के बाद मध्व, निम्बार्क, रामानन्द, वल्लभ आदि सभी आचार्यों ने सगुण ब्रह्म के स्वरूपों का यत्किंचित भेद के साथ विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

दशश्लोकी की टीका वेदान्तरत्नमंजूषा में पुरुषोत्तमाचार्य ने कहा है कि निम्बार्क को ब्रह्म का निर्गुण रूप इसलिए नहीं मान्य है कि वह ज्ञान की परिधि के बाहर है। 'कौस्तुभ' में निम्बार्क ने यही कहा कि 'उस ब्रह्म के शरीर अवश्य है नहीं तो उपासना किसकी होती, साधना चिंतन किसके लिए किया जाता।[1] प्रमाण के लिए उन्होंने छान्दोग्य उपनिषद् से उदाहरण दिया। ऋषि द्रष्टा थे—ऋषियों द्वारा वह ब्रह्म देखा गया यह बात उसके स्वरूप है, ऐसा सिद्ध करती है।[2] भगवान के स्वरूप के दो भेद निम्बार्क ने माने व्यूह और अवतार। व्यूह मेंवासुदेव को सर्वश्रेष्ठ ठहराया है।[3]

रामानन्द और साकारोपासना :

रामानुज के समय से उपासना और भक्ति पर आचार्यों ने अधिक बल दिया। ब्रह्म के निर्गुण सगुण रूप की व्याख्या करना उनका ध्येय नहीं था। निर्गुण ब्रह्म को मानते हुए ब्रह्म के सगुण स्वरूप के किसी विशेष रूप को लेकर उसकी उपासना करना इन आचार्यों का इष्ट था। रामानन्द रामानुज की परम्परा में माने जाते हैं। उन्होंने तत्ववाद की अधिक व्याख्या न करके राम की भक्ति का प्रचार किया। परवर्ती आचार्यों का आपसी मतभेद इस बात को लेकर नहीं था कि भगवान् निर्गुण हैं कि सगुण, वरन् इस बात को लेकर था कि वह सगुण किस प्रकार का है। सगुण के ही अनेक स्वरूपों के विषय को लेकर मध्ययुगीन आचार्यों में अधिक मत-विभेद रहा। स्पष्ट है कि निर्गुण भावना के साथ साकार स्वरूपयुक्त सगुण भावना को बाद के आचार्य स्वीकार करके चले। रामानुज ने विष्णु नाम से ब्रह्म को अभिहित कर वासुदेव को षडैश्वर्यगुणों से युक्त प्रथम व्यूह मान 'लक्ष्मी-नारायण' की उपासना का प्रचार किया था। रामानन्द ने 'राम' को जो कि ब्रह्म के एक सगुण अवतार के रूप में स्वीकार्य है, परमइष्ट के रूप में ग्रहण किया। निम्बार्क की परम्परा में कृष्ण की उपासना का प्रचलन हुआ।

आगे चल कर १६वीं सदी में वल्लभाचार्य ने ईश्वर को विरुद्ध धर्मों का आगार कहा।[4] 'अणुभाष्य' में वल्लभाचार्य ने ब्रह्म की सैद्धान्तिक व्याख्या की, किन्तु उनका परम लक्ष्य कृष्ण की भक्ति का प्रचार था। वल्लभाचार्य ने ईश्वर के विरुद्ध धर्मत्व को समझाते हुए अपने 'तत्वदीप-निबन्ध' में कहा है कि ,वह निर्गुण होते हुए भी सगुण है, जो निधर्मक है वही सधर्मक भी है। जो

---

१. **निम्बार्क स्कूल ऑव वेदान्त, डा० उमेश मिश्र (कौस्तुभ—१, !, २१), पृ० २९।**
२. **वही, वही, (छान्दोग्य ८, ७, ४), पृ० २९।**
३. **वही, वही, पृ० ३२।**
४. **अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डा० दीनदयाल गुप्त, भाग २, पृ० ३९९।**

ब्रह्म मन और वाणी से परे है वही योग से, ध्यान से, शुद्ध भाव से तथा अपनी इच्छा मात्र से गम्य और गोचर हो जाता है। शुद्ध ब्रह्म के प्राकृत शरीर और गुण नहीं है वह सर्व निर्दोष (अप्राकृत) गुणों से युक्त है।[१]

ब्रह्म निर्गुण है या सगुण यह रोचक विषय आरम्भ से लेकर अब तक दार्शनिकों के विचार का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ, इन प्रसिद्ध आचार्यों के अतिरिक्त भी ऐसे अनेक विद्वान् हुए जिन्होंने ब्रह्म के निर्गुणत्व एवं सगुणत्व सम्बन्धी सुन्दर तर्क दिए। अठरहवीं शताब्दी में बलदेव ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहते हैं कि 'श्रुति के द्वारा सिद्ध है कि निर्गुण ब्रह्म जगत का कर्ता है, सगुण नहीं।[२] तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को लेकर भारतीय साहित्य के आदिकाल से लेकर विचार होना प्रारम्भ हुआ और इस साहित्य के विकास के साथ ही ये दोनों विचारधारायें भी क्रमशः विकसित होती गईं।

(ख) निर्गुण और सगण विचारधाराओं में तात्विक विभेद

संसार में जो कुछ दृश्यमान है उसका आदि स्रोत एक ही सत्य है। निर्गुण और सगुण दोनों ही भावनाओं का उद्गम उस एक 'सत्य' की अनुभूति के पश्चात ही हुआ। जैसा कि आरम्भ में संकेत किया जा चुका है कि निर्गुण और सगुण का प्रश्न उस समय उठा जब उस अलौकिक अनुभूति के अभिव्यक्तीकरण की समस्या सामने आई। अर्थात् इस अभिव्यक्तीकरण की विविध क्षेत्रीय बहुरूपता इस सत्य की कोटियाँ निर्धारित करने में कारणभूत हुई। अतः निर्गुण और सगुण विचारधाराओं के तात्विक विभेद की समीक्षा करते समय दृष्टि इस तथ्य पर रखनी है कि निर्गुण और सगुण के निरूपण और विश्लेषण का क्या रूप रहा है। दोनों विचारधाराओं के तात्विक विभेदों को समझने के लिए आरम्भ में दोनों के पृथक तत्वों को हृदयंगम करना आवश्यक है।

निर्गुण विचारधारा के मुख्य तत्व :

सर्वप्रथम यदि निर्गुण विचारधारा के तत्वों पर दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होता है कि ब्रह्म को निर्गुण कहने के साथ ही उस के व्यापकत्व पर सर्वाधिक बल दिया गया है। परन्तु इस व्यापकत्व को निर्गुण सिद्ध करने के लिए इस प्रकार के वर्णन किए गए उपलब्ध होते हैं कि वह निर्गुण ब्रह्म विश्व में पूर्ण रूप से व्याप्त होने पर भी पूर्ण रूप से उसके परे है। एक बहुत प्रसिद्ध श्लोक इसके उदाहरण स्वरूप उद्धृत किया जा सकता है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥[३]

---

१. वही, वही, वही।
२. वेदान्त पारिजात सौरभ, भाग २, पृ० ५२।
३. बृहदारण्यकोपनिषद्, २, ५, १९।

ऐसा भी सम्भव है कि उपर्युक्त विचारधारा के मूल उद्‌गम के रूप में यही श्लोक रहा हो।

निर्गुण विचारधारा का दूसरा मुख्य तत्व यह है कि यद्यपि उस निर्गुण ब्रह्म तक दर्शन की शास्त्र रूप में पहुंच नहीं, फिर भी उसका साक्षात्कार संभव है। वह निर्गुण ब्रह्म अनुभूति के माध्यम से द्रष्टव्य है।[१] साधक उस निर्गुण ब्रह्म का अपने अन्तःकरण में साक्षात्कार कर सकता है। अनेक उद्धरण इस बात के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जैसे—"तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः।"[२] अथवा "ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः"[३] अथवा "दृश्यते त्वग्रय्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।"[४]

निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार का, उसके दृश्यमान होने का जब प्रश्न उठता है तो उससे संबंधित दूसरा तथ्य उभरता है कि साक्षात्कार किसके हृदय में होता है, अतः साधक का अपरोक्ष रूप से महत्व है। जब साधक उस निर्गुण ब्रह्म को उपलब्ध करने के हेतु साधना के क्षेत्र में अग्रसर होता है उस समय वह देखता है कि परमात्मा की अनंत शक्ति उसका एक गौण लक्षण है। परमेश्वर जो विश्व का कर्ता, धर्त्ता नियन्ता, शासक और अधिपति ही नहीं, व्यापक तत्व भी है, वह घट घट में, कण कण में, अणु परमाणु में व्याप्त है, वही एकमात्र हमारे अन्दर सार वस्तु है। कबीरदास कहते हैं कि 'कबीर का स्वामी रह्या समाई'। दादू इस तथ्य को प्रकट करते हैं कि वह व्याप्ति इतनी गहन है कि व्यापक और व्याप्त में कोई अन्तर नहीं रह जाता। अतः वास्तविकता यह है कि निर्गुण मार्ग का साधक जब उस सत्य की उपलब्धि कर लेता है तब उस व्यापक और व्याप्त में वह स्वयं ही घुल जाता है। उसका पृथक अस्तित्व नहीं रह जाता है। वह जीवन्मुक्त की स्थिति प्राप्त कर लेता है।

जीवन्मुक्त की स्थिति प्राप्त करने के अनन्तर यदि साधक अभिव्यक्ति का प्रयास करता है तो वह अपने को असमर्थ सा पाता है। अधिकतर स्थिति यह होती है कि संसार में स्थित जीवन्मुक्त साधक आनन्दानुभूति से उद्वेलित होकर बारम्बार यही प्रकट करता है कि वह निर्गुण ब्रह्म अभिव्यक्ति के परे है। परन्तु हिन्दी साहित्य में निर्गुण विचारधारा का अस्तित्व यह घोषित करता है कि उस निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति के अभिव्यक्तीकरण के प्रयास कितने सूक्ष्म और सुन्दर होंगे। उस ब्रह्मानुभूति को जो अभिव्यक्ति से अतीत है, अभिव्यक्त करने का प्रयास साधकों ने बार बार किया। परन्तु साथ ही यह भी सच्चाई है कि प्रत्येक अभिव्यक्ति के साथ साथ इस अनुभव की भी अभिव्यक्ति है कि परमात्मा के विषय में कितना भी कह डालिए फिर भी बहुत कुछ कहने को रह जाता है। कबीर ने इसी से विवश होकर सम्भवतः यह कह दिया कि परमात्मा कुछ है भी, या सब शून्य ही है—"तहां किछ आह कि सुन्यं।"[५]

---

१. ब्रह्म सूत्र, अधिकरण २, सूत्र २।
२. मुण्डकोपनिषद्, मुण्डक, २, खण्ड २, श्लोक ७।
३. वही, वही ३, खण्ड १, श्लोक ८।
४. कठोपनिषद्, अध्याय १, वल्ली ३, श्लोक १२।
५. कबीर ग्रंथावली, पृ० १४३, पद १६४।

महत्वपूर्ण बात यह है कि निर्गुण विचारधारा के अन्तर्गत निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है इस सम्बन्ध में बड़ी तथ्यपूर्ण उक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। कारण सम्भवतः यह था कि सन्त एवं द्रष्टा ने जब साध्य का यथातथ्य वर्णन करने में अपने को असफल पाया तब उस साध्य के दर्शन अथवा मार्ग अथवा साधना सम्बन्धी उल्लेख करके अपने को किंचित सन्तुष्ट किया। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति अथवा उसका दर्शन करने के हेतु साधना किस प्रकार की जाय इस सम्बन्ध में बड़े स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होते हैं। ईश्वर को पाने के लिए पहली और अन्तिम बात है आत्मसमर्पण। सम्पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण ब्रह्मानुभूति के लिए सबसे अधिक आवश्यक है।

साधना के क्षेत्र में दूसरी बात ध्यान रखने की यह है कि कहीं किसी प्रकार की रूढ़ियों पर न विश्वास हो जाय। रूढ़ियाँ धार्मिक, शास्त्रीय अथवा सामाजिक हो सकती हैं। रूढ़ियों पर श्रद्धा रखने वाला साधक किस प्रकार सफल हो सकता है। निर्गुण विचारधारा में प्रत्येक प्रकार की रूढ़ि एवं जर्जरित मान्यता का खंडन किया गया है।

निर्गुण विचारधारा में साधना के मार्ग में तीसरी जिस बात पर बल दिया गया वह है गुरू का महत्व। साधक को अपने मार्ग पर उचित रूप से आगे बढ़ते रहने के लिए निरन्तर गुरु का सहारा लेना पड़ता है। इस विचारधारा में गुरु का स्थान कहीं कहीं इतना बड़ा ठहराया गया कि उस चरम लक्ष्य ब्रह्म और उसकी अनुभूति के अलौकिक आनन्द से भी गुरु को महान कहा गया। गुरु इतना सामर्थ्यपूर्ण होता है कि उसे मनुष्य से देवता बना देने में विलम्ब नहीं लगता।[१] गुरु अन्तर्दृष्टि को उघाड़ कर अनंत का दर्शन करा देता है।[२] सतगुरु प्रीति के साथ हृदय को शब्दज्ञान के वाण से बिद्ध कर देता है।[३] वास्तविक ज्ञान को हस्तामलकवत् बना कर शिष्य के मार्ग को प्रकाशित कर देता है।[४] ईश्वर की कृपा से ही ज्ञान को प्रकाशित करनेवाला गुरु मिलता है, उसका विस्मरण नहीं करना है।[५] जिसको गुरु नहीं मिलता उसकी शिक्षा अधूरी रह जाती है।[६] गुरु प्रेम के रसवर्णन से पहले आत्मा को सरस व पल्लवित कर देता है।[७] उस पूर्ण से परिचय करा के आत्मा को निर्मल कर देता है।[८] घट घट में एक ही ईश्वर व्याप्त है वह तभी प्रकट होता है जब गुरु मिलते हैं।[९] इसीलिए जहां गुरू चरण रखे वहां साधक को अपना शीश रखना उचित

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० १, दोहा सं० २।
२. वही, पृष्ठ १, दोहा सं० ३।
३. वही, पृष्ठ १, दोहा सं० ६, ७।
४. वही, पृष्ठ २, दोहा सं० ११।
५. वही, पृष्ठ २, दोहा सं० १३।
६. कबीर ग्रंथावली, पृ० ३, दोहा सं० २७।
७. वही, पृष्ठ ४, दोहा सं० ३४।
८. वही, पृष्ठ ४, दोहा सं० ३५।
९. संत काव्य, पृ० २७६, गुरुनानक, पद सं० ६।

है।[१] जब तक गुरु मन को नहीं सिखाता तब तक केवल बातें करने से कुछ भी सारतत्व हाथ नहीं आता।[२]

चौथी बात यह कि निर्गुण ब्रह्म को पाने के लिए ईश्वर नाम का सहारा लेना पड़ता है। बिल्कुल निराधार रहकर साधक ब्रह्म की अनुभूति को पाने के लिए किस प्रकार प्रयास कर सकता है। यद्यपि ऊपर से देखने पर यह बात असंगत सी ज्ञात होती है कि जो निर्गुण ब्रह्म नामातीत है उसके लिए नाम का सहारा लिया जाय। परन्तु तथ्य यही है कि निर्गुण ब्रह्म के विचारकों ने उस नामातीत को पाने के लिए 'नामस्मरण' पर भरपूर बल दिया है। निर्गुण विचारधारा में जहां एक ओर आकार, रूप, रंग, रूढ़ि, पूजा पाठ सबका पूर्ण रूप से तिरस्कार है वहाँ—'नाम स्मरण' को बहुत श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। निर्गुण विचारधारा में यदि कहीं स्थूलता है तो वह इस 'नामस्मरण' के आधार तक ही सीमित है। यद्यपि यह निश्चय है कि एक निर्गुणमार्गी साधक उस आनन्दानुभूति को जब प्राप्त कर लेता है तब उसे नाम की किंचित मात्र भी आवश्यकता नहीं रह जाती।

जैसा कि ऊपर कहा गया निर्गुण विचारधारा की समस्त स्थूलता नाम स्मरण तक ही सीमित रही। नाम स्मरण के अलावा अन्य किसी भी साकार अथवा सगुण रूप पर उस विचारधारा में प्रत्यक्ष रूप से अविश्वास प्रकट किया गया है। मूर्ति तथा अवतारों का तो स्पष्ट खंडन किया गया है।

प्रस्थानत्रयी अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता में ब्रह्म के परोक्ष व अपरोक्ष और सगुण स्वरूपों पर भी यद्यपि विचार किया गया है परन्तु अन्ततः ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण बताया गया है। निर्गुण विचारधारा के सन्तों ने समस्त साहित्य के प्रति अश्रद्धा प्रकट की है। इस धारा के सन्तों को अपनी साधना पर इतना विश्वास था कि निर्गुण भावना के पोषक साहित्य की भी उन्होंने अवहेलना कर दी। भारतवर्ष के दार्शनिक ग्रन्थों में अति प्राचीन काल से ब्रह्म के विषय पर विचार किया गया था, परन्तु मध्ययुगीन संतों ने, जिनके कारण निर्गुण विचारधारा उभर कर सामने आई, इनका भी सहारा नहीं लिया। उनके पास सहारा था अपनी अनुभूति का, अपनी साधना का और अपने गुरु की वाणी का।

उपयुक्त सभी तत्वों का निष्कर्ष यह है कि निर्गुण विचारधारा को माननेवाला साधक पूर्ण रूप से अंतर्मुख होकर अग्रसर होता है। अन्तिम स्थिति पर ब्रह्मानन्द को पा लेने के अनन्तर अभिव्यक्ति का रूप देने के लिए उसे किसी माध्यम की आवश्यकता होती है। वह उसे प्रतीकों के द्वारा प्रकट करने का प्रयास करता है। प्रतीक साकार स्थूल न लेकर अपेक्षाकृत सूक्ष्म लिया जाता है। जैसे पुष्प की गंध, या पत्नी का पति के प्रति प्रेम, या बादल में बिजली की कौंध, या अग्नि की ऊष्मता आदि।

---

१. जायसी ग्रंथावली, पं० रामचन्द्र शुक्ल, बोहित खंड, पृ० ६२, दोहा सं० २।

२. चित्रावली, उसमान, श्री जगन्मोहन वर्मा, पृ० १०, पंक्ति सं० १३।

सगुण विचारधारा के मुख्य तत्व :

जिस प्रकार निर्गुण विचारधारा के मुख्य तत्वों का अत्यन्त संक्षे
गया, उसी प्रकार सगुण विचारधारा के भी मुख्य तत्वों को अत्यन्त संक्षे
श्यक है।

निर्गुण विचारधारा में ब्रह्म के प्राकृत अप्राकृत सभी गुणों को अस्वीकार कर दिया गया है। सगुण विचारधारा में ब्रह्म के अप्राकृत गुणों की स्वीकृति है। सगुण विचारधारा में ऐसी मान्यता रही है कि ईश्वर सत् रज तम से उद्भूत प्राकृत गुणों से रहित है किन्तु सत् चित् आनन्दोद्भूत अप्राकृत गुणों से युक्त है।

अप्राकृत गुणों को स्वीकार करते हुए सगुण विचारधारा के अनुसार ईश्वर के गुण अनन्त हैं, असंख्य हैं, लौकिक वाणी द्वारा उन असीमित गुणों का आख्यान असंभव है।

सगुण विचारधारा के अन्तर्गत दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है, ईश्वर का ऐश्वर्य और उसकी लीला। ईश्वर के ऐश्वर्य से अभिभूत सगुण विचारधारा का साधक उसकी अखण्ड लीला में अपने को भुला देना चाहता है। उस ईश्वर की लीला का वह अनेक प्रकार से विस्तार करता है परन्तु फिर भी उस लीला का, उस अनन्त ऐश्वर्य का कहीं आदि अन्त नहीं प्राप्त कर पाता। अपनी अकिंचनता पर विवश होकर वह विमूढ़ भाव से ईश्वर के ऐश्वर्य के समक्ष नतमस्तक हो जाता है।

सगुण विचारधारा में सगुण रूप का महत्व बताते हुए सबसे अधिक बल इस बात पर है कि क्योंकि निर्गुण रूप की उपासना बहुत कठिन है इसलिए उपासना के हेतु सगुण ईश्वर का आलम्बन भक्त के लिए अत्यधिक कल्याणकारी है।

सगुण विचारधारा में आत्मसमर्पण एवं दैन्य भावना पर अत्यधिक बल दिया गया। 'तदर्पिताखिलाचारिता',[1] सब कर्मों को भगवान के अर्पण कर देने की आवश्यकता है। जो भक्त अपने आपको तथा अपने से सम्बन्धित लौकिक एवं वैदिक सब प्रकार के कर्मों को भगवान के अर्पण कर देता है[2] उसी में वास्तविक समर्पण का भाव है। 'तदर्पिताखिलाचारिता' का भाव तभी संपूर्ण होता है जब काम क्रोध अभिमानादि भी ईश्वर के प्रति समर्पित हों।[3] इस अतीव समर्पण भाव की पुष्टि के लिए गोपियों का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता

---

१. **नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारितातद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥१९॥ नारद भक्ति सूत्र, पृ० २५।**

२. **लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात् ॥६१॥ वही, पृ० १०५।**

३. **तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥६५॥ वही, पृ० १११।**

है ।[1] कारण यह है कि ईश्वर को स्पष्ट ही अभिमान से द्वेष भाव है, दैन्य से ही प्रिय भाव है ।[2]

पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण को वैष्णव आचार्यों ने अपनी शास्त्रीय विवेचना के अन्तर्गत 'प्रपति' की संज्ञा से अभिभूषित किया ।[3]

सगुण विचारधारा में भी गुरु का स्थान बहुत महत्वपूर्ण माना गया। गुरु के आधार के फलस्वरूप ही उपासक अपने मार्ग पर उचित दिशा में अग्रसर हो सकता है। गुरु के आधार के अभाव में ब्रह्मा और शिव के सदृश होने पर भी भवनिधि का संतरण करना असम्भव है।[4]

अन्तिम तत्व यह कि ईशोपासना के अनेक मार्ग है। पूजा, अर्चन, आरती, सभी सगुण विचारधारा में स्वीकार हैं, किन्तु उपासना का सर्वश्रेष्ठ रूप नामजप है। नामजप से, कलुष-कर्मों के कारण फलोद्भूत अन्धकार विलीन हो जाता है।[5] नाम का आधार लेकर मनुष्य काल की

---

१. यथा व्रजगोपिकानाम् ॥२१॥ वही, पृ० २८।

२. ईश्वरस्याभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च ॥२७॥ वही, पृ० ४२।

३. वैष्णव आचार्यों ने प्रपत्ति पर अधिक बल दिया है और इसका शास्त्रीय विवेचन भी प्रस्तुत किया है। ईश्वर के सम्मुख सर्वभावेन आत्मसमर्पण कर देना ही प्रपत्ति है। इस प्रपत्ति अथवा शरणागति के छः भेद कहे गए हैं। इस प्रपत्ति को कायिकी, वाचिकी एवं मानसी के रूप में विभक्त कर पुनः इन तीनों के सात्विकी, राजसी, तामसी के आधार पर, तीन तीन भेद किए गये हैं :—

आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्यवर्जनम् । रक्षयिष्यतीतिविश्वासो
गोप्तृत्ववरणं तथा ॥ आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधाशरणागतिः ॥
पांचरात्र, लक्ष्मीतन्त्र संहिता।

तथा

प्रमाणांकनमुख्येनन्यासलिंगेन केवलम् । गुर्वधीना हि भवति प्रपत्तिः कायिकी क्वचित्। अविज्ञातार्थ तत्वस्य मंत्रमीरचतः परम्। गुर्वधीनस्य कस्यापि प्रपत्तिर्वाचिकी भवेत्। न्यास लिंगवतांगेनधियार्थज्ञस्य मंत्रतः। उपासितगुरोः सम्यक् प्रपत्तिर्मानसी भवेत्।

रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, डा० बद्रीनारायण श्रीवास्तव, पृ० २८१-२८३।

४. गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जो बिरंचि संकर सम होई।
रामचरितमानस, डा० माताप्रसाद गुप्त, उत्तरकांड, पृ० ५४०, पंक्ति सं० ३।

५. अघतिमिर दुरत हरि नाम तैं।
ज्यों रजनी चलिबे को चंचल थिर न रहत रवि धाम तैं।
सुमिरन सार प्रगट जस जाकौ, भव तारन गुन-ग्राम तैं।
जीवन मरन विघन टारन कोई, और नहीं बड़ स्याम तैं।

अग्नि से बच जाता है।[1] राम का नाम अनन्त सुखों का धाम है, इसकी रक्षा नहीं करनी पड़ती यह स्वयं विपत्ति में रक्षा करता है।[2] प्रेम से ईश्वर का नाम लेनेवाला व्यक्ति ईश्वर की कृपा का अधिकारी हो जाता है।[3] नामजप इतना शक्तिशाली है कि वह भक्त को समस्त दोषों से मुक्त करके कंचनवत् बना देने में समर्थ है।[4] नाम जप सार का भी सार है।[5]

कलह केलि कुल काल कलपना, कटत कल्पतरु छाम तैं।
तन मन सुद्ध करन करुनामय, बर निर्मल निहकाम तैं।
मिटत दुरत दुर्बास दुसह दुख, सुख उपजत अभिराम तैं।
पतित पतित-पावन पद पर्सत, छूटत छल, बल काम तैं।
हरि-हरि-हरि सुमिरन सोई सुकृत, विरता मत धन धाम तैं।
असरन सरन प्रेम रत जन कौ, करन अरति भ्रम भाम तैं।
हरि सुमिरै ताको भय नाहीं, निर्भय निज बिश्राम तैं।
लिए नहीं संसार सु परसा, अधिकारी जल जाम तैं।।१०।।
श्री निम्बार्कमाधुरी, श्री परशुराम देव जी, पृ० ८४।

१. अब तुम नाम गहो मन नागर।
जातैं काल-अगिनि तैं बांचौ, सदा रहो सुख सागर।
मारि न सकै, बिघन नहिं ग्रासै, जम न चढ़ावै कागर।
सूरसागर, पहला खंड, प्रथम स्कंध, विनय, पृ० २९, पद सं० ९१।

२. हमारे निर्धन के धन राम।
चोर न लेत, घटत नहिं कबहूं, आवत गाढ़ै काम।
जल नहिं बूड़त, अगिनि न दाहत, है ऐसौ हरि नाम।
बैकुंठ नाथ सकल सुख दाता, सूरदास सुख धाम।।
वही, वही, वही, वही, वही, पद सं० ९२।

३. भरोसौ नाम कौ भारी।
प्रेम सौं जिन नाम लीन्हौ, भए अधिकारी।
वही, वह, वही, वही, पृ० ५७, पद सं० १७६।

४. बड़ी है राम नाम की ओट।
सरन गऐं प्रभु काढ़ि देत नहिं, करत कृपा के कोट।
बैठत सबै सभा हरि जू की, कौन बड़ो को छोट?
सूरदास पारस के परसे मिटति लोह की खोट।।२३२।।
वही, वही, वही, वही, पृ० ७६।

५. सार कौ सार, सकल सुख को सुख, हनूमान-सिव जानि गह्यो।
वही, वही, द्वितीय स्कंध, पृ० ११७ पद सं० ३५१, पंक्ति सं० ४।

तुलना एवं निष्कर्ष :

संक्षेप में यदि ऊपर कहे गये निर्गुण और सगुण विचारधारा के मुख्य तत्वों के विभेद को देखा जाय तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि इन दोनों विचारधाराओं में तात्विक विभेद कम है, व्यावहारिक भेद अधिक है। वेदान्त साहित्य में सगुण विचारधारा, निर्गुण विचारधारा से उस ढंग से अलग नहीं है, जिस ढंग से बाद में जाकर हो गई। सगुण और निर्गुण को मिला कर उपनिषद् में ईश्वर को गुणेश[1] वाचक दिया गया है। ईश्वर 'गुणेश' है, अर्थात् गुणों का शासक है। ऐसी स्थिति में उसके गुणों के सम्बन्ध में भेद विभेद का क्या प्रश्न उठता है।

वृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन मिलता है—'मूर्त्त' और अमूर्त', मर्त्य और अमृत, स्थित और यत् (चर) तथा सत् और त्यत्। जो वायु और अन्तरिक्ष से भिन्न है वह मूर्त है। यह मर्त्य है, यह स्थित है और यह सत् है। उस इस मूर्त्त का, इस मर्त्य का, इस स्थित का, इस सत् का यह रस है जो कि यह तपता है। यह सत् का ही रस है। तथा वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त्त हैं, ये अमृत हैं, ये यत् हैं, और ये ही त्यत् हैं। उस इस अमूर्त्त का, इस अमृत का, इस यत् का, इस त्यत् का यह सार है, जो कि इस मंडल में पुरुष है, यही इस त्यत् का सार है। यह अधिदैवत् दर्शन है। अब अध्यात्म मूर्त्तामूर्त्त का वर्णन किया जाता है। जो प्राण से तथा यह जो देहान्तर्गत आकाश है, इससे भिन्न है, यही मूर्त्त है। यह मर्त्य है, यह स्थित है, यह सत् है, यह जो नेत्र है, वही इस मूर्त्त का, इस मर्त्य का, इस स्थित का एवं इस सत् का सार है। यह सत् का ही सार है। अब अमूर्त्त का वर्णन करते हैं—प्राण और इस शरीर के अन्तर्गत जो आकाश है, वह अमूर्त्त है, यह अमृत है, यह यत् है, यही त्यत् है। उस इस अमूर्त्त का, इस अमृत का, इस यत् का, इस त्यत् का यह रस है जो कि यह दक्षिण नेत्रान्तर्गत पुरुष है, यह त्यत् का ही रस है। इस पुरुष का रूप चमत्कार ऐसा है जैसे कुसुंभे से रंगा हुआ वस्त्र हो, जैसे सफेद ऊनी वस्त्र हो, जैसे इन्द्रगोप हो, जैसे अग्नि की ज्वाला हो, जैसे श्वेत कमल हो, और जैसे बिजली की चमक हो। जो ऐसा जानता है, उसकी श्री बिजली की चमक के समान (सर्वत्र एक साथ फैलने वाली) होती है। अब इसके पश्चात् 'नेति नेति' यह ब्रह्म का निर्देश है। 'नेति नेति' इससे बढ़ कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है। 'सत्य का सत्य' यह उसका नाम है। प्राण ही सत्य हैं, उनका यह सत्य है।'[2]

उस ऐसे 'नेति नेति' का गार्गी के सम्मुख याज्ञवल्क्य ने, अक्षर के नाम से इस प्रकार वर्णन किया—'वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम (अन्धकार) है, न वायु है, न आकाश है, न संगवान है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमें न भीतर है, न बाहर है, वह कुछ भी नहीं खाता, उसे कोई भी नहीं खाता।[3]

---

१. श्वेताश्वेतरोपनिषद् ॥१६॥

२. वृहदारण्यकोपनिषद्, द्वितीय अध्याय, तृतीय ब्राह्मण ॥१-६॥

३. वही, तृतीय अध्याय, अष्टम् ब्राह्मण ॥८॥

जहां पर इस प्रकार की व्याख्या है वहीं पर दूसरे ढंग से सकर्मक व्याख्या भी की गई है। यह दूसरे प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत उद्धरण में देखी जा सकती है—'गार्गी इस अक्षर के ही प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा विशेष रूप से धारण किए हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि इस अक्षर के ही प्रशासन में द्युलोक और पृथिवी विशेष रूप से धारण किए हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में निमेष, मुहूर्त्त, दिन-रात, अर्धमास (पक्ष), मास, ऋतु और संवत्सर विशेष रूप से धारण किए हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्ववाहिनी नदियां जिस जिस दिशा को बहने लगती हैं, उसी का अनुसरण करती रहती हैं। हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में मनुष्य दाता की प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमान का और पितृगण दर्वीहोम का अनुवर्तन करते हैं।'[1]

विशेषता अन्त में है जब याज्ञवल्क्य इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं—'हे गार्गि ! यह अक्षर स्वयं दृष्टि का विषय नहीं, किन्तु द्रष्टा है, श्रवण का विषय नहीं किन्तु श्रोता है, मनन का विषय नहीं किन्तु मन्ता है, स्वयं अविज्ञात रह कर दूसरों का विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है और इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है। हे गार्गि ! निश्चय इस अक्षर में ही आकाश ओत प्रोत है।'[2]

उपर्युक्त उद्धरणों का इस स्थल पर देने का आशय स्पष्ट रूप से यह है कि ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप इन दोनों के तत्वों को शब्दों में प्रकट करने के लिये इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। निर्गुण और सगुण के तत्वों को अलग अलग समझाते हुए दोनों के तात्विक विभेद को, याज्ञवल्क्य ने गार्गि को समझाते हुए बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट कर दिया है। ब्रह्म के गुणों की सीमाएँ, उनकी परिव्याप्ति इतनी रहस्यात्मक है कि उसमें किसी भौतिक गुण का समावेश नहीं किया जा सकता है और यही कारण है कि ब्रह्म को निर्गुण कह दिया जाता है। जहाँ पर 'गुणेश' कहा गया वहां यही तात्पर्य है कि ब्रह्म अपने निर्गुण और सगुण दोनों रूपों का स्वयं ही नियन्ता है। समस्त प्राकृत, अप्राकृत गुणों का समावेश उस ब्रह्म में है। यही कारण है कि अभिव्यक्ति की प्रत्येक प्रणाली को अपनाने पर भी जब कवि दार्शनिक अपने अनुभवगम्य सत्य की यथातथ्य अभिव्यक्ति में अपने को असफल, असमर्थ पाता है तभी वह उसे द्वैताद्वैत-विलक्षण कहकर मौन हो जाता है।

(ग) सगुण और निर्गुण विचारधाराओं का वाह्य और आन्तरिक स्वरूप

वाह्य स्वरूप:

वाह्य रूप को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि निर्गुण विचारधारा में मूर्ति पूजा का विरोध, लीला गायन पर अविश्वास, कर्मकाण्ड की निरर्थकता आदि पर बल दिया जाता है, दूसरी ओर सगुण विचारधारा में मूर्तिपूजा पर, लीला गायन पर, कर्मकाण्ड पर बल दिया जाता है।

---

१. वही, वही, वही ॥९-१०॥
२. वृहदारण्यकोपनिषद्, तृतीय अध्याय, अष्टम ब्राह्मण ॥११॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि निर्गुण विचारधारा को मानकर चलने वाले साधक के लिए मूर्ति एवं अवतार का कोई महत्व नहीं, फवस्वरूप लीला तथा कर्मकाण्ड का प्रश्न ही नहीं उठता। और सगुण विचारधारा को माननेवाला साधक स्थूल रूप से चाहे मूर्ति पर न विश्वास करे परन्तु अवतार भावना पर विश्वास रख कर चलता है। एक अत्यन्त स्थूल सगुणोपासक, मूर्ति की पूजा अपनी समस्त श्रद्धा के साथ करता है, भगवान की लीला का श्रवण पूरे मनोयोग से करता है, भगवान की लीला का गायन करना अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझता है, अपने इष्ट की मूर्ति, चित्र अथवा प्रतीक की नित्यप्रति अपने भावानुसार सेवा करना अपना प्रथम धर्म समझता है। सगुण विचारधारा में किंचित ऊपरी सतह का साधक मूर्ति पर विश्वास न करते हुए भी अवतार की भावना पर विश्वास करता है, फलस्वरूप उपर्युक्त कर्मकाण्ड को अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखता, भले ही इन क्रियाओं को वह स्वयं नहीं करता। वह अपने इष्ट अवतार को अपने हृदय के अन्तर्गत अनुभव करता है, उसके आदर्श के अनुकूल अपने आचरण रखने का प्रयत्न करता है। परन्तु सगुण विचारधारा में इस विचार से सम्बन्धित एक तीसरी वाह्य स्थिति है जहाँ साधक इस बात को समझता है कि ये अवतार की विभिन्न भावनाएँ उस अनन्त अनादि ईश्वर के अप्राकृत गुणों के प्रतीक के स्वरूप हैं। वह इन पर विश्वास मात्र इसलिए करता है कि इन प्रतीकों के माध्यम से वह उस ईश्वर के सच्चे स्वरुप को अन्ततः ग्रहण करने में समर्थ हो सकेगा। निर्गुण विचारधारा में वाह्य रूप से स्पष्ट ही इस प्रकार का कोई सहारा नहीं है।

निर्गुण विचारधारा पर नाथ पंथ का और इस्लाम धर्म का प्रभाव रहा है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। परन्तु वास्तविकता यह है कि कुछ नामों, शब्दों, और खण्डन करने के उद्देश्य से उल्लिखित सिद्धान्तों के अतिरिक्त निर्गुण विचारधारा पर इस्लाम का प्रभाव लगभग नहीं के बराबर है। दूसरी ओर सगुण विचारधारा पर पौराणिक प्रभाव स्पष्ट रूप से है। कृष्ण के अवतार के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत का प्रभाव निस्सन्देह बहुत शक्तिशाली रहा है।

निर्गुण विचारधारा में वाह्य रूप से सगुण विचारधारा का प्रत्यक्ष विरोध है। सगुण विचारधारा ने भी निर्गुण विचारधारा का अक्सर खंडन किया है। परन्तु यह विरोध स्पष्ट रूप से वाह्य है, केवल सिद्धान्तों की दृष्टि से है।

निर्गुण मार्ग के साधकों ने योग साधना को महत्व दिया है, ऐसा कुछ स्थलों पर लगता है। इसी पीठिका में नाथ पंथ का प्रभाव कहा जाता है। यह अवश्य है कि इस विचारधारा में योग का महत्व है, परन्तु यह साधना, जो कि हृदय से सम्बन्ध न रखकर शरीर से अधिक सम्बन्ध रखती है, प्रारम्भिक स्थिति में ही अपना महत्व रखती है। जब साधक के समक्ष वह मार्ग प्रकाशित हो उठता है तब योग आदि ऊपरी साधनाओं को वह स्वयमेव छोड़कर अंतर्मुखी हो जाता है। इस स्थल पर कबीर के पद का स्मरण आ जाना स्वाभाविक है—"आँख न मूंदौं कान न रूधौं ऐसी तारी लागी।"[1] सगुण विचारधारा में इस प्रकार की अंतर्मुखी साधना का कुछ विरोध मिलता है। कारण यह है कि सगुण साधक किसी न किसी प्रतीक पर अथवा अवतार पर विश्वास

---

१. सन्त वाणी, पृ० १२४, पद सं० ३।

करके एक चित्त से उसकी उपासना करता है। उसे सर्वत्र वही रूप दृष्टिगोचर होने लगता है। वह उस रूप को अपने अन्दर, बाहर, चारों ओर व्याप्त पाता है। इस आनन्द में वह अपने को पूर्ण रूप से भूल कर खो जाता है। साधना की इस स्थिति पर पहुँचकर निर्गुण साधक की एकाग्रता और सगुण साधक की एकाग्रता में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु मार्ग स्पष्ट रूप से भिन्न है।

उपर्युक्त बात को ध्यान में रखते हुए ऐसा कह दिया जाता है कि निर्गुण विचारधारा में जहां एक ओर ज्ञानकाण्ड है, वहाँ दूसरी ओर सगुण विचारधारा में कर्मकाण्ड है। बात कुछ सीमा तक उचित भी है। निर्गुण साधक के लिए ज्ञान आवश्यक है। बिना ज्ञान के वह अपना चित्त कहाँ एकाग्र करेगा। उसके लिए श्रद्धा बाद की वस्तु है। परन्तु सगुण साधक बिना ज्ञान के भी अग्रसर हो सकता है। श्रद्धा का सम्बल ही उसका मूल धन है। इस सम्पत्ति के साथ उसे ज्ञान का ब्याज अपने आप ही मिल जाता है।

निर्गुण विचारधारा का वाह्य स्वरूप उसके अन्तर्गत मान्य नाम जप से सबसे अधिक स्पष्ट होता है। सबको अस्वीकार करने वाली इस विचारधारा में भी नाम का अवलम्बन परमावश्यक माना गया। सगुण विचारधारा में भी नामजप मुख्य है, और उसको विस्तार मिला है भजन और कीर्तन की प्रणाली में। निर्गुण मार्गी नाम जप भी मन में ही करना चाहेगा, जब कि सगुण मार्गी नाम जप का श्रेष्ठतम रूप कीर्तन को स्वीकार करेगा।

आन्तरिक स्वरूप :

निर्गुण और सगुण दोनों विचारधाराओं के आन्तरिक स्वरूप को देखने पर ज्ञात होता है कि दोनों में ईश्वर के प्रति विश्वास से सघन, निर्मल व निश्छल भक्ति का जल प्रवहमान है। निर्गुण साधक ईश्वर के प्रति चित्त एकाग्र करने को ही अपनी साधना मानता है। निरन्तर चैतन्यता के साथ प्रति पल उस एक ही लक्ष्य को पाने के लिए प्रयत्नशील रहना ही उसका कर्त्तव्य है। सगुण साधक भी एकाग्रता पर बल देता है। अन्तर इतना है कि सगुण विचारधारा में किसी रूप पर विश्वास करके उस रूप विशेष को आधार बनाकर, साधक अपनी समस्त इच्छाएँ और संकल्प अर्पित कर देता है। निर्गुण विचारधारा में किसी रूप या आकार की स्थूल आधार-शिला नहीं रहती।

इस स्थल पर यह सूक्ष्म प्रश्न स्वभावतः उठता है कि बिना किसी आकार अथवा रूप के निर्गुण साधक किस पर अपना चित्त एकाग्र करता है, उसकी साधना का लक्ष्य क्या है, उसके साध्य का स्वरूप क्या है? सगुण विचारक जिस प्रकार अपने साध्य स्वरूप से प्रेम करता है, भक्ति करता है, ठीक उसी प्रकार से निर्गुणी विचारक भी परमात्मा से प्रेम करता है, उससे भक्ति करता है। दोनों ही विचारधाराओं के अनुसार व्यक्तित्व का पूर्ण समर्पण अपेक्षित है। उस असीम ईश्वर के सम्मुख अपना सब कुछ न्योछावर करने के अनन्तर ही साधना के असली मार्ग पर साधक प्रवेश कर पाता है। ऊपर जो साध्य को लेकर प्रश्न उठाया गया है वह रैदास की निम्नलिखित पंक्तियों में कितने सुन्दर रूप में अभिव्यक्त हुआ है—

राम मैं पूजा कहां चढ़ाऊं
फल अरु फूल अनूप न पाऊं
मन ही पूजा मन ही धूप
मन ही सेऊं सहज सरूप
पूजा अरचा न जानूं तेरी
कह रैदास, कवन गति मेरी।[१]

निरालंब रहते हुए एकाग्रता वास्तव में कठिन कार्य है। इसीलिए सगुणोपासक सूरदास ने कहा :—

अबिगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूंगे मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सब हीं सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै।
सब विधि-अगम बिचारिहि तातैं सूरसगुन पद गावै।[२]

परन्तु आश्चर्य उस समय होता है जब ठेठ सगुणोपासक, तुलसीदास का यह कथन मिलता है कि निर्गुण रूप बहुत सुलभ है, सगुण रूप को ही कोई नहीं जानता। इस प्रकार के परमात्मा के सुगम और अगम, अनेक प्रकार के चरित्रों को श्रवण करके बड़े बड़े ऋषियों के मन भी भ्रमित हो जाते हैं।[३] वास्तविकता दूसरी पंक्ति में है कि बड़े बड़े ऋषि भी जिस ब्रह्म के चरित्र से चकित हो जाते हैं, उसके सगुण और निर्गुण रूप को लेकर उलझन में पड़ जाते हैं उस ब्रह्म के विषय में किस प्रकार कोई भी बात निश्चित रूप से कही जा सकती है। अपनी अपार विवशता में इस मार्ग के यात्री के पास एक ही सहारा है, वही सहारा सबसे शक्तिशाली है, वह है भक्ति। भक्ति ही अन्तिम करणीय रह जाता है। सगुण विचारधारा को लें या निर्गुण विचारधारा को, दोनों के आन्तरिक स्वरूप में एक ही सार तत्व है भक्ति।

दार्शनिक विवेचन दोनों विचारधाराओं का सबल है। निर्गुण विचारक यदि समस्त गुणों का सतर्क खंडन कर सकता है तो सगुण भक्त पूरे आत्मविश्वास से यह प्रश्न पूछता है कि यदि ईश्वर के किसी भी प्रकार के गुण नहीं तो अन्य गुणों की सृष्टि किस प्रकार संभव है। कोई

---

१. सन्त वाणी, वियोगी हरि, १२६, ४।
२. सूर सागर, विनय के पद, २।
३. निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नानाचरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥७३॥
रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ५२९।

समझाए इस बात को कि बिना बीज के वृक्ष किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है।[1] परन्तु ये सब तर्क-वितर्क दोनों ही विचारधाराओं के वाह्य स्वरूप माने जा सकते हैं। आन्तरिक तत्व दोनों का स्पष्ट रूप से भक्ति है। समस्त वृत्तियों को एकत्रित कर उस असीम सत्ता के समक्ष समर्पित करके उससे भक्ति करना निर्गुण विचारधारा का भी अन्तिम लक्ष्य है, और सगुण विचारधारा का भी। भक्ति के बिन्दु पर दोनों ही विचारधाराओं में मतैक्य है ? भक्ति की यह भावना दोनों की आत्मा है। भक्ति के आधार पर ही निर्गुण विचारधारा और सगुण विचारधारा दोनों के ही दर्शन का भव्य भवन खड़ा है। भक्ति के आवेश में निर्गुण विचारधारा का संत ईश्वर पर गुणों का आरोप कर देता है, सगुण विचारधारा का संत अपने साध्य स्वरूप की सीमाओं में ही उस अन्तिम सत्य के दर्शन करने लग जाता है।

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि निर्गुण और सगुण विचारधाराओं के वाह्य और आन्तरिक स्वरूप को देखने पर यह ज्ञात होता है कि दोनों में ही सीमा और असीम का प्रेम-मय द्वन्द्व है। निर्गुण विचारधारा को ही लें तो डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के शब्द तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि 'ठीक रूप की उपासना भी उसमें नहीं है और नीरस निर्गुण निराकार का ध्यान भी नहीं है।'[2] इस प्रकार के तथ्य इसी निष्कर्ष पर पहुंचाते हैं कि यदि दोनों प्रकार के भक्त कवियों की ऐसी पंक्तियों को देखा जाय जो अनुभूति के गहरे क्षणों में सहसा फूट पड़ी हैं तो दृष्टि-गोचर होता है कि निर्गुण सगुण का भेद विलीन हो गया है, और निर्गुण विचारधारा का ज्ञानी संत ठीक उसी प्रकार से एक निरीह भक्त मात्र रह जाता है जिस प्रकार सगुणोपासना का एक अवतारवादी भक्त।

(घ) दर्शन का व्यावहारिक अंग

समस्त ज्ञान के मूल में एक अनासक्त आस्था है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण उपनिषद् हैं। "जो ऐसा जानता है कि ' 'वह है', इसके अलावा उसे कौन जान सकता है।" उपनिषद् की यह उद्घोषणा है कि पहले स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि सत्य है, अस्तित्व है, ब्रह्म है। कुछ भी कहें, वास्तविकता यह है कि समस्त सृष्टि के मूल में कोई तत्व है, जो इस जगत् से परे है, साथ ही इस जगत् के अणु अणु में व्याप्त है, इस श्रद्धा को जो लेकर चलेगा वही ज्ञान का अधिकारी है। यह अवश्य है कि इस प्रकार के भी दर्शन (?) शास्त्र हैं, उदाहरण स्वरूप चार्वाक के सिद्धान्त, जिनमें ईश्वर के प्रति सरल अनास्था है, और शास्त्रों के अन्तर्गत उनकी भी मान्यता है, परन्तु हिन्दी भक्ति साहित्य के प्रसंग में ऐसे शास्त्र ग्रन्थों का उल्लेख करना नितान्त अप्रासंगिक होगा, क्योंकि भक्ति साहित्य का सम्बन्ध दर्शन शास्त्र के उन्हीं ग्रन्थों से रहा है, जिनमें उस 'महान्' सत्य के प्रति गहरी व अटूट आस्था की भावना थी। जैसा आरम्भ में कहा गया कि उपनिषदों में ईश्वर के प्रति पूर्व आस्था पर बल दिया गया। उपनिषदों को ज्ञान की पराकाष्ठा कहना

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, भँवरगीत, पृ० १०, पद सं० २०।

२. हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४७।

अनुचित न होगा। वहां इस प्रकार के कथन को देखकर कि 'पहले मान कर चलो कि वह है' गणित का सिद्धान्त स्मरण हो आता है कि समस्या हल करने के लिए पहले कुछ भी मान लेना पड़ता है।

अध्यात्म के क्षेत्र में 'दर्शन' बहुत सूक्ष्म व अत्यन्त अलौकिक भावना से सम्बन्ध रखता था। जिसे उस अपरिसीम को जानने की अटूट जिज्ञासा होती थी वह उसकी वास्तविकता का दर्शन कर सकने में समर्थ होता था। ऐसा 'दर्शन' के सौभाग्य से युक्त द्रष्टा (Seer) अपने उस दृश्यमान तत्व को अपनी भाषा में अभिव्यक्त करने का प्रयास करता था। इस भिन्नरूपात्मक प्रकृति जगत में उस अभिन्न तत्व का दर्शन करना, जो सबकी भिन्नता के अनन्तर भी सबमें समान रूप से स्थित है, उसे जान लेना ही द्रष्टा की स्थिति है। यह दर्शन निश्चित रूप से अनुभव की वस्तु है।

बाद में चलकर दर्शन धीरे धीरे किन्हीं विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों का द्योतक हो गया। हिन्दी भक्ति साहित्य के प्रसंग में जब दर्शन का प्रश्न उठता है स्वभावतः हिन्दी भक्ति साहित्य के अन्तर्गत आए हुए दार्शनिक सिद्धान्तों की ओर ध्यान जाता है। हिन्दी भक्ति साहित्य की दोनों ही धाराओं में (सगुण और निर्गुण) दार्शनिक सिद्धान्तों का अभाव नहीं है। फिर भी हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य को भक्ति साहित्य की संज्ञा दी जाती है, दर्शन शास्त्र की नहीं। कारण यह है कि दर्शन जब हिन्दी भक्ति साहित्य में ग्रहण किया गया तब वह अपनी सीमा से निकल कर भक्ति की सीमा में प्रविष्ट हो गया। दर्शन का भक्ति से इस प्रकार मिल जाना नितान्त स्वाभाविक था। मानव स्वभाव और देश की तत्कालीन परिस्थितियाँ देखते हुए यह अवश्यम्भावी था।

भक्ति की इस अलौकिक भावना के अन्तर्गत दर्शन और धर्म दोनों का सम्मिलन हो गया था। कुछ विद्वानों का इसीलिए मत है कि मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में दर्शन और धर्म दोनों मिल कर एक हो गए थे। मध्ययुग का भक्ति साहित्य धार्मिक साहित्य के रूप में पूर्ण रूप से समादरित है।

मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति साहित्य में दर्शन अपने व्यावहारिक रूप में भक्ति का रूप धारण करके प्रकट हुआ। भक्ति के क्षेत्र में दार्शनिक सिद्धान्तों से भी ऊपर उठना पड़ता है। नारद भक्तिसूत्र का उनचासवाँ सूत्र—'वेदानामपि सन्यसति' इस बात का प्रमाण है। शास्त्र ज्ञान तो सीढ़ी है, लक्ष्य तो आत्म ज्ञान है। उस आत्मज्ञान के लिए दार्शनिक सिद्धान्तों का ज्ञान भक्ति की अपेक्षा हीन है। कबीर ने पुस्तक ज्ञान को बहा ही दिया था, परन्तु दरिया ने इस बात को बड़े सुन्दर ढंग से कहा था कि 'शास्त्र ज्ञान की धूल अंगों में लिपटी है।' अर्थात् इस शास्त्रज्ञान की धूल लेकर उस पवित्र ज्ञान की सीमा में प्रवेश असंभव है। उस दर्शन को पाने के लिए तो अत्यन्त निर्मल बनना है, जो केवल भक्ति से सम्भव है।

यह सत्य है कि इस अत्यन्त व्यावहारिक भक्ति के माध्यम से निर्गुण सगुण दोनों ही भक्ति साहित्य धाराओं में उस 'दर्शन' के फलस्वरूप ही अभिव्यक्ति का प्रयास है। तत्व एक है। उसका दर्शन, उसका अनुभव अन्ततः एक है। अतः यह निश्चित है कि एक वस्तु का अनुभव एक

ही प्रकार से अभिव्यक्त होगा। नारद ने अपने भक्ति सूत्र में कहा कि वह सूक्ष्मत
रूप है।[1] तुलसी ने उत्तरकांड में उसे अनुभवगम्य कहा, सूर कबीर सभी संत उस
को ही सब कुछ कहते हैं। साथ ही उस अनुभूति की अभिव्यक्ति को असंभव बत
मूक के आस्वादन के समान है।[2] यह नारदभक्तिसूत्र में मिलता है, इसी बात को
कवियों ने कुछ स्थलों पर इस प्रकार कहा है जैसे—"सैन करे मनही मन रह से, गूंगे जानि
अथवा "गूंगे का गुड़ गूंगे जाना।"[3]

यह भक्ति की भावना साकार निराकार से परे थी। 'नारद के मत से तो प्रतिपल भगवान को स्मरण रखना ही भक्ति है।' यह बात इसलिए और भी स्पष्ट होती है कि नारद ने भक्ति सूत्र में अपना यह मत व्यास और गर्गाचार्य के मत को समक्ष रखने के अनन्तर उनसे तुलना करते हुए प्रकट किया है। 'व्यास जी के मत में भगवान की पूजा आदि करना भक्ति है, गर्गाचार्य के मत में कीर्तन, भजन, पुराणादि, में प्रीति करना भक्ति है पर नारद के मत में तो प्रतिपल भगवान को स्मरण करना ही भक्ति है।'

निर्गुण और सगुण दोनों विचारधाराओं के अन्तर्गत दार्शनिक सिद्धान्तों का व्यावहारिक स्वरूप में एक ही अन्तिम तथ्य है कि भगवान का प्रतिपल स्मरण रखा जाय। इस स्मरण के लिए नाम की सहायता लेने में दोनों धाराओं में अविरोध है। सबसे अधिक प्रयोग 'राम' नाम का मिलता है। रमणशील व्यापक तत्व के लिए 'राम' ही सबसे उपयुक्त नाम है। इस नाम की महानता और औचित्य के समक्ष दूसरा कोई भी नाम नहीं है। परन्तु यह नाम भी माध्यम है। लक्ष्य तो उस स्थिति को प्राप्त करना है जहाँ भक्ति भक्त और भगवान एक हो जाते हैं, ऐसी स्थिति पर पहुंचने पर नाम की आवश्यकता नहीं रह जाती। साधक का अणु परमाणु जब उस ईश्वर की सत्ता की चैतन्यता से ओत प्रोत हो जाता है तब कौन नाम ले और किसका नाम ले। काल स्थान सबका महत्व मिट जाता है। सच्चा भक्त इस प्रकार अपनी साधना में रत जीवमुक्त हो जाता है।

---

१. **"सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्" नारद भक्ति सूत्र, पृ० ९२, सूत्र ५४।**
२. **"मूकास्वादनवत्", नारद भक्ति सूत्र, पृ० ९१, सूत्र ५२।**
३. **कबीर ग्रंथावली, पृ० ९०, पद सं० ६, पंक्ति सं० ८।**
४. **वही, पृ० १०९, पद सं० ६८, पंक्ति सं० ७।**

द्वितीय अध्याय

धार्मिक विचारधारा

(क) १४ वीं शताब्दी : संक्रान्ति काल

१४०० ई० से १७०० ई० के मध्य की हिन्दी साहित्यान्तर्गत धार्मिक विचारधाराओं का विश्लेषण करने से पूर्व यह देख लेना उचित होगा कि १४वीं शताब्दी में देश में किस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में एक हलचल की स्थिति थी। संस्कृति के चार मुख्य अंग माने गए हैं—पहला राजनीति, दूसरा धर्म और दर्शन, तीसरा समाज, और चौथा साहित्य व कला। इन सभी क्षेत्रों में १४वीं शताब्दी में क्रान्तिकारी परिवर्तन सामने आए।

राजनीति

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में साहित्य राजनीति के अत्यन्त निकट था। इसीलिए साहित्य के इतिहास में उसका नाम चारणकाल या वीरगाथा काल पड़ा। रचनाकार का सम्बन्ध राज्य से था, साहित्य राजाओं के आश्रय में लिखा जाता था। कथानकों का सम्बन्ध भी राजाओं, राजकुमारियों तथा युद्धों से था। यही कारण था कि राजनीति के क्षेत्र में विप्लवकाल आने से साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। ११वीं शताब्दी से देश में विदेशी आक्रमण आरम्भ हो गए थे। हिन्दू राजा स्वधर्म और स्वसंस्कृति से प्रेम करते थे। अतः इतिहासकारों का यह मत तर्कपूर्ण है कि मुस्लिम आक्रमण के कारण यहां के राजाओं में राज्य छिनने पर स्वधर्म और स्व-संस्कृति के रक्षण की भावना प्रबल हो गई। १४वीं शताब्दी तक पश्चिम भारत में राजनीतिक शक्ति और भारतीय संस्कृति अधिक दृढ़ रूप में थी। 'गुजरात एक बहुत शक्तिशाली राज्य हो गया था जो मुसलमानों के आक्रमणों का प्रतीकार करता हुआ कहीं अलाउद्दीन खिलजी के शासन में नष्ट हुआ (संवत् १३५५ वि०)। गुजरात के शासक सोलंकी के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हैं।'[१]

वीरगाथाकाल की मुख्य रचनाएँ पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, हम्मीर महाकाव्य आदि अधिकतर गुर्जर प्रदेश से संबंधित हैं। अतः ये कथन कि 'चारण काल में राजनीति और साहित्य अत्यन्त समीप थे'[२], 'राजनीतिक क्षेत्र में विप्लव होने के कारण साहित्यिक क्षेत्र में भी

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २०१।
२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २१६।

शान्ति नहीं रही[१] और '१४वीं शताब्दी आरम्भ होते ही वीरगाथा काल की रचना क्षीण हो गयी। प्रधान कारण राजनीतिक परिस्थितियों का परिवर्तन था,'[३] इस दृष्टि से ठीक हैं कि जो साहित्य राजनीति से हर तरफ से जुड़ा था राज्य में क्रान्ति होने पर उसका बदलना अवश्यम्भावी था। यहां पर प्रश्न यह उठता है कि साहित्यगत यह परिवर्तन जिस रूप में सामने आया उसका सम्बन्ध राजनीति से कहाँ तक था।

वीरगाथा काल में साहित्यिक केन्द्र राजस्थान, दिल्ली, कन्नौज और महोबा थे। १४वीं शताब्दी के बाद साहित्य रचना के केन्द्र बदल गए। अब तक साहित्यिक रचना ऐसे स्थलों पर होती थी जो राजनीति की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण थे, परन्तु इसके उपरान्त हिन्दी की साहित्यिक रचना ऐसे स्थलों पर होने लगी, जो धार्मिक दृष्टि से अधिक महत्व रखते थे। संतों कवियों व आचार्यों ने धार्मिक क्षेत्रों और तीर्थों को ही अपना केन्द्र निश्चित किया।[३] राजनीतिक संक्रान्ति के कारण हो अथवा परम्परा का प्रवाह हो इतना निश्चित है कि १४वीं शती में राजनीतिक परिवर्तन के साथ ही साहित्यगत परिवर्तन हुए। राजनीतिक क्षेत्र में होने वाली इस क्रान्ति का साहित्य के बदलते हुए रूप पर कहां तक प्रभाव पड़ा यह एक विचारणीय प्रश्न है। पहला मत यह है कि हिन्दुओं में मुसलमानों से लोहा लेने की शक्ति नहीं थी और अपनी असहायावस्था में हिन्दुओं ने धर्म की शरण ली तथा दैन्य भावना से प्रेरित होकर ईश्वर भक्ति सम्बन्धी अथवा ईश्वर से प्रेम सम्बन्धी साहित्य का सृजन किया।[४] दूसरा मत यह है कि यदि इस्लाम नहीं भी आया होता तो भी इस साहित्य का रूप बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।[५] इस पर आगे विचार किया जायगा कि साहित्य में भक्ति को प्रबल रूप देने में राजनीतिक क्षेत्र की क्रान्ति कहाँ तक सहायक रही। यहां पर इतना ही संकेत करना है कि हिन्दी साहित्य के आरम्भिक युग को मध्य युग से जोड़ने वाली यह १४वीं शती भारतवर्ष में मुस्लिम आक्रमणों के आतंक की शताब्दी थी। हिंदू राजाओं में आपस में एकता नहीं थी। उत्तरी भारत में १४वीं शताब्दी के बाद ही मुसलमानों की सत्ता सुदृढ़ हो गई थी। दक्षिण पर मुसलमानों का पहला आक्रमण १४वीं शताब्दी में हुआ था। मुसलमान धर्म के झंडे के नीचे एक थे। हिन्दुओं में ऐसी एकता नहीं थी। फलस्वरूप धर्म की दृष्टि से भी इस काल में विचित्र वैविध्य था।

विदेशियों की राजनीति निरंकुश और हिंसापूर्ण थी। यह निश्चित था कि इस राजनीति से इस देश की जनता को सहज ही मुक्ति नहीं मिल सकती थी। चारणकाल की आवेश और उत्साहमयी वाणी भारतीय नरेशों की तलवारों पर पानी नहीं चढ़ा सकी। राजाओं की

---

१. वही, पृ० २०५।
२. वही, पृ० २६९।
३. वही, पृ० २७१।
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० ५६, और हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २७४।
५. हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २।

पारस्परिक फूट ने विदेशियों के कमज़ोर हाथ भी मजबूत बना दिए और उनके शासन ने जड़ पकड़नी आरम्भ कर दी । फलस्वरूप उनका आतंक दिनोंदिन बढ़ने लगा । इस प्रकार जैसे विदेशियों की राजनीति ही जन जीवन की भाग्य निर्णायिका बन रही थी ।

ऐसी स्थिति में जनजीवन अपनी सुरक्षा के लिए जागरूक हो उठा । रणक्षेत्र में उसका शौर्य रक्त में ही बह सकता था, विजय श्री उसके हाथों नहीं आ सकती थी अतः विदेशियों से लोहा लेने के लिए उसकी शक्ति अन्तर्मुखी हो उठी । उसने समाज की व्यवस्था के लिए धार्मिक सम्प्रदायों के माध्यम से शक्ति, आत्मविश्वास, सहिष्णुता, धर्म के प्रति अडिग विश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा की । यह ऐसा कवच था जिस पर विदेशियों की निरंकुश नीति कुंठित हो सकती थी । अतः पतन के गर्त में गिरने से बचाने के लिए धर्म के आचार्यों ने जीवात्मा की नित्यता और भौतिक जगत के परिवर्तनों से जनता को उदासीन बना कर लोकधर्म को जीवित रखने के बड़े संयुक्त प्रयत्न किए। यही कारण है कि इन आचार्यों ने अपने संप्रदायों में ऐसे जन-कवियों को दीक्षित किया जो जनता की सामान्य भाषा में धर्म और दर्शन की प्रेरणा अटूट आत्मविश्वास के साथ जनमानस में भर सकें। धार्मिक काल के विविध सम्प्रदाय जैसे भारतीय जन जीवन के अनेक प्रयोग थे जिनसे जनता राजनीति के भयंकर बवंडर में न उड़ सके। इस भाँति यह कहना कि भारतीय जनता दीन होकर असहाय हो गयी थी अथवा परम्परा की रूढ़ियों में शताब्दियों से जकड़ी थी—भारतीय जनजीवन की चेतना के महत्व के साथ अन्याय करना है।

धर्म और दर्शन :

राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं, दर्शन और धर्म के क्षेत्र में भी चौदहवीं शताब्दी में बड़ी अनिश्चित स्थिति थी। अनेकानेक धर्म प्रचलित थे, और एक एक धर्म के अन्तर्गत कई कई संप्रदाय अस्तित्व रखते थे। पश्चिमी भारत में विदेशी आक्रमणों का विशेष ज़ोर था परन्तु पूर्वी भू भाग में धार्मिक आन्दोलनों की प्रचुरता थी। वैष्णव धर्म की धारा को उलटने पर भागवत धर्म पांचरात्र धर्म और ऐकांतिक धर्म तक इस स्रोत का मूल मिलता है। ऐकांतिक धर्म का प्रवर्तन कृष्ण के गीतान्तर्गत अर्जुन को दिए उपदेश से हुआ। यह सभी विद्वान मानते हैं कि उत्तरी भारत से वैष्णव धर्म दक्षिण के आलवारों व आचार्यों के पास पहुंच कर पोषित हुआ था। चौदहवीं शताब्दी में यह वैष्णव धर्म अपने मूल स्रोत की ओर अर्थात् उत्तर भारत में भी प्रबल होकर वापस आया। ग्रियर्सन के अनुसार 'बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अंधकार के ऊपर एक नई बात दिखलाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहां से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नहीं कर सकता।'[१] इस संबंध में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह मत है कि जिस बात को ग्रियर्सन ने अचानक बिजली

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५२ ।

की चमक के समान फैल जाना लिखा है वह वैसी नहीं थी। उसके लिए सैकड़ों वर्षों से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे। फिर भी उसका प्रादुर्भाव एकाएक हो ही गया।[१]

इन बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ भी कारण रहा हो, चौदहवीं शताब्दी में एकाएक वैष्णव धर्म आन्दोलन उत्तरी भारत में प्रबल होकर प्रविष्ट हुआ। दक्षिण से वैष्णव धर्म की वह धारा ११हवीं शताब्दी से धीरे धीरे आ रही थी। राजनीतिक उलटफेर ने जनसमुदाय के हृदय पर इस भक्तिपरक वैष्णव धर्म को स्थिर करने में सहायता दी। इस शताब्दी के पहले से ही अन्य मतवाद, सम्प्रदाय और शास्त्र लोक मत का सहारा लेने लगे थे। शंकराचाय का अद्वैतवाद जो पूरे भारत में एक बार अत्यन्त प्रबल रूप से फैला था, उसकी जड़ वैष्णव आचार्यों ने हिला दी थी। तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक चार प्रधान वैष्णव आचार्यों का समय समाप्त हो जाता है। रामानुजाचार्य का समय लगभग सन् १०३७ ई० से ११३७ ई० तक माना जाता है। निम्बार्क, विष्णुस्वामी और मध्वाचार्य का समय लगभग सन् ११९७ से सन् १२७६ तक माना जाता है। इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी तक रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य का द्वैतवाद, विष्णुस्वामी का विशुद्धाद्वैतवाद, और निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद—इन चारों मतों की स्थापना सुदृढ़ रूप से हो चुकी थी। इसके बाद वल्लभाचार्य, चैतन्य, हितहरिवंश, स्वामी हरिदास आदि १५वीं, १६वीं शताब्दी में हुए। उपर्युक्त दोनों आचार्य-समूहों को जोड़ने वाले रामानन्दाचार्य थे। रामानन्द का समय १३०० ई० के बाद निश्चित रूप से मान्य है।

रामानन्द ने रामानुज की परम्परा को अपनाकर श्री सम्प्रदाय को बहुत ही व्यापक और लोकप्रिय रूप दिया और विष्णु और नारायण का रूपान्तर करके रामभक्ति का प्रचार किया।[२]

ऐसा सभी विद्वान मानते रहे हैं कि रामानुज, निम्बार्क, विष्णुस्वामी और मध्वाचार्य ने अपने विभिन्न वैष्णव मतवादों की स्थापना शंकराचार्य के मायावाद के विरोध में की थी। शंकराचार्य पक्के निर्गुणवादी थे, भक्ति के क्षेत्र में यह बहुत बड़ा व्यवधान था। इस संबंध में डा० विजयेन्द्र स्नातक का निम्नलिखित कथन उल्लेख योग्य है कि 'शंकराचार्य का निर्गुण ब्रह्म सगुण भक्ति के क्षेत्र में कैसे ग्राह्य हो सकता था? फलतः उसके विरोध के लिए एक ऐसे सगुण साकार अवतारी ब्रह्म की आवश्यकता थी जो वैष्णव भक्ति की परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए दार्शनिक दृष्टि से भी बुद्धिगम्य एवं स्वीकार्य हो सके।[३] इस प्रकार रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यों ने विष्णु के अवतारी रूपों की भक्ति का प्रचार किया।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उपर्युक्त उल्लेखनीय आचार्यों में से रामानुज की परम्परा में आए रामानन्द ने विष्णु और नारायण का रूपान्तर कर रामभक्ति का प्रचार किया। परन्तु निम्बार्क, मध्व और विष्णु स्वामी ने विष्णु के दूसरे रूप श्रीकृष्ण की भक्ति को ग्रहण किया।

---

१. वही, वही, वही, ।

२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ३००, ३०४।

३. राधावल्लभ सम्प्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० २५।

प्रत्येक वैष्णव आचार्य ने अपने मतवाद की स्थापना को अधिकाधिक दृढ़ करने के उद्देश्य से प्रस्थानत्रयी पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे। इसके पीछे कारण था। शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी अर्थात् बादरायण के ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता के ऐसे भाष्य लिखे थे जिनसे ये ग्रन्थ मायावाद की सिद्धि और अद्वैतवाद की एकान्त स्थापना करते जान पड़ते हैं। जब कि वास्तविकता यह है कि ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता में अद्वैतवाद और मायावाद की ही एकमात्र स्थापना का प्रयत्न नहीं है।

प्रसंगवश यह कहना अनुचित न होगा कि शंकराचार्य का दार्शनिक मत निवृत्तिपरक था। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यहाँ तक कह दिया है कि शंकराचार्य के तत्ववाद की पृष्ठ-भूमि में बौद्ध तत्ववाद अपना रूप बदल कर रह गया।[1] बौद्धधर्म ने क्रमशः लोकधर्म का रूप ग्रहण कर लिया था और उसके एक परवर्ती सम्प्रदाय महायान की मुख्य बातें, जैसे 'सर्वभूत हितवाद' में विश्वास, संस्कृत ग्रंथों के प्रति अधिक श्रद्धा, जगत को सारशून्य नश्वर मानना आदि, उत्तर भारत के हिंदू धर्म में ज्यों की त्यों मिलती हैं। नाम जप और अवतार में विश्वास करने का मूल भी इसी महायान सम्प्रदाय से संबंध रखता है। बौद्ध धर्म निवृत्ति प्रधान था, यह तो निश्चय है। बुद्ध का जीवन स्वयं इसका प्रमाण है। अन्य बातें या विकृतियाँ—जैसे अवतारवाद या मूर्तिपूजा अवश्य बौद्ध दर्शन के बनने के बाद आईं परन्तु वैराग्य की भावना पर महत्व स्वयं बुद्ध भगवान ने दिया था। यही बात शंकराचार्य में भी दिखायी देती है। 'वेदों के प्रवृत्तिवाद तथा गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' पर शंकराचार्य ने अधिक बल न देकर 'सर्वं खल्विदंब्रह्म' और 'नेहनानास्ति किंचन' पर अधिक बल दिया। रस्सी, सर्प और मृगमरीचिका का उदाहरण देकर उन्होंने बराबर यही सिद्ध किया कि जगत् मिथ्या है, भ्रम है, क्षणिक है। शंकराचार्य ने जगत् के अनस्तित्व को और जो कुछ है सब ब्रह्म है—इस बात को लेकर इतने पाण्डित्यपूर्ण, गुरु गम्भीर तर्कपूर्ण काव्यात्मक शैली में भाष्य लिखे कि इसका प्रभाव अत्यन्त दीर्घकालीन हुआ। सगुण भक्ति भावना को और जगत् के प्रति आसक्ति को इसमें तनिक भी आश्रय नहीं था।

जब तक वैराग्य की भावना ज्ञान का ही विषय रही अथवा स्वस्थ रूप में व्यवहार में आई तब तक ठीक था—किन्तु बाद में अनेकानेक सम्प्रदाय धार्मिक भावना से सम्बन्धित होकर उठ खड़े हुए जिनमें यह वैराग्य की भावना ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में अत्यन्त विकृत रूप में सामने आई। सहजिया सम्प्रदाय की परकीया भावना में डोम्बी आदि की सिद्धि इन विकृतियों की चरम सीमा थी। अतः क्रान्ति का काल उपस्थित हो, ऐसी परिस्थितियाँ अपने आप बन चुकी थीं। इस्लाम के प्रवेश से इस कार्य को कुछ शीघ्रता से होने में सहायता मिली। खाद पड़कर भूमि अच्छी तरह तैयार हो चुकी थी। शंकराचार्य और उनके परवर्ती आचार्यों की दार्शनिक ऊहापोह एवं गंभीर चिंताधारा से साधारण जनता के लिए कोई ऐसा मार्ग सामने नहीं आया

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५।

था जिसे स्वीकार करके एक साधारण हिन्दू अपने जीवन में आगे बढ़ सकता। एक ओर दार्शनिकों के कठिन अबोधगम्य तर्क थे, दूसरी ओर क्रियाक्लिष्ट साधनाओं का प्रचार करने वाले नाथ सम्प्रदाय, सिद्ध सम्प्रदाय और सहजिया सम्प्रदाय थे।

जिस प्रकार शंकराचार्य और वैष्णव अचार्यों की बातों में आपसी साम्य नहीं था उसी प्रकार इन क्रियाक्लिष्ट योग प्रधान सम्प्रदायों की प्रवृत्तियों में भी अत्यंत वैविध्य था। सिद्ध सम्प्रदाय प्रवृत्ति मार्गी था, नाथ सम्प्रदाय निवृत्ति मार्गी था। नाथ पंथ के प्रथम प्रधान आचार्य गोरखनाथ थे जिनके शिष्य धर्मनाथ ने १४वीं शताब्दी में कनफटे पंथ का कच्छ में प्रचार किया। नाथ पंथ और सहजिया संप्रदाय में स्पष्ट अंतर था नथपंथी साधक जहां पर अपने अन्तिम लक्ष्य के अंतर्गत विभिन्न सिद्धियों का भी समावेश करते हैं वहाँ सहजिया लोग इसके नितान्त विरुद्ध हैं। सहजिया लोग परकीया की भावना को लेकर चले। लेकिन प्रारम्भ में उनकी इस परकीया की प्रेम-भावना में भी सूफियों और बाउलों के समान शुद्धता एवं गंभीरता थी। इसी बीच सूफ़ी धर्म का भी विकास काफ़ी तेजी से हो रहा था। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक सूफ़ी धर्म के अन्तर्गत १४ संप्रदायों तक वृद्धि हुई जिनका संकेत आइने अकबरी में स्पष्ट रूप से किया गया है।[१] उस समय बंगाल मगध और उड़ीसा में बड़े बड़े बौद्ध विहार थे और उनके साथ ही चमत्कारपूर्ण मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि की क्रियाएं भी अपने व्यावहारिक रूप में जीवित थीं।

भक्तिकाल को वीरगाथाकाल से जोड़ने वाले संधियुग में दर्शन की परम्परा छिन्न होती जा रही थी। यौगिक क्रियाओं का जनता के ऊपर अधिक प्रभाव था। दार्शनिक तत्व जैन साहित्य में सबसे अधिक वर्तमान थे, इसके अनन्तर सिद्ध साहित्य में और फिर नाथ साहित्य में। इस संधिकाल की दार्शनिक व धार्मिक प्रवृत्तियों में आपस में अनेक प्रकार के अन्तर्विरोध थे। ईश्वर के निर्गुण व सगुण दोनों रूपों के प्रति भक्ति भावना धीरे धीरे अधिक स्पष्ट रूप धारण करने लगी, दोनों में प्रेम-लक्षणा भक्ति को प्राधान्य मिला।

समाज :

चौदहवीं शताब्दी में भारत की सामाजिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। प्रारंभिक आक्रमणकारी मुसलमान सामी जाति के थे। वे अत्याचारी थे, विजेता थे और सबसे बड़ी बात यह कि इस्लाम के झंडे के नीचे एकमत थे। भारतवर्ष में एक ओर तीक्ष्ण मेधावाले दार्शनिक हुए, दूसरी ओर उनके चारों ओर फैली जनता अधिकतर अंधविश्वासी ही बनी रही। उस समय की जनता विदेशी आक्रमणों से आक्रान्त थी। अतः आपत्तिकाल होने के कारण यौगिक चमत्कार और यंत्र-मंत्र पर लोगों का विश्वास और भी बढ़ गया। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनसार 'नाथ-पंथी योगियों के कारण जनता के हृदय में योगसाधना और सिद्धियों के प्रति आस्था जमी हुई थी।'[२]

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ४३४।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचंद्र शुक्ल, पं० ११२।

नाथपंथियों के सिद्धान्त ग्रन्थों में ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा प्रकट की गयी है। तीर्थाटन आदि निष्फल कहे गए हैं।

इतिहासकारों ने इस बात को बार बार दोहराया है कि हिन्दुओं में मुसलमानों से लोहा लेने की शक्ति नहीं थी। वे मुस्लिम सत्ता से भी डरते थे और अपने धर्म के बंधनों में भी जकड़े थे। दया उनके स्वभाव में कूट कूट कर भरी थी। वर्णव्यवस्था बहुत कठोर थी हिन्दू उप-जातियों में आपस में ऊंच नीच की दृढ़ भावना होने के कारण किसी भी मामले में एकता नहीं थी। किन्तु एक बात विशेष थी कि हिन्दुओं की प्रत्येक जाति को अपने आचार विचार पालन करने की पूर्ण रूप से स्वतंत्रता थी। कारण यह था कि हिन्दू धर्म न तो इसाइयों के धर्म की भाँति बड़े बड़े मठों या चर्चों द्वारा नियंत्रित था और न मुसलमानों के धर्म के अनुसार सामाजिक भ्रातृभाव के आदर्श द्वारा सुसंगठित ही था।[1] इसी प्रसंग से संबंधित रामचंद्र शुक्ल के निम्नलिखित कथन को अनेक विद्वानों ने दोहराया है--"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने उसके देवमन्दिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चल कर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलट फेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छायी रही, अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[2] इस बात को एक और विद्वान ने इस प्रकार कहा है--"रामानन्द के समय तक इस्लाम का देश में पर्याप्त प्रचार हो गया था। इस धर्म के प्रचारकों को राज्याश्रय भी प्राप्त था--कभी कभी तो स्वयं मुसलमान राज्यों ने ही तलवार की नोक पर इस धर्म का प्रचार किया। हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाया गया। उनके मन्दिर तोड़े गए और उनका सर्वस्व लूटा गया। हिंदुओं ने भी अपने रक्षार्थ दबे रूप में आन्दोलन किया किन्तु हमारा बुद्धिवादी वर्ग तथा हमारे भक्त आचार्य इस धर्म से उदासीन ही रहे। उन्होंने इसका विरोध तक नहीं किया। इस काल तक 'मगध और बंगाल को छोड़ कर भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में बौद्धधर्म नष्टप्राय हो चुका था और वैदिक धर्म ने उसका स्थान ले लिया था।"[3]

पीछे यह उल्लेख किया जा चुका है कि बौद्ध धर्म के विकृत होने पर जो अनेक संप्रदाय बने उनमें से एक सहजिया सम्प्रदाय भी था। वैष्णव सहजिया संप्रदाय में मानव जीवन को महत्व दिया गया था। इन लोगों का कहना था कि बिना 'रूप' की सहायता के 'स्वरूप' की

---

१. **हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १३।**

२. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० ५६।**

३. **रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव, भूमिका, पृ० २३।**

उपलब्धि कैसे हो सकती है। इसके लिए सहजिया सम्प्रदाय में परकीया भाव को महत्व दिया गया था। चंडीदास ने 'रामी रजकी' को अपनाया था और उसे 'वेदमाता' कहा था। ये सब बातें समाज में अनाचार ही फैला सकती थीं।

चौदहवीं शताब्दी में हिन्दू जनसमाज किसी निश्चित स्थिति में नहीं था। उसके सामने तरह तरह की कठिनाइयाँ थीं। इस बात के प्रमाणस्वरूप अनेक कथन उद्धृत किए जा सकते हैं। उदाहरणस्वरूप 'इब्नबतूता के अनुसार १४वीं शताब्दी में पढ़ने लिखने वाले वर्ग की प्रतिष्ठा घट चुकी थी। मोहम्मद तुगलक, शेख और मौलवियों तक को उनके बुरे कामों के लिए दंड देता था। दासता उस काल में सामान्य बात थी। दासों की लड़कियों को रखना फैशन हो गया था। लोगों की प्रवृत्ति धनसंग्रह की ओर थी। रूपया वसूल करने के लिए लोग राजाओं की शरण भी जाते थे।

"सती की प्रथा प्रचलित थी किन्तु राजाज्ञा आवश्यक थी। अपराधियों को कोड़ा मार कर गधे पर घुमाया जाता था। योगियों की करामातों को बादशाह तक देखते थे—वैवाहिक बन्धन की सदैव रक्षा नहीं होती थी। स्त्रियों को अलग रखने की प्रथा थी किन्तु लड़कियों के लिए शिक्षालय थे। दक्षिण भारत में परिश्रम से ज्ञान प्राप्त कर लेने की ओर लोगों की रुचि थी। ब्राह्मणों का समाज में सम्मान था और देवताओं पर सिर चढ़ाने की प्रथा थी। सती प्रथा का प्रचार वहाँ भी था।"[1] इन सब बातों से यही प्रकट होता है कि उस समय किसी ऐसे पथप्रदर्शक की आवश्यकता थी जो मुसलमानों के अत्याचार से भी न डरे और हिन्दू धर्म की संकीर्णता की उपेक्षा करके किसी सुदृढ़ ज्ञान के आधार पर दैनिक जीवन शान्तिपूवक बिताने का मार्ग दिखा सके।

साहित्य :

१४वीं शताब्दी में संस्कृति के अन्य अंगों के समान ही साहित्यिक वातावरण भी अस्त-व्यस्त था। वीरगाथा काल समाप्त होने से पहले ही साहित्य के क्षेत्र में संक्रान्ति काल आरम्भ हो गया था। अलाउद्दीन खिलजी ने उत्तर भारत पर अपना आधिपत्य जमा लिया था, दक्षिण भारत पर भी उसके हमले प्रारम्भ हो गए थे। वीरगाथा सम्बन्धी साहित्य की रचनाएँ समाप्त नहीं हुई थीं, परन्तु मध्ययुगीन भक्ति काव्य की सभी धाराएँ इसी शताब्दी में फूटने लगी थीं। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास में चौदहवीं शताब्दी के साहित्य की परिस्थिति इस प्रकार दिखलाई है[2]—

---

१. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव, भूमिका, पृ० ३०।

२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ३०६।
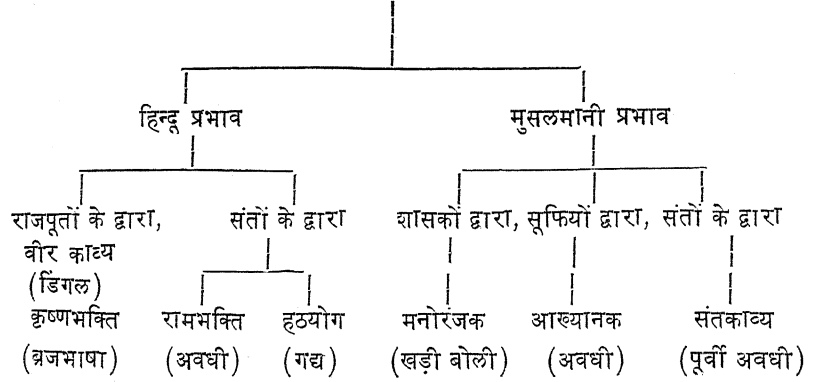
वीरगाथाकाल और भक्तिकाल इन दो युगों को जोड़नेवाले काल विशेष में वीरकाव्य की परम्परा लुप्त नहीं हो गयी थी। और भी कई प्रकार के साहित्य का सृजन हुआ था जिसमें मुख्य–श्रृंगारपरक, योगपरक, मनोरंजक व सूफी विचारधारा के अन्तर्गत रची गयी पुस्तकें आती हैं। इन उपर्युक्त धाराओं से संबंधित कवियों के नामों में श्रृंगार के सम्बन्ध में अब्दुर्रहमान, योगधारा के संबंध में गोरखनाथ व नामदेव, मनोरंजक साहित्य के संबंध में अमीर खुसरो व प्रेमकथा के लिए मुल्ला दाऊद के नाम इतिहासकारों के मतानुसार उल्लेखनीय हैं। अब्दुर्रहमान का ग्रन्थ 'सन्देशरासक' माना जाता है जिसके सम्बन्ध में मतभेद है[1]। मुल्ला दाऊद की 'चंदावन' का नाम प्रसिद्ध है। अन्य कवियों ने मुक्तक काव्य की रचना की। 'हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास' में एक उल्लेख है कि 'ढोला मारू रा दूहा' प्रेमगाथा होते हुए भी मुक्तक काव्य के विशेष समीप है। यह मूलतः ढोला द्वारा परित्यक्त मारवणी का गीत है। इसकी रचना का काल विक्रम की १३वीं शताब्दी है।[2]

कृष्णकाव्य धारा में जयदेव का काल समाप्त होने के अनन्तर विक्रम की १४वीं शताब्दी के अन्त में विद्यापति का जन्म माना जाता है।[3] अर्थात् ईसा की चौदहवीं शताब्दी में विद्यापति की रचना का समय आ जाता है। रामभक्ति धारा को देखें तो पता चलता है कि राघवानन्द विक्रम की १४वीं शताब्दी में रामानन्द को दीक्षित कर परलोक सिधारे थे।[4] रामानन्द ने रामभक्ति का प्रचार अनेक प्रकार से किया, जिससे देश में रामभक्ति साहित्य की सुदृढ़ नींव

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग १, खण्ड २, अध्याय ४, पृ० ३७६।
२. वही, पृ० ४०४।
३. वही, पृ० ३९३।
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० १०७।

पड़ी। 'कहा जाता है, उन्होंने स्वयं कुछ पद हिन्दी में लिखे और अपने शिष्यों को हिन्दी में लिखने के लिए प्रेरणा भी दी।'[१]

हठयोग साहित्य के प्रमाण में जायसी तथा अन्य प्रेमगाथाकार कवियों के उद्धरण दिए जाते हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का इस संबंध में स्पष्ट कथन है कि 'भक्तिवाद के पूर्व यह सबसे प्रबल मतवाद था।[२] नामदेव का नाम गोरखनाथ की परम्परा में माना गया है।

मनोरंजक साहित्य में खुसरो का नाम बहुत प्रसिद्ध है। खुसरो को अलाउद्दीन खिलजी का समसामयिक (अर्थात् विक्रम की १४वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) माना जाता है।[३]

आख्यानक काव्य में मुल्ला दाऊद और उनकी रचना चंदावन उल्लेखनीय है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार—'उत्तरी भारत की प्रधान साहित्यिक भाषा के रूप में अवधी का विकास चौदहवीं शती में हो चुका था। जैसा कि मौलाना दाऊद कृत उसके प्रथम प्रेमकाव्य 'चंदावन' या 'लौरचंदा' (१३७० ई०) से ज्ञात होता है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के बहुमुखी उत्तराधिकार को अवधी भाषा ने प्राप्त किया था।'[४] फिर एक और स्थल पर—'मुल्ला दाऊद ने १३७० ई० में अपनी चंदायन नामक प्रेमगाथा की रचना शुद्ध अवधी में रामचरितमानस से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व और पदमावत से पौने दो वर्ष पूर्व की थी। तब से इस विशिष्ट भाषा में जो साहित्य निर्माण की परम्परा शुरू हुई उसका क्रम उन्नासवीं शती तक जारी रहा। [अवधी भाषा का साहित्य मुल्ला दाऊद कृत चंदायन (१३७० ई०) इसी की खंडित प्रति मनेरशरीफ खानकाह पुस्तकालय में प्रो० हसन असकरी को मिल गयी है,[५]]

संत काव्य के लिए यह शताब्दी विशेष महत्वपूर्ण है। रामकाव्य और संतकाव्य दोनों का मूलस्रोत रामानन्द बताए जाते हैं। असल में इस पूरी शताब्दी की संक्रान्ति के पीछे और सब तो था ही परन्तु रामानन्द के व्यक्तित्व का सबसे बड़ा हाथ था। रामानन्द ने ही जाति पाँति को तोड़ा, स्त्रियों को भक्ति के क्षेत्र में आने दिया, भाषा के मामले में प्रगतिशील विचार क्रियान्वित किए। सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने तत्ववाद पर अधिक बल न देकर व्यवहारपरक भक्ति पर अधिक बल दिया। रामानन्द ने स्वयं लिखा, शिष्यों से लिखवाया और पूरे भारत का भ्रमण कर रामभक्ति का प्रचार किया। कबीर आदि संतों को नाथपंथियों से और सिद्धों तथा योगियों से पर्याप्त प्रेरणा मिली। रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 'नामदेव की रचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निर्गुण पंथ के लिए मार्ग निकालने वाले नाथपंथ के योगी और

---

१. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव, पृ० ९८।

२. हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ७०।

३. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग १, खण्ड २, अध्याय ४, पृ० ३९७।

४. पदमावत, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ५, ६।

५. पदमावत, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० २८।

भक्त नामदेव थे।"[1] यहां पर दो बात विशेष दिखलायी देती हैं—पहली यह कि रामानन्द संतकाव्य और रामकाव्य दोनों के मूल में थे, इस प्रकार संतकाव्य के मूल में दो व्यक्तित्व कार्यशील थे—रामानन्द और नामदेव। फलस्वरूप संतकाव्य को एक ओर भक्ति की मज़बूत जड़ मिली, दूसरी ओर योग की संपत्ति मिली। दूसरी बात यह कि कबीर का जन्म ठीक १४वीं शताब्दी की समाप्ति पर माना जाता है। इस आश्चर्यजनक घटना को देख कर ऐसा लगता है कि कबीर जैसे क्रान्तिकारी कवि का व्यक्तित्व इस पूरी संक्रान्तिपूर्ण शताब्दी की देन था।

(ख) वैष्णव धर्म का प्रत्यागमन

कारण

उत्तरी भारत में वैष्णव धर्म वासुदेव धर्म या पांचरात्र धर्म के रूप में गुप्तकाल में वर्तमान था। गुप्तकाल के अनन्तर जो शासक आए उन्होंने वासुदेव धर्म को नहीं स्वीकार किया। भारत के उत्तरी भाग में वैष्णव धर्म का ह्रास होने लगा। उत्तरी भारत से यह वैष्णव धर्म दक्षिण भारत पहुँचा। दक्षिण भारत में आलवार[2] भक्तों के कारण वैष्णव धर्म को बहुत बल मिला।

दक्षिण भारत में इस धर्म की विशेषता, इसकी भक्ति भावना विशेष रूप से प्रकट हुई। आलवारों की रचनाएँ साहित्यिक या धार्मिक थीं।

दूसरी ओर यह स्थिति थी कि शंकराचार्य ने भक्ति में निहित द्वैतता की भावना का खंडन शास्त्रीय ढंग से किया था। भक्ति में भगवान और भक्त दो की स्थिति अवश्यम्भावी है, और शंकराचार्य ने शुद्ध अद्वैतवाद की स्थापना की। शंकराचार्य ने अपने मत का शास्त्रीय प्रणाली से प्रतिपादन किया साथ ही पर्यटन करके पूरे भारत में अपने सिद्धान्तों का प्रचार भी किया। अतः ऐतिहासिक व भौगोलिक दोनों दृष्टियों से अद्वैतवाद की सबल स्थापना हुई। सिद्धान्तों की सुदृढ़ स्थापना का यह शास्त्रीय और पर्यटन का मार्ग शंकराचार्य दिखा चुके थे। शंकराचार्य ने विभिन्न दिशाओं में अपने मठों की स्थापना की थी। वैष्णव धर्म के आचार्यों ने ११वीं शताब्दी के बाद सिद्धान्तों के प्रचार का यही मार्ग अपनाया पहले शास्त्रीय प्रणाली से अपने मत की स्थापना, दूसरे पर्यटन करके भारत के विभिन्न कोनों में अपने सिद्धान्तों का प्रचार।

सर्वविदित बात है कि लगभग १३वीं शताब्दी के अंत तक रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी और निम्बार्काचार्य वैष्णव धर्म को शास्त्रीय रूप दे चुके थे। सभी आचार्यों का जन्म

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० ६५।

२. "वैष्णव आलवार भक्तों का काल ईसा की पाँचवीं शती से नवम् शती के मध्य का स्थिर किया जाता है। इन आलवारों में श्रीकृष्ण को ही पुरुष स्वीकार करके पूज्य देवता माना जाता था। भक्तगण अपने को नायिका (स्त्री) मानते थे। इन भक्तों के चार हजार पद श्रीकृष्ण लीला से संबद्ध पाए जाते हैं"—राधावल्लभ सम्प्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० १८१।

सम्भवतः दक्षिण भारत में हुआ था।[1] दक्षिण भारत में इन आचार्यों ने अपने मत की पहले स्थापना की। अपने सिद्धान्तों को सुदृढ़ रूप देने के पश्चात् ये आचार्य पूर्व उत्तर की ओर बढ़े। उत्तर भारत में इन आचार्यों ने अपने संप्रदायों की स्थापना की। इन संप्रदायों के निरीक्षण में वैष्णव धर्म के विभिन्न रूपों का अत्यधिक प्रचार हुआ।

रामानुज से लेकर कई शताब्दियों तक आगे होने वाले आचार्यों ने संस्कृत में भाष्य व मौलिक ग्रन्थ लिख कर वैष्णव धर्म को शास्त्रसम्मत रूप दिया, जिसका प्रभाव यह हुआ कि वैष्णव धर्म को विद्वानों के वर्ग में भी मान्यता प्राप्त हुई।

उत्तरी भारत में वैष्णव धर्म का पुनः प्रचलन हुआ इस तथ्य के मूल में भाषा भी एक अत्यन्त सहायक तत्व के रूप में थी। दक्षिण में वैष्णव धर्म का प्रचार करने में आलवारों के भजन बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आलवारों की रचनाएँ जनभाषा में थीं। जनजीवन में इन गीतों और भजनों का प्रचार इसीलिए बड़ी सरलता से हुआ। यह बात अत्यन्त स्वाभाविक है कि जनभाषा में जब साहित्य रचना होगी तब वह जनजीवन में अधिक सरलता से प्रचार पा सकती है। उत्तरी भारत में वैष्णव धर्म के प्रत्यागमन में सहयोग देनेवाले जो विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय हुए उन्होंने धर्म के प्रचार के हेतु जनता की भाषा को अपनाया। अनेक कवियों को संप्रदायों में आश्रय मिला एवं इन कवियों की रचनाओं के माध्यम से संप्रदायों ने धर्म का प्रचार करने का प्रबल प्रयास किया। इस तथ्य में कोई संदेह नहीं है कि मध्ययुग में उत्तरी भारत में वैष्णव धर्म से सम्बन्धित रचनाएँ जब अवधी और ब्रजभाषा में प्रकट हुईं तब इस धर्म को लोक में स्वतः महत्वपूर्ण स्थान मिल गया।

वैष्णव धर्म के उत्तरी भारत में पुनः व्यापकत्व प्राप्त करने का एक और कारण यह था कि इस धर्म से सम्बन्धित साहित्य गेय रूप में था। वैष्णव धर्म को मानने वाले कवियों ने जिस साहित्य का सृजन किया उसका अधिकांश मुक्तक गीतों के रूप में है। इन गीतों और भजनों के रूप में भक्तों के पद बड़ी शीघ्रता से जनता के कंठ में स्थान पा गए।

वैष्णव धर्म का उत्तर भारत में फिर से स्थापन करने में एक सबल कारण इस धर्म की सामाजिक उदारता थी। यह बात प्रसिद्ध है कि रामानन्द का अपने गुरु राघवानन्द से जाति पाँति के विषय को लेकर मतभेद हो गया था। रामानन्द का दृष्टिकोण अपने गुरु की अपेक्षा अधिक उदार था। जाति पाँति के बन्धनों को भक्ति के क्षेत्र में स्थान देना उन्हें स्वीकार न था। रामानुज सम्प्रदाय में छुआछूत, जाति पाँति आदि का भेदभाव अधिक था। राघवानन्द ने भी इस परम्परा को माना था। परन्तु रामानन्द ने अपने सम्प्रदाय में नाई, जाट, क्षत्रिय, जुलाहा,

---

१. रामानुज, सन् १०३७ से ११३७ ई०।
जन्मस्थान, परमवट्ठूर, मद्रास के निकट।
मध्वाचार्य, जन्म सन् १२५७, जन्मस्थान उदीपी, मंगलोर के निकट।
विष्णुस्वामी, सन् १३०० के लगभग, संभवतः दक्षिण निवासी।
निम्बार्क, बारहवीं शताब्दी, जन्मस्थान तेलगू प्रदेश।

चमार, ब्राह्मण और स्त्री आदि सभी को समाविष्ट कर लिया। इस प्रसंग को यहां उद्धृत करने का तात्पर्य इतना ही है कि इस प्रकार की सामाजिक उदारता इस धर्म के पुनर्स्थापन में बहुत सहायक सिद्ध हुई।

वैष्णव धर्म के प्रत्यागमन में चौथी बात जो विशेष सहायक हुई वह थी इस धर्म की सरलता। क्लिष्ट कर्मकाण्डों का इस धर्म के अन्तर्गत समावेश नहीं था। अधिक धन की अपेक्षा रखने वाली यज्ञादि क्रियाओं का करना इस धर्म के मानने वालों के लिए आवश्यक नहीं था। बहुत संयम नियम की भी अपेक्षा नहीं थी। साधारण गृहस्थ जीवन के साथ वैष्णव धर्म का सुन्दर सामंजस्य था। आरम्भ से अन्त तक इसमें एक ही बात की प्रधानता थी, वह थी भक्ति। भक्ति का सीधा संबंध हृदय से होता है। फलस्वरूप वर्णहीन, धनहीन, बुद्धिहीन व्यक्ति भी बड़े से बड़ा वैष्णव हो सकता था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिस सरल साधारण जनहृदय को राज्य के विदेशी अंकुश में आश्रय नहीं मिला, पंडित वर्ग के सामाजिक वैषम्य में स्थान नहीं मिला, उस भोले जन हृदय को जब वैष्णव धर्म ने अपनाया तब सरलता से वैष्णव धर्म जनमानस में प्रविष्ट हो गया।

तात्कालिक प्रभाव और महत्व

पंद्रहवीं सोलहवीं शताब्दी में वैष्णव धर्म उत्तर भारत में व्यापक रूप से फैल गया था, यह निर्विवाद सत्य है। वैष्णव धर्म के अनेक संप्रदायों ने साहित्य के क्षेत्र में अनोखा कार्य किया। कवियों को राज्याश्रय का अभाव था। संप्रदाय के आचार्य अपने सिद्धान्तों के प्रचार के हेतु कवियों को प्रेरणा देते थे। संप्रदाय के सिद्धान्तों को पुष्ट करने वाले पदों को संप्रदायगत सिद्धान्तों के प्रचार के हेतु अपना लिया जाता था। वल्लभ सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय, राधवाल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय आदि के अंतर्गत अनेक प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं। इन सम्प्रदायों ने कवि प्रतिभा को बहुत प्रोत्साहन दिया, यह निस्सन्देह स्वीकृत तथ्य है। यद्यपि साथ ही यह भी सत्य है कि कवि प्रतिभा इन संप्रदायों की सीमा में बँध कर नहीं चली, परन्तु यह अवश्य था कि इन वैष्णव धर्मों के माननेवाले संप्रदायों से कवियों को सहारा मिला। विपत्ति में कवियों को व्यक्तिगत रूप से भी इन संप्रदायों ने सहारा दिया। भक्त कवियों की रचनाओं को प्रेरणा शक्ति प्रदान करने और उनका प्रचार करने में इन संप्रदायों का अमूल्य योगदान रहा है। संप्रदायों ने भक्त कवियों के पदों का प्रचार अपने सिद्धान्तों के प्रचार के हेतु किया था। साम्प्रदायिक सिद्धान्तों को जनता कहाँ तक ग्रहण कर सकी यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से प्रचार किए गए पदों का जनमानस में प्रवेश अवश्य हो गया। इस प्रकार भक्ति साहित्य जनता के पास तक पहुँचा। अन्य साधनों के अभाव में जनता तक साहित्य पहुँचाने में इन सम्प्रदायों ने जो कार्य किया वह अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण है।

वैष्णव धर्म में अवतार भावना को विशेष मान्यता मिली हुई थी। श्रीराम और श्रीकृष्ण के अवतार विशेष रूप से उपासना के लिए स्वीकृत थे। श्रीकृष्ण को लेकर हिन्दी भाषा में वृहद्

साहित्य का सृजन हुआ। परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियों से जितना साहित्य कृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित है उतना अन्य किसी एक विषय को लेकर कोई साहित्य न होगा। राम के परम पुरुषोत्तम रूप को लेकर भी महत्वपूर्ण साहित्य लिखा गया। रामचरितमानस की रचना पर पूर्ण रूप से वैष्णव धर्म की छाप है।

इन अवतारों की भावना ने जनमानस की प्रवृत्तियों को उदात्त रूप देने में भी अनोखा कार्य किया। राम और कृष्ण जैसे इष्ट देवों को पाकर जनता को अपने विषम दैनिक जीवन में साकार दैविक आश्रय मिल गया। गुजरात से लेकर उड़ीसा और बंगाल तक की जनता के हृदय में यह दोनों अवतार सदैव के लिए स्थान पा गए। सामाजिक दृष्टि से वैष्णव धर्म का प्रभाव एक और कारण से भी महत्वपूर्ण है। उस समय जनता बड़ी संख्या में मुसलमान हो रही थी, कारण था हिन्दू समाज में प्रचलित छुआछूत, जाति पाँति आदि की कट्टरता। अनेक प्रकार की संकुचित भावनाएँ जनजीवन में समा गयी थीं। हिन्दू जनता का अधिकांश--धर्म परिवर्तन कर लेता ऐसी सम्भावना थी। ऐसे विकट संकटकाल में वैष्णव धर्म के आगमन से परिणाम यह हुआ कि एक बड़ी संख्या मुसलमान होने से बच गयी। हिन्दू धर्म के ही अन्तर्गत कुछ अत्यन्त विकृत सम्प्रदाय थे। वैष्णव धर्म को मान कर इन विकृत सम्प्रदायों के चंगुल से बच जाने में भी भलाई हुई। वैष्णव धर्म में एक ही मुख्य बात थी भक्ति। इस भक्ति को अपनाने वाला व्यक्ति योगियों के झूठे प्रपंच, व्यर्थ के अन्धविश्वासों से मुक्ति पा गया। सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वैष्णव धर्म गृहस्थ जीवन का खंडन न करके उसकी पुष्टि करता था। व्यर्थ के लिए 'मूँड़ मुड़ाय होय सन्यासी' को प्रोत्साहन नहीं देता था। अतः सामाजिक उन्नति में ऐसा धर्म सहायक होता, यह स्पष्ट है। गृहस्थ धर्म का निर्वाह करते हुए सरल आचारविचार, शुद्धता, नम्रता के साथ भक्ति की भावना को अपना लेने से समाज का अत्यन्त कल्याण हुआ।

साहित्य और समाज के अतिरिक्त वैष्णव धर्म का मध्ययुगीन कला के क्षेत्र में भी महत्व है। राम तथा कृष्ण के अवतारों को लेकर संगीतकला, चित्रकला व स्थापत्य कला को बहुत सामग्री मिली। श्रीकृष्ण की लीलाओं ने अपने नाम के अनुसार सभी को बहुत आकर्षित किया। विष्णु के इन अवतारों को लेकर जिस कला का सृजन हुआ वह आज भी देश विदेश में मान्य है।

निष्कर्ष यह कि वैष्णव धर्म के मध्ययुग में प्रत्यागमन से साहित्य समाज और कला-तीनों को जो उत्कर्ष मिला वह अमूल्य है।

(ग) विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं का उद्भव और विकास

किसी भी धार्मिक विचारधारा का उद्भव कहाँ किस प्रकार हुआ यह ठीक ठीक निर्णय करना सरल कार्य नहीं है। जब जो विचारधारा हमारे सम्मुख स्फुट रूप में सामने आती है तभी उसका जन्मकाल हम मान लेते हैं। परन्तु उस स्फुट होने की पृष्ठभूमि में प्रत्येक विचार-धारा का एक सुदीर्घ इतिहास होता है जो प्रकाश में नहीं आ पाता। मध्ययुग में अनेक धार्मिक विचारधाराएँ अस्तित्व में थीं, परन्तु प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में यहाँ केवल निर्गुण विचारधारा

और सगुण विचारधारा को ही लिया जायगा। इन दोनों विचारधाराओं में भी केवल दो-दो शाखाएँ ही हिन्दी साहित्य में विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं—निर्गुण विचारधारा के अन्तर्गत निर्गुनिए संतों और सूफी संतों की शाखाएँ, सगुण विचारधारा के अन्तर्गत रामभक्ति और कृष्ण-भक्ति की शाखाएँ।

निर्गुनिए संतों की शाखा : उद्भव और विकास

हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से निर्गुनिए संतों का सर्वप्रथम स्थान है। इन संतों के लिखे हुए साहित्य को तीन प्रकार के नाम दिए गए हैं। पहला नाम है ज्ञानाश्रयी शाखा। इस नामकरण से ऐसा द्योतित होता है कि मानो इस विशिष्ट हिन्दी काव्य धारा में ज्ञानकाण्ड की प्रधानता होगी। दूसरा नाम है निर्गुण भक्ति धारा और तीसरा नाम है संत काव्य परम्परा। दूसरे नाम में ऊपर से देखने पर असंगति जान पड़ती है क्योंकि भक्ति तो सगुण की हो सकती है, निर्गुण की भक्ति स्वयं अपने आप में एक विरोधाभास सा प्रतीत होती है। यह विरोधाभास इस काव्यधारा में साकार रूप में प्रकट है। किसी भी निर्गुनिए संत की रचनाएँ देखने से यह तथ्य सामने आता है कि निर्गुण रूप को स्वीकार करते हुए भी आरम्भ से अन्त तक उसमें भक्ति की भावना ओतप्रोत है। ऊपर उल्लेख किया गया है कि ज्ञानाश्रयी शाखा कहने से इस शाखा में ज्ञानकाण्ड की प्रधानता का बोध होता है। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इस काव्य धारा में प्रेम पर विशेष बल दिया गया है। 'ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय' यह घोषित करता है कि इस शाखा के प्रवर्त्तकों के लिए प्रेम ही सब कुछ था। गहराई से देखने पर ज्ञात होता है कि इन संतों ने अपने साहित्य में यद्यपि प्रेम पर एवं भक्ति पर बल दिया है परन्तु इस शाखा के समस्त साहित्य की पृष्ठभूमि में और उसके परिणाम में एक ही सत्य वर्तमान है—स्वानुभूति। इस 'स्व' का ज्ञान इन संतों की अपनी अनोखी विशेषता रही है। समस्त ऊपरी ज्ञान की अवहेलना करते हुए जो संत यह कहते हैं 'पोथी देय बहाय' वही संत ऐसे मनुष्य को निरादर की दृष्टि से देखते हैं जो आत्मज्ञानी नहीं है। जो मनुष्य शास्त्र ज्ञान से युक्त है परन्तु आत्मज्ञान से रहित है वह वास्तव में अज्ञानी है। शास्त्र ज्ञान उस अध्यात्म ज्ञान का मात्र मार्ग है। शास्त्र ज्ञान लक्ष्य नहीं है । इसी प्रकार के आत्मज्ञान को, जिसे पारिभाषिक रूप में बराबर स्वानुभूति की संज्ञा दी गई है संत साहित्य में प्रधानता मिली है। तीसरा नाम 'संत काव्य परम्परा' ऊपरी ढंग से देखने पर यह प्रकट करता है कि ऐसी काव्य परम्परा जिसके रचयिता लौकिक विषयों में लगे हुए साधारण कवि नहीं हैं वरन् जिस काव्य परंपरा के रचयिता ऐसे संत हैं, जो संसार से विलग हो चुके हैं, जो संसार में रहते हुए भी इस संसार से दूर हैं। परन्तु इसके आन्तरिक अर्थ यह हो सकते हैं कि ऐसी काव्य परम्परा जिसका विषय सत्य है और जिसके रचयिता सत्य के अन्वेषक आध्यात्मिक पुरुष रहे हैं।

नामों के आधार पर उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह निष्कर्ष दृष्टिगोचर होता है कि प्रस्तुत विवेच्य काव्यशाखा के पीछे स्वानुभूति, निर्गुण रूप पर विश्वास, भक्ति, सत्य का अन्वेषण तथा वैराग्य—मुख्य तत्व थे।

उपर्युक्त पाँचों तत्वों का समावेश किस एक धार्मिक विचारधारा अथवा अनेक धार्मिक विचारधाराओं में था, जहाँ से कि ये तत्व निर्गुनिए संतों ने ग्रहण किए और अपने साहित्य की नींव पुष्ट की, यह बात यहाँ अन्वेषणीय है।

रोचक विषय यह है कि ये समस्त तत्व हमारे देश की विभिन्न धार्मिक व दार्शनिक विचारधाराओं में पूर्वकाल में वर्त्तमान थे। भारत में अति प्राचीनकाल से बड़ी सबल धार्मिक विचारधाराएँ जन्म लेती रही हैं। और कई शताब्दियों तक प्रवाहित होने के उपरान्त अन्य नई विचारधाराओं में समा गई हैं। निर्गुण धारा की प्रस्तुत विवेचनीय विशिष्ट काव्य शाखा से जिन विचारधाराओं का सम्बन्ध है उनके स्रोत बौद्ध धर्म, ऐकांतिक धर्म, वेदान्त, नाथ व सिद्ध थे। इन चारों विचारधाराओं में निर्गुनिए संतों की विचारधारा के उद्भव के बीज निश्चित रूप से मिलते हैं। बौद्ध धर्म से शून्य व निरति, ऐकांतिक धर्म से भक्ति, वेदान्त से ब्रह्म के विषय में मुख्य तत्व, नाथों से योग और सिद्धों से स्वानुभूति, इतने तत्वों से अपनी नींव का पुष्टीकरण करने के उपरान्त इस विशिष्ट निर्गुणी शाखा का सशक्त महल खड़ा किया गया है। यही कारण है कि यह शाखा वास्तव में सशक्त है।

इस निर्गुणी शाखा की एक सबसे बड़ी विशेषता थी सार ग्रहण करके थोथा बहा दिया जाय। ऊपर चार भिन्न धार्मिक विचारधाराओं की ओर सकेत किया गया जिनसे इस निर्गुणी विचारधारा के उद्भव को पहचानने में सहायता मिलती है। परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य धार्मिक विचारधाराओं के भी मूल तत्व ग्रहण करने की इस विचारधारा में प्रवृत्ति थी। साथ ही यह तथ्य है कि प्रत्येक ग्रहण किए हुए तत्व को निर्गुनिए संतों ने बिल्कुल नवीन रूप में प्रस्तुत किया।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जो भक्ति भावना ऐकान्तिक धर्म में उद्भूत हुई थी वह अपने समानान्तर बहने वाली एक और भिन्न विचारधारा--जो कि उस समय बहुत प्रबल थी--बौद्ध धर्म के साथ चल कर १८ शताब्दियों तक तरह तरह के परिवर्तनों के अनन्तर भी निरन्तर प्रवहमान रही। इस बीच शंकराचार्य का मायावाद और अद्वैतवाद अपनी गहरी छाप डाल गया, उपनिषद् और वेदान्त के सिद्धान्त भी आकर्षक शैली में कहे जाने के कारण उसमें मिला लिए गए। गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित योग, नाथ संप्रदायों के षट्चक्र और कुंडलिनी की चमत्कार-वादिता या उल्टी सीधी भाषा में कहे गए जीवन के सत्य, इन सबों ने मिल कर निर्गुण भक्ति शाखा की पीठिका का निर्माण किया। लेकिन इन सबों के ऊपर मुख्य प्रवृत्ति भक्ति की थी। भक्ति का विषय निर्गुण हो जाने के कारण इस विशिष्ट धार्मिक शाखा में अवतारवाद का सबसे पहले खंडन किया गया। किन्तु निर्गुण की भक्ति एक समस्या बनी रही।

जिस समय इस शाखा का जन्म हो रहा था उसी समय इस्लाम की 'बाशरा' शाखा और 'बेशरा' शाखा दोनों ही भारतवर्ष में पदार्पण कर चुकी थीं। निर्गुण भक्ति शाखा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सारग्राहिता थी। समस्त भारतीय विचारधाराओं का सार जिसमें सन्निहित था वह इस्लाम और उसी की एक अन्य प्रणाली सूफ़ी विचारधारा से भी सार ग्रहण करने में समर्थ हुई। इस्लाम के एकेश्वरवाद और संतों के एकेश्वरवाद में जो भेद था उसको कबीरदास ने इन शब्दों में प्रकट किया है--'मुसलमान का एक खुदाई, कबीर का स्वामी रह्या समाई।'

तात्पर्य यह है कि १४वीं शताब्दी तक आविर्भूत जितनी भी दार्शनिक और धार्मिक प्रणालियाँ भारतवर्ष में थीं उन सभी के सारतत्वों को ग्रहण करके और कर्मकांड तथा निरर्थक बातों का त्याग करके एक पुष्ट, निर्मल, स्वतंत्र, भक्ति से ओतप्रोत निर्गुण भक्तिशाखा का प्रवाह १५वीं शताब्दी में पृथक रूप में दिखलायी दिया।

सूफ़ियों की प्रेमाश्रयी शाखा : उद्‌भव और विकास

सूफ़ी काव्यग्रन्थों को पढ़ने से यह स्पष्ट है कि सूफ़ी विचारधारा इस्लाम धर्म का एक अंग है। परन्तु सूफ़ी विचारधारा में अनेक ऐसी बातें बाह्य प्रभावों के कारण मिल गयीं जिससे आरम्भ में सूफ़ी विचारधारा और इस्लाम धर्म में विरोध उपस्थित हो गया। उदाहरण स्वरूप जन्मांतरवाद, विरक्ति, बहुदेववाद आदि सूफ़ी विचारधारा में मान्य हैं। जन्मान्तरवाद भारतीय प्रभाव के फलस्वरूप है। भारतीय वेदान्त का प्रभाव भी बराबर सूफ़ी विचारधारा पर बतलाया जाता है।

सूफ़ी विचारधारा के उद्‌भव के सम्बन्ध में आ० परशुराम चतुर्वेदी और डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का मत बहुत कुछ मिलता है। डा० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल का विचार है कि सूफ़ी मत सर्वप्रथम अरब में उद्‌भूत होकर फ़ारस में जाकर विकसित हुआ। फ़ारस में अपने विकास काल में इस विचारधारा का संपर्क भारतीय संस्कृति से हुआ।[1] इसी प्रकार परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि सूफ़ी विचारधारा की रचनाएँ सर्वप्रथम फ़ारसी भाषा में हुई होंगी—तदनन्तर फ़ारसी काव्य के आदर्श ने अन्य भाषा के साहित्यों को भी प्रभावित किया होगा।[2]

भारत में मुस्लिम आक्रमण होने के पहले से ही सूफ़ी साधक आने लगे थे, और भारत में प्रविष्ट होने के पूर्व ही सूफ़ी धर्म वेदान्त से प्रभावित हो चुका था। इस सम्बन्ध में डा० रामकुमार वर्मा का मत उल्लेखनीय है—

"सूफ़ी सम्प्रदाय में वेदान्त की पूरी पृष्ठभूमि है और अपने मूल रूप में सूफ़ी सम्प्रदाय वेदान्त का रूपान्तर मात्र है।[3] इस बात को स्वीकार करने में मुसलमान लेखकों को आपत्ति है कि वेदान्त का प्रभाव सूफ़ी धर्म पर पड़ा।"[4] डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का कथन भी अप्रत्यक्ष रूप से इस मत की पुष्टि करता है "सूफ़ी लोग ठीक एकेश्वरवादी नहीं हैं। उनका विश्वास

---

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ८२।

२. 'फ़ारसी काव्य के आदर्श ने अन्य भाषाओं के साहित्यों पर भी अपना प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया, भारत में उर्दू काव्य को पूर्णतः अधिकृत कर लिया और हिन्दी काव्य में भी प्रेमगाथा परंपरा चला दी।'—सूफ़ी काव्य संग्रह, आ० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १८।

३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ४३०।

४. वही, पृ० ४३१।

बहुत कुछ इस देश के विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिक की भाँति है।"[१] डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने आन्तरिक सिद्धान्तों का प्रभाव स्वीकार करते हुए यहाँ तक कह दिया कि "सूफ़ियों पर भारतीय संस्कृति का इतना प्रभाव पड़ा था कि उनके दिल में मूर्ति के लिए भी विरोध न रह गया था और वे 'बुत' के परदे में भी खुदा को देख सकते थे।"[२] भारतीय योग के प्रभाव को पं० रामचंद्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया है—"अपना भावात्मक रहस्यवाद लेकर सूफ़ी जब भारत में आए तब यहां उन्हें केवल साधनात्मक रहस्यवाद योगियों, रसायनियों और तांत्रिकों में मिला।"[३]

उपर्युक्त कथनों के आधार पर यह स्पष्ट है कि सूफ़ी विचारधारा का मूल यद्यपि इस्लाम धर्म में था, तथापि अपने विकास काल में उस पर आन्तरिक व बाह्य दोनों दृष्टियों से पर्याप्त रूप में भारतीय दर्शन और साधना का प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप हिन्दू विचार-परम्परा और सूफ़ी विचार परम्परा में अत्यधिक समानता दृष्टिगोचर होती है।

संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि ९वीं शताब्दी में सदाचरण-शील सूफ़ियों से यह विचारधारा जन्म पाकर १०वीं और ११वीं शताब्दियों में चिंताशील सूफ़ी सन्तों के सम्पर्क में आने के कारण अनेक प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्तों से सशक्त हुई। १२वीं शताब्दी के लगभग भारत में इसने प्रवेश किया, यद्यपि सूफ़ी साधुओं का इससे भी पहले भारत में आना आरम्भ हो गया था। १२वीं से १६वीं शताब्दी के मध्य विभिन्न साधक कवियों और धर्मोपदेशकों के आश्रय में इस विचारधारा का अपना साहित्य बन गया। ऐसा प्रतीत होता है कि सूफ़ी विचारधारा जो मूल रूप में इस्लाम धर्म के स्रोत से प्रवाहित हुई थी, अपने विकास काल में इस्लाम से अधिकाधिक दूर हो गई। इस प्रतीति का मुख्य कारण यही समझना चाहिए कि सूफी साहित्य हिंदुओं के प्रति सहिष्णु था। हिन्दुओं की कहानियाँ, शैली एवं व्यवहार को अपना लेने से सूफ़ी साहित्य हिन्दुओं के निकट आ गया। और जो कुछ भी हो इतना स्पष्ट है कि सूफ़ी विचारधारा ने इस्लाम की भाँति हिन्दू धर्म का विरोध नहीं किया।

रामभक्ति शाखा : उद्भव और विकास

रामभक्ति की विचारधारा भारतवष में बहुत प्राचीन है। अतिप्राचीन बौद्ध धर्म के प्रचार के पूर्व ही रामभक्ति का उदय हो चुका था। जिन दिनों बौद्ध धर्म का प्रचार प्रबल रूप में हो रहा था उन दिनों राम को महामानव रूप प्रदान करने के प्रयत्न अन्तःसलिला के रूप में वर्तमान थे। राम की भक्ति का विकास उनको देवता के पद पर आसीन करने के लिए बराबर होता रहा। वाल्मीकि ने अपनी रामायण में राम को मानव के रूप में चित्रित किया है, परन्तु उस आदि कवि का हृदय राम की भक्ति से परिपूर्ण था। रामायण के रचयिता वाल्मीकि का समय लगभग ई० पू० ६०० माना जाता है। वाल्मीकि को आदि कवि माना जाता है। फलस्व-

---

१. मध्यकालीन धर्म—साधना, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २०६।

२. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डा० पीताम्बर बड़थ्वाल, पृ० ८२।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० ६९।

रूप यह कहा जा सकता है कि भारतीय कविता का आविर्भाव रामभक्ति की विचारधारा को लेकर हुआ।

इस अतिप्राचीन रामभक्ति-विचारधारा का विशेष विकास आठवीं शताब्दी के बाद हुआ। आठवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक राम के रूप में परिवर्द्धन होता रहा।[१] राम को प्रारम्भ से ही विष्णु का अवतार माना गया है। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में 'विष्णु-पुराण' (सन् ४०० ई०), 'राम पूर्वतापनीय उपनिषद्' और 'राम उत्तरतापनीय उपनिषद्' ने राम को ब्रह्म का अवतार घोषित करने में विशेष सहायता दी।[२] इसके पश्चात् "अगस्त्य सुतीक्ष्ण संवाद संहिता' और 'अध्यात्म रामायण' ने राम को देवत्व का पद देकर उनके अलौकिक रूप को और अधिक पुष्ट किया। अन्त में ग्यारहवीं शताब्दी में 'भागवत पुराण' में राम की महिमा का विस्तृत विवरण मिलता है।"[३]

रामभक्ति के प्रचार में सबसे अधिक स्तुत्य कार्य रामानन्द ने किया। जाति बन्धन के प्रति रामानन्द कठोर नहीं थे। इसके परिणामस्वरूप रामभक्ति का प्रचार बहुत व्यापक हुआ। रामानन्द से रामभक्ति सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में प्रभावित हुई। निर्गुण भक्ति में राम को अवतार के रूप में नहीं माना गया था ; सगुण मतवादी भक्त, राम को विष्णु के साक्षात् अवतार के रूप में स्वीकार करके चले। रामभक्ति की विचारधारा ने वैष्णव धर्म का पूर्ण रूप से प्रति-निधित्व किया। ज्ञान एवं कर्म से अधिक भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन इस विचारधारा में मिलता है। भक्ति में भी दास्य भाव की भक्ति को रामभक्ति में विशेष रूप से प्रधानता मिली। रामानंद ने तत्ववाद पर अधिक बल नहीं दिया था। वास्तव में रामानन्द ने राम को उपास्य मान कर 'राम के प्रति अनन्य शरणागति को ही चरम साधना माना था।'[४] राम भक्ति के विषय में रामानन्द का मत इसलिए महत्वपूर्ण है कि हिन्दी साहित्य में रामभक्ति रामानन्द के मतानुसार ही है। डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव ने रामानन्द का मत बड़े विस्तार से दिया है जिसके कुछ महत्वपूर्ण अंश निम्नलिखित हैं:—

"४. सीतापति भगवान राम समस्त गुणों के एकमात्र आकर जगत के हेतु एवं सबके संरक्षक, शेषी तथा उपास्य हैं। वे सबके बन्धु, सबके प्राप्य, सर्वदोषरहित एवं कल्याण गुणाकर हैं। यही भगवान् राम सत्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप तथा चित्स्वरूप हैं और निखिल विभूति के स्वामी हैं।

५. स्वयं विष्णु ही राम के रूप में अवतीर्ण हुए थे। ये राम ही राजा दशरथ के पुत्र थे, जानकी जी उनकी पत्नी थीं, पिता की आज्ञा मानकर उन्होंने चित्रकूट को अपना निवासस्थान

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ४८०।

२. वही।

३. वही।

४. रामानन्द संप्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव, पृ० ९८।

बनाया था और कानन में १४ वर्ष बिता दिए थे। इन्होंने भक्तों के भय को दूर किया था, सुग्रीव को राज्य दिया और रावण को मार कर सबको सुखी बना दिया था।"[१]

डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव ने रामानन्द स्वामी का उपर्युक्त मत पं० रामटहलदास के 'श्रीवैष्णव मताब्ज भास्कर' ग्रन्थ के आधार पर दिया है। रामानन्द ने राम को अद्‌भुत लावण्य युक्त अलौकिक शक्ति सम्पन्न, अनेक कल्याण गुणों का आकर, जगत का कारण और स्वामी, एवं अन्त में अद्‌भुत रूप से भक्तवत्सल माना।

हिन्दी साहित्य में जब रामभक्ति को स्वीकार किया गया तब उपर्युक्त बातों का समावेश कर लिया गया। राम के अवतार को लेकर सांगोपांग कथा उपलब्ध थी। अतः दृश्य, श्रव्य, मुक्तक तथा प्रबन्ध प्रत्येक रूप में रामभक्ति सम्बन्धी साहित्य का सृजन हुआ।

रामानुज की परम्परा में आनेवाले रामानन्द के सम्प्रदाय से जिस रामभक्ति का प्रचार हुआ उसके प्रवर्तक के रूप में शठकोपाचार्य नाम के आलवार भक्त का नाम इस स्थल पर उल्लेखनीय है। समय, स्थान और भक्ति प्रणाली सभी दृष्टियों से शठकोप का नाम महत्वपूर्ण है। रामानुज से भी पांच पीढ़ी[२] पूर्व ये दक्षिण के आलवारों में से एक थे। समस्त आलवारों ने कृष्ण भक्ति सम्बन्धी पदों का सृजन किया था। पर शठकोप ने रामभक्ति को स्वीकार किया था। यह एक अपवाद के रूप में है।

१६वीं शताब्दी में तुलसीदास ने रामभक्ति को अपने साहित्य के द्वारा सदैव के लिए स्थायी कर दिया। रामभक्ति के क्षेत्र में रामचरित-मानस के माध्यम से अत्यधिक प्रचार हुआ। तुलसीदास ने रामभक्ति रामानंद से ग्रहण की, परन्तु अपने ग्रन्थ की आधारशिलाएँ वाल्मीकि-रामायण और अध्यात्म-रामायण को बनाया। रामचरितमानस के माध्यम से रामभक्ति के इतने अधिक सबल होने के कारण थे। पहला कारण यह कि रामचरितमानस दार्शनिक तत्वों की दृष्टि से सशक्त है, दूसरा कारण यह कि सरल भक्ति भावना की पुष्टि इस ग्रन्थ से होती है। सबसे विशेष बात यह थी कि इस ग्रन्थ की भाषा सरल होते हुए साहित्यिक भी थी। अतः साधारण जनता और विद्वन्वर्ग दोनों में इसे समान रूप से आदर मिला। इस ग्रन्थ में उस राम का चरित्र था जिस राम के नाम से जनता भलीभाँति परिचित थी। रामचरित मानस के माध्यम से चिरपरिचित रामनाम की कथा सरल साहित्यिक वाणी में प्रकट हुई अतः रामभक्ति का इस साहित्यिक आधार के फलस्वरूप बहुत व्यापक हो जाना स्वाभाविक था।

कृष्ण भक्ति शाखा : उद्‌भव और विकास

ईसा की कई शताब्दियों पूर्व से कृष्णभक्ति की विचारधारा भारतवर्ष में वर्तमान थी। पाणिनि के 'व्याकरण' में वासुदेव और अर्जुन देव युग्म हैं, यह बात इसका प्रमाण है कि ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व कृष्ण में देवत्व की भावना आ गयी थी। मेगस्थनीज़ ने जिसका काल ईसा के

१. रामानन्द संप्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृ० २४१, २४२।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० १०९।

३०० वर्ष पूर्व मान्य है, लिखा है कि मथुरा और कृष्णपुर में कृष्ण की पूजा होती थी। वासुदेव कृष्ण की पूजा प्रथम मौर्य के समय में प्रचलित थी, इससे यह तात्पर्य निकलता है कि इस पूजा का प्रारम्भ मौर्य वंश की स्थापना के बहुत पहले हो गया होगा। ऐसा भी अनुमान लगाया गया है कि इस पूजा का प्रारम्भ उपनिषदों के साथ ही हुआ, क्योंकि 'महानारायण उपनिषद्' में विष्णु का पर्यायवाची शब्द वासुदेव है। कृष्ण वासुदेव का पर्यायवाची है, अतः कृष्ण ही विष्णु का द्योतक है। इस विषय में भंडारकार का मत भिन्न है, वे वासुदेव और कृष्ण में अन्तर मानते हैं। भंडारकर ने 'सात्वत' नामक क्षत्रिय वंश का पर्यायवाची शब्द 'वृष्णि' बताया है और कहा है कि वासुदेव इसी सात्वत अंश में हुए थे। कृष्ण की भावना के उदय के विषय में 'जर्नल आँव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी' (१९१५, पृ० ५४८) में एक उल्लेख है— 'श्रीकृष्ण की भावना का आविर्भाव ईसा की चौथी शताब्दी के पूर्व ही हो चुका था। श्रीकृष्ण के अनेक नामों में वासुदेव' नाम भी था। हापकिंस का कथन है कि 'महाभारत में श्रीकृष्ण केवल मनुष्य के रूप में ही आते हैं, बाद में वे देवत्व के पद पर अधिष्ठित हुए। पर कीथ के विचारानुसार 'महाभारत' में श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व पूर्णरूप से देवत्व की भावना से युक्त है।'

ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में लिखे गए पुराणों का कृष्ण भक्ति के विकास में मुख्य रूप से सहयोग है। श्रीमद्भागवत् ने इस क्षेत्र में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य किया। परन्तु भागवत् के पहले लिखे पुराणों में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण और हरिवंश पुराण का कृष्ण भक्ति के विकास में विशेष हाथ रहा। इन पुराणों ने कृष्ण के अवतार के प्रति भक्ति की भावना को दृढ़ करने में बहुत सहायता दी। भागवत् आदि पुराणों के अलावा श्रीमद्भागवतगीता के द्वारा कृष्ण-भक्ति का दार्शनिक पक्ष सबल हुआ। पुराणों में कृष्ण चरित्र के माधुर्य पक्ष का वर्णन अधिक था। फलस्वरूप भक्ति के क्षेत्र में कृष्ण का अवतार बहुत लोकप्रिय हो गया। महाभारत में वर्णित कृष्ण ऐश्वर्यशाली थे। उपासना के दृष्टिकोण से पुराणों में वर्णित लीलामय भगवान् कृष्ण का साकार रूप जनसाधारण के लिए अधिक उपयुक्त प्रमाणित हुआ। 'भागवत् पुराण' में श्रीकृष्ण के प्रेममूलक धर्म का प्रतिपादन हुआ है। इस पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण साक्षात् ब्रह्म हैं। राम आदि अन्य अवतार अंशकला हैं।

पुराणों के अनन्तर कृष्ण भक्ति के सक्रिय प्रचार में कुछ आचार्यों व उनके सम्प्रदायों का कार्य महत्वपूर्ण है। निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी नामक आचार्यों ने कृष्ण भक्ति को सिद्धान्तों की नींव देकर पुष्ट किया। हरिवंश ब्रह्मवैवर्त्त और भागवत् पुराण का आश्रय लेकर इन विभिन्न आचार्यों ने कृष्णभक्ति सम्बन्धी अपने व्यक्तिगत सिद्धान्त निर्मित किए। प्रस्थानत्रयी में से किसी एक का या कुछ आचार्यों ने दो या तीनों का भाष्य करके अपने सिद्धान्तों को शास्त्रसमर्थित सिद्ध करके कृष्णभक्ति की स्थापना विद्वन्वर्ग में की। विष्णु के दूसरे अवतार राम की भक्ति का प्रचार देश में अत्यधिक था। परन्तु कृष्ण के लीलामय आकर्षक रूप के कारण और आचार्यों के सद्प्रयत्न के फलस्वरूप कृष्ण-भक्ति रामभक्ति से भी अधिक लोकप्रिय हो गयी। बाद में चलकर वल्लभाचार्य ने कृष्ण के प्रति वात्सल्य और माधुर्य भक्ति के स्वरूप को उभारकर कृष्ण-भक्ति के साथ मानवीय मनोरागों का दृढ़ सम्बन्ध स्थापित कर दिया। वल्लभा-

चार्य ने कृष्ण की प्रेममूर्ति को सर्वसुलभ बनाकर जनता को रसमग्न कर दिया। इस प्रेममय रूप पर बंगाल के श्रीकृष्ण चैतन्य का भी प्रभाव पड़ा। चैतन्य ने कृष्ण के केवल माधुर्य रूप को लेकर उपासना की थी। उनके कीर्तनों का ब्रज में पर्याप्त प्रभाव पड़ा। किन्तु जैसा कि अभी कहा है कि वल्लभाचार्य ने केवल माधुर्यपक्ष को ही नहीं लिया, उनके सम्प्रदाय में वात्सल्य भक्ति की भावना को भी समकक्ष स्थान प्राप्त था। वल्लभाचार्य के पश्चात् राधावल्लभ सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय में कृष्ण का केवल शृंगार रूप गृहीत हुआ। कृष्ण के प्रति जो पवित्र उदात्त मधुर भक्ति की भावना थी, उसमें शृंगार के अतिरेक से विकारों का आविर्भाव अस्वाभाविक नहीं था।

संक्षेप में कह सकते हैं कि कृष्ण भक्ति के उद्गम और विकास में तीन पुराण—हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त्त और भागवत, तीन आचार्य—निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी और तीन सम्प्रदाय—चैतन्य सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय और राधावल्लभ सम्प्रदाय प्रमुख रूप से कार्यकर्ता रहे।

कृष्णभक्ति का विकास कृष्णभक्ति सम्बंधी संप्रदायों तक ही सीमित नहीं रहा। कृष्ण को लेकर हिन्दी में अतुल साहित्य को प्रेरणा मिली। वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध आठ कृष्ण भक्त कवि तथा मीरा, हितहरिवंश, ध्रुवदास, हरिरामव्यास, श्रीभट्ट, श्री हरिव्यास देव आदि ने जिन पदों की सृष्टि की वे मनुष्य को प्रत्येक स्थिति में विभोर करने की शक्ति रखते हैं। कृष्ण भक्ति सम्बन्धी इन भक्त कवियों के पदों में किन्हीं सिद्धान्तों के प्रचार की भावना नहीं है साथ ही किसी साहित्य के सृजन का लक्ष्य भी प्रमुख नहीं है, वरन् ये पद इन कवियों के स्वतः स्फूर्त्त भावों की अभिव्यक्तिमात्र हैं। यही कारण है कि प्रत्येक पद में कवि का सच्चा हृदय उसके अन्दर का सच्चा प्रेम एवं साधक की सच्ची विरही आत्मा का प्रतिबिंब झलकता है। मौलिक भावों का ही उदात्तीकरण करके पूर्ण तन्मयता की स्थिति पर पहुँच कर अलौकिक आनन्द की अनुभूति की अभिव्यक्ति कृष्णभक्ति साहित्य में हुई है। यह भक्ति की पवित्र भावना १६वीं शताब्दी में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। १७वीं शताब्दी के बाद इस पवित्रता की चरम सीमा में उतार आना प्रारम्भ हो गया। द्रष्टव्य है कि १७वीं शताब्दी में रीतिसाहित्य के नाम से लिखे गये हिन्दी काव्य में वर्ण्य विषय यद्यपि श्रीकृष्ण और राधा ही हैं पर जिस प्रकार का उदात्त शृंगार वर्णन तथा अलौकिक माधुर्य सूर और मीरा आदि के पदों में है उसका आभास भी इस रीति काव्य में नहीं मिलता। कारण यह था कि सूर मीरा आदि कवियों का साहित्य उनकी व्यक्तिगत साधना की अनुभूतियों से सम्बन्ध रखता था, मात्र वर्ण्य विषय के बहिर्आकर्षण के फलस्वरूप श्रीकृष्ण राधा को कृष्णभक्ति शाखा में नहीं ग्रहण किया गया था। इस सम्बन्ध में अन्तिम अध्याय में विस्तार से विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय

साहित्य

(क) मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के विभिन्न रूप

१४०० ई० से १७०० ई० तक लिखे गए हिन्दी साहित्य के चार स्पष्ट स्वरूप हैं । संत साहित्य, सूफ़ी साहित्य, रामभक्ति साहित्य और कृष्णभक्ति साहित्य। चारों शाखाओं के अन्तर्गत मध्ययुग में प्रचुर साहित्य की सृष्टि हुई। कालक्रम की दृष्टि से संत साहित्य का स्थान सर्वप्रथम है।

संत साहित्य

संत साहित्य की प्रारंभिक रचनाओं के विषय में मतभेद है। १४०० ई० के आस पास कबीर का जन्म हुआ था और उनके साहित्य को ही संत साहित्य की प्रथम रचनाएँ माना जाए इस सम्बन्ध में सब विद्वान एकमत नहीं हैं। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल संत सहित्य के आविर्भाव को बहुत पीछे तक ले गए हैं और जयदेव से इसका आविर्भाव मानते हैं।[1] डा० रामकुमार वर्मा ने नामदेव की रचनाओं से इस साहित्य का प्रारम्भ होना लिखा है।[2] पं० रामचंद्र शुक्ल ने कबीर का नाम ही इस साहित्य के सम्बन्ध में सबसे पहले लिया है।[3] अन्तर्साक्ष्य इस प्रकार के मतभेदों में विशेष सहायक होते हैं। कबीर का कथन 'सनक सनन्दन जैदेव नामा भगति करी मन उनहुं न जाना'[4] से यह प्रकट होता है कि कबीर के पूर्व उनकी ही परम्परा में होने वाले 'जैदेव' और 'नामदेव' नाम के संत हो चुके थे। इसलिए कबीर के साहित्य के पहले का लिखा हुआ जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन और रामानन्द का साहित्य संत साहित्य के अन्तर्गत माना जाता है। जयदेव का गीतगोविन्द प्रसिद्ध है, परन्तु वह कहाँ तक सन्त साहित्य की परम्परा में है यह विवाद का विषय हो सकता है। गीतगोविंद कृष्णकाव्य की परंपरा में अधिक सरलता से लिया जा सकता है। जयदेव के लिखे और भी कुछ ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनके नाम हैं—'रसना राघव' और 'चंद्रालोक'—जो निश्चय ही संत साहित्य से सम्बन्धित नहीं हैं। नामदेव का लिखा काव्य पृथक रूप में उपलब्ध नहीं है। उनकी लिखी कुछ हिन्दी कविता केवल 'आदि ग्रंथ' में संग्रहीत है। त्रिलोचन के नाम से

---

१. **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० ९५।**

२. **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ३१०।**

३. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० ७०।**

४. **कबीर ग्रंथावली, पृ० ९९, पद सं० ३३।**

मिलने वाली कविता केवल आदि ग्रंथ में संग्रहीत है। कबीर के एक दोहे में, जो आदिग्रंथ में मिलता है, त्रिलोचन नाम है, जिसमें त्रिलोचन और नामदेव का हाथ से काम करते रहने के विषय में संवाद है। नामदेव का विचार था कि काम करना राम के नाम को भुला देना है। इस पर त्रिलोचन का उत्तर यह था कि हाथ से काम करते रहना चाहिए, मुख में राम का नाम रहना चाहिए। चित्त को राम में लगा दो, हाथ से सांसारिक कार्य करते रहो, इसमें हानि क्या है। इस विवाद से यह प्रकट होता है कि संत साहित्य के नींव निर्माण काल में ही यह निश्चय हो गया था कि राम नाम चित्त में पूरित रहना चाहिए। कर्त्तव्यों को छोड़ने से ही राम का भजन संभव नहीं।

रामानन्द की रचनाओं का संत साहित्य के आरम्भ में क्या महत्व है, यह विचार का विषय है, हिन्दी में रामानन्द की विशेष रचनाएँ नहीं मिलतीं। साम्प्रदायिक ग्रन्थ 'रामार्चन पद्धति' और 'वैष्णवमताब्जभास्कर' मिलते हैं। परन्तु हिन्दी में उनके दो ही पद उपलब्ध होते हैं, जो निवृत्ति मार्ग और निराकारोपासना के पक्ष में हैं। वैसे भी रामानन्द को संतसाहित्य के विचार के समय इसलिए महत्व दिया जाता है कि उनके सिद्धान्त, उनकी भक्ति पद्धति, जाति पाँति विरोध का सीधा प्रभाव संत साहित्य पर था।

सारांश यह कि १४०० ई० से पूर्व जो चार संत हुए जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन और रामानन्द इनका हिन्दी साहित्य में नींव का ही स्थान है। परिमाण की दृष्टि से इन कवियों का हिन्दी काव्य में साहित्यगत सहयोग लगभग नहीं के बराबर है।

सर्वप्रथम जो संतसाहित्य मिलता है वह है कबीर का। यद्यपि उनकी रचनाओं को कुछ विद्वानों ने साहित्य के दृष्टिकोण से उच्च श्रेणी का नहीं माना, परन्तु कबीर की जो भी रचनाएँ हैं वह हिन्दी साहित्य का बहुत महत्वपूर्ण अंश हैं। यदि कबीर का काव्य हिन्दी साहित्य से निकाल दिया जाय तो निश्चय है कि भक्ति-साहित्य अधूरा दिखेगा। निश्चित रूप से १४०० ई० के बाद कबीर की रचनाओं से संत साहित्य का आविर्भाव हुआ। कबीर के कुछ पद आदिग्रंथ में संग्रहीत हैं। आदिग्रंथ में संग्रहीत कबीर की वाणी का प्रकाशन डा० रामकुमार वर्मा के 'संत कबीर' में है। पढ़े लिखे न होने के कारण यह तथ्य ही संभव है कि कबीर के मुख से उच्च-रित कविता को उनके शिष्यों ने लिपिबद्ध किया होगा। इस समय जो कबीर का साहित्य उपलब्ध है वह डा० श्यामसुन्दर दास की 'कबीर ग्रंथावली' में संग्रहीत साखी, पद और रमैणी हैं।[1]

कबीर के अनन्तर सेन और पीपा का किंचित साहित्य मिलता है। आदिग्रंथ में पीपा के कुछ पद संग्रहीत हैं। सेन की कुछ सूक्तियां भी आदिग्रंथ में उद्धृत हैं। ये दोनों कवि कबीर के समकालीन माने जाते हैं ; माधुर्य की दृष्टि से रैदास के पद बहुत सुन्दर हैं। जाति से चमार होने पर भी जितना भावनाप्रवण रैदास का पद साहित्य है उतना अन्य संतों का नहीं। रैदास को भी कबीर का समकालीन माना जाता है। इनके पद अत्यन्त भावनाप्रवण, सरल और सुन्दर हैं। रैदास जी के दो ग्रन्थ 'रविदास की बानी' और 'रविदास के पद' कहे जाते हैं।

---

१. डा. पारसनाथ तिवारी की 'कबीर ग्रन्थावली' इस प्रबन्ध लेखन के समय तक प्रकाशित नहीं हुई थी।

नानक की रचनाओं को विद्वानों ने हिन्दी साहित्य में स्थान दिया है। नानक का समय कबीर के बाद माना जाता है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने कबीर की मृत्यु के इक्कीस वर्ष बाद सं० १५२६ (१४६९ ई०) में नानक का जन्म बताया है।[1] नानक सिखों के गुरु थे। इनकी रचनाएँ आदिग्रंथ में मिलती हैं। नानक की पदरचनाओं में ईश्वर के प्रति सच्चे भक्त का आत्म-निवेदन है। इनकी रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं। नानक की रचनाओं में भाषा में पंजाबीपन आना स्वाभाविक था। साकारोपासना पर सिख गुरुओं का विश्वास नहीं था। गुरु की पूजा को भी बाद में चल कर समाप्त कर दिया गया। अतः ग्रंथ साहब की ही पूजा होने लगी। परन्तु इन गुरुओं की वाणी अनुभूति के स्तर पर संतों की वाणी से मिलती है। इसलिए संत साहित्य के अंतर्गत नानक, अर्जुनदेव आदि के पदों को स्वीकृत किया जाता है।

संत साहित्य में भाषा का वैभिन्न्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। सिख गुरुओं की भाषा पंजाबी-पन से युक्त थी। दादू की रचनाएँ राजस्थानी का पुट लिए हुए मिलती हैं। दादू का समय १६०० ई० के लगभग मान्य है। दादू की कविता कबीर की कविता के समान तेजयुक्त न थी। परन्तु इनकी रचनाओं में भी आध्यात्मिक अनुभूति की झलक है। दादू की रचनाएँ किसी विशिष्ट ग्रंथ में संकलित हैं इसका उल्लेख नहीं मिलता। यह कहा जाता है कि इनके लिखे हुए हजारों पद हैं। बहुत से पद ग्रंथ में संग्रहीत हैं भी नहीं।

साहित्य की दृष्टि से मलूकदास की रचनाओं का महत्व है। इनकी रचनाएँ अपनी एक अलग सत्ता रखती हैं। मलूकदास का नाम ही उनके 'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम। दास मलूका कह गए, सबके दाता राम' दोहे की याद दिला देता है। मलूकदास की रचनाएँ भी १६०० ई० के लगभग की हैं। मलूकदास के लिखे कई ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है। 'रतन-खान', 'ज्ञानबोध', 'साखी', 'विष्णुपद' और 'दसरतन' मलूकदास के ग्रन्थ बताए जाते हैं। प्रका-शित रूप में बेलवेडियर प्रेस की 'मलूकदास की बानी' और डा० परशुराम चतुर्वेदी के 'संत काव्य' में संग्रहीत मलूकदास का काव्य सर्वसुलभ है।

मलूकदास के बाद जिनकी रचनाओं को संत साहित्य में स्थान मिला, उनमें प्रमुख हैं—दीनदरवेश, यारीसाहब, जगजीवन दास द्वितीय, और सुंदरदास। दीनदरवेश ने सुन्दर कुंडलियाँ लिखी हैं। ऐसा उल्लेख मिलता है कि दीनदरवेश की बानी का एक संग्रह गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के पास है, परन्तु जो उपलब्ध है वह संतों के संग्रहों में बिखरे हुए रूप में है। इनका समय १७०० ई० के लगभग माना जाता है। यारी साहब के नाम से एक ग्रंथ है 'रत्नावली'। इनका समय दीनदरवेश के लगभग है। जगजीवनदास ने अवधी में अपनी रचनाएँ कीं। इनके अप्रकाशित ग्रंथ हैं—'ज्ञानप्रकाश', 'महाप्रलय', और 'प्रथम ग्रंथ।' प्रकाशित रचनाओं में इनकी 'शब्दावली' है। सुन्दर दास का संत साहित्य को विलक्षण योग मिला। इनके लिखे 'ज्ञानसमुद्र' और 'सुन्दर-विलास' ग्रन्थ हैं। अनेक साखियों और पदों की भी रचना सुन्दरदास ने की है। सुन्दरदास को काव्यशास्त्र का ज्ञान था। इनके साहित्य में काव्य की दृष्टि से दोष नहीं हैं। परिमाण में भी

---

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० १२२।

सुन्दरदास का काव्य बहुत है। 'सुन्दर ग्रन्थावली' नाम से दो मोटी जिल्दों में यह प्रकाशित है।

संत साहित्य के रचयिताओं में अन्य अनेक महात्माओं के नाम प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिए—रज्जब, दरियासाहब बिहारवाले, दरियासाहब मारवाड़वाले, हरिदास, प्राणनाथ, बाबालाल आदि। १८वीं शताब्दी में भी कुछ संत हुए जिनमें बुल्लेशाह, चरनदास, शिवनारायण, गरीबदास, तुलसीसाहब और शिवदयाल के साहित्य को संत साहित्य के अन्तर्गत उच्च स्थान प्राप्त है।

सूफ़ी साहित्य

हिन्दी में प्रेमाख्यान साहित्य की एक लंबी परम्परा रही है। समस्त प्रेमाख्यानक साहित्य को धार्मिक सूफ़ी साहित्य के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। प्रेमाख्यानक साहित्य दो दृष्टियों से लिखा गया मिलता है। शुद्ध प्रेमाख्यानक ऐसे काव्य को कह सकते हैं जिसमें नर-नारी के लौकिक प्रेम का चित्रण किया गया हो इसका उदाहरण 'छिताई वार्ता' है। दूसरे प्रकार के प्रेमाख्यानक काव्यों में रहस्यवाद है, जिनमें नर नारी के प्रेम के माध्यम से आत्मा परमात्मा के संबंध की चर्चा की गयी है। मलिक मुहम्मद जायसी का पद्मावत इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। तात्पर्य यह कि पद्मावत को सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य कहा जा सकता है, परन्तु छिताई वार्ता को विशुद्ध प्रेमाख्यानक।

प्रेमाख्यानक काव्य साहित्य की परम्परा का प्रारम्भ मुल्ला दाऊद की 'नूरक चंदा' से माना जाता है। 'नूरकचंदा' उपलब्ध नहीं है अतः कुतुवन की 'मृगावती' से इस साहित्य का प्रारम्भ मान सकते हैं। मृगावती का रचनाकाल १५०० ई० के लगभग होगा। मृगावती में भगवत्प्रेम का स्वरूप प्रेममार्ग के कष्टों का निरूपण करके प्रकट किया गया है। आध्यात्मिक संकेत इस काव्य में यथेष्ट हैं।

दूसरी रचना 'मधुमालती' है। इसके रचयिता मंझन थे। रचनाकाल सन् १५४५ ई० मान्य है। मृगावती की अपेक्षा काव्य सौंदर्य की दृष्टि से मधुमालती श्रेष्ठ है। आध्यात्मिक प्रेमभाव की व्यंजना मधुमालती में अधिक है। सभी विद्वान इस संबंध में एकमत हैं कि इसमें वर्णित लौकिक प्रेम ईश्वरोन्मुख प्रेम का प्रतीक है।

तीसरा महत्वपूर्ण नाम 'पदमावत' का है। जायसी द्वारा रचित अत्यधिक प्रसिद्ध यह ग्रन्थ शुद्ध रहस्यवादी सूफ़ी प्रेमाख्यानक प्रबन्ध काव्य है। इसकी रचना जायसी ने सन् १५४० के लगभग की थी। पद्मावत एक अन्योक्ति है ऐसा कहा जाता है। सूफ़ी प्रेमाख्यान परम्परा का 'पद्मावत' सबसे अधिक प्रौढ़ ग्रन्थ है। इतिहास, हिन्दू समाज, हिन्दू धर्म, कल्पना, सूफ़ी सिद्धान्त, इन सभी का सुन्दर सम्मिश्रण जायसी ने पद्मावत में किया है। कवि की अभिलाषा यद्यपि पूरे प्रबन्ध काव्य में आध्यात्मिक संकेत निबाहने की है, परन्तु कहीं कहीं नितान्त लौकिक वर्णनों के कारण ऐसा संभव नहीं हो सका है। कारण इसका यह है कि प्रत्येक छोटी-छोटी बात को जो महत्वपूर्ण नहीं भी है, जायसी ने वर्णन विस्तार दिया है। डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि

"सारी कथा का घटना पक्ष अध्यात्मवाद से नहीं मिल सकता है। इसका एक कारण और भी हो सकता है, वह यह कि जायसी एक प्रेम कहानी कहना चाहते हैं। ये अपनी प्रेम कहानी के प्रवाह में सभी घटनाओं को कहते चलते हैं और आध्यात्मिकता भूल जाते हैं। जब मुख्य घटनाओं की समाप्ति पर इन्हें अपने अध्यात्मवाद की याद आती है तो उसका निर्देश कर देते हैं। पर कथा की व्यापकता में अध्यात्मवाद सम्पूर्ण रूप से घटित नहीं हो पाता, क्योंकि कथा घटना प्रसंग से प्रेरित होकर कही गई है।"[१] परन्तु यह निश्चित है कि आध्यात्मिक संकेतों और अपनी रसात्मकता के कारण, 'पद्मावत' एक अत्यन्त सुंदर काव्यग्रन्थ है।

पद्मावत के पश्चात् एक और ग्रन्थ जिसका नाम 'चित्रावली' है सूफ़ी प्रेमाख्यानकों में अपना स्थान रखता है।[२] इसकी विशेषता यह है कि अन्य प्रेमाख्यानकों की भाँति इसमें इतिहास का आश्रय नहीं लिया गया है। शुद्ध कल्पना की दृष्टि से लिखे इस ग्रन्थ में आध्यात्मिकता और नीति को यथेष्ट स्थान प्राप्त है। 'चित्रावली' के रचयिता उसमान कवि माने जाते हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल सन् १६१३ ई० मान्य है। 'चित्रावली' के उपरान्त भी अनेक प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गए। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से इन परवर्ती प्रेमाख्यानक रचनाओं का महत्व नहीं है। शेख नबी का ज्ञानदीप सन् १६२५ ई० के लगभग लिखा गया। इसमें आध्यात्मिक संकेत का उल्लेख नहीं मिलता। इसी प्रकार पुहुपावती, माधवानल कामकन्दला, नलदमन आदि रचनाएँ हैं, जिनमें आध्यात्मिक प्रेरणा का अभाव है।

सारांश यह कि ऐसे सूफी प्रेमाख्यानक काव्य, जिनका भक्ति साहित्य में समावेश हो सकता है मुख्य रूप से चार हैं, मृगावती, मधुमालती, पद्मावत एवं चित्रावली। इन चारों में अन्तिम तीन प्रकाशित रूप में प्राप्य हैं। प्रथम रचना मृगावती अनुपलब्ध है। जायसी के अखरावट और आखिरी कलाम का भी यहां उल्लेख किया जा सकता है, यद्यपि इनमें कहानियाँ नहीं हैं, परन्तु सूफी सिद्धान्तों के निरूपण की दृष्टि से यह दोनों रचनाएँ अपना महत्व रखती हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों में ईश्वरोन्मुख प्रेम को ही लौकिक प्रेम के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है इस सम्बन्ध में अनेक विद्वान एकमत हैं। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का कथन है—'ये कहानियाँ एक प्रकार से अन्योक्तियाँ हैं, जिनमें लौकिक प्रेम ईश्वरोन्मुख प्रेम का प्रतीक है।'[३] पं० रामचंद्र शुक्ल

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा; पृ० ४४५, ४४६।

२. कथा एक मैं हिएं उपाई, कहत मीठ औ सुनत सोहाई।
कहौं बनाय जैस मोहि सूझा, जेहि जस सूझ सो तैसे बूझा॥
चित्रावली, उसमान, पृ० १४।

३. हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ८३।

और डा० रामकुमार वर्मा ने भी उपर्युक्त चार ग्रन्थों—मृगावती, मधुमालती, पद्मावत और चित्रावली—में ही आध्यात्मिक संकेतों का उल्लेख किया है।[१] अन्य प्रेमाख्यानक ग्रन्थों में इस प्रकार की आध्यात्मिकता नहीं उपलब्ध होती।

रामभक्ति साहित्य

यह आश्चर्य की बात है कि रामभक्तिसाहित्य में पहला ग्रन्थ रामचारितमानस ही उपलब्ध होता है। इसकी प्रौढ़ता देख कर यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि इसकी पृष्ठभूमि में राम भक्ति साहित्य की एक सुदृढ़ परम्परा रही होगी। परन्तु आश्चर्य है कि इस प्रकार का एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। तुलसीदास के पूर्व और उनके समकालीन कवियों में तीन अन्य नाम उल्लिखित मिलते हैं—मुनिलाल, भगवतदास और चन्द। भगवतदास का समय चौदहवीं शताब्दी, चन्द का १५वीं शताब्दी और मुनिलाल का १६वीं शताब्दी है। मुनिलाल तुलसीदास के समकालीन समझे जाते हैं। रामभक्ति साहित्य की दृष्टि से इनका महत्व लगभग नहीं है। इसका कारण यह है कि भगवतदास की रचना 'भेद-भास्कर' अद्वैतवाद का खण्डन करने के लिए लिखी गई थी, चन्द ने दोहा चौपाई में हितोपदेश का मात्र अनुवाद किया। मुनिलाल ने अवश्य राम कथा से सम्बन्धित 'रामप्रकाश' लिखी परन्तु यह ग्रंथ रीतिशास्त्र के अनुसार है। स्पष्ट है कि रामभक्ति साहित्य की परम्परा 'रामचरितमानस' से ही प्रारम्भ होती है।

तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना सं० १६३१ में की थी। तुलसीदास ने रामभक्ति सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ गीतावली, कवितावली, विनयपत्रिका आदि भी लिखे। रामचरितमानस के सम्मुख विषय और सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से गीतावली और कवितावली का महत्व नहीं है। 'विनय पत्रिका' स्तुति भावना, दैन्य और आत्माभिव्यंजना से युक्त ग्रन्थ है इसमें रचयिता का कुछ भिन्न रूप सम्मुख आता है, जो कथा वाचक से, उपदेशक से भिन्न है, जो मात्र भक्त है।

१७०० ई० तक के रामभक्ति साहित्य से सम्बन्धित अन्य कवियों में अग्रदास, नाभादास, प्राणचंद चौहान, हृदयराम, केशव और सेनापति की रचनाएँ विचारणीय हैं। अग्रदास की लिखी हुई चार-पाँच रचनाएँ मिलती हैं—'हितोपदेश उपाख्यान बावनी' जो 'कुंडलिया रामायण' के नाम से प्रसिद्ध है, 'ध्यानमंजरी' और 'रामध्यान मंजरी' आदि। इनकी रचनाओं का साम्य कृष्णभक्त नंददास जी की रचनाओं से कहा जाता है। स्वामी अग्रदास, तुलसीदास के समकालीन थे।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचंद्र शुक्ल, मृगावती पृ० ८७, मधुमालती, पृ० ८८, पद्मावत पृ० ९७, चित्रावली, पृ० १०१।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, मृगावती, पृ० ४४०, मधुमालती, पृ० ४४१, पदमावत पृ० ४४५, चित्रावली, पृ० ४६१।

अग्रदास के बाद नाभादास का नाम उल्लिखित किया जाता है। रामचंद्र शुक्ल के अनुसार रामचरित संबंधी इनके पदों का एक छोटा सा संग्रह कुछ काल पूर्व प्राप्त हुआ था[१]। नाभादास ने ब्रजभाषा में अपनी कविता की थी। इनके नाम से जो रचना सर्वाधिक प्रसिद्ध है वह 'भक्तमाल' है। 'भक्तमाल' में भक्तों के जीवनोल्लेख सम्बन्धी ३१६ छप्पय हैं। केवल 'भक्तमाल' के रचयिता के रूप में इनको रामभक्ति साहित्य में स्थान नहीं मिल सकता। पर यह मान्य तथ्य है कि ये रामोपासक थे, और इन्होंने रामभक्ति सम्बन्धी सुन्दर पदों की रचना की थी। नाभादास १६०० ई० के लगभग वर्तमान थे।

रामभक्ति संबंधी एक नाटक 'रामायण महानाटक' के नाम से प्राणचंद चौहान ने लिखा। इसका रचनाकाल १६०० ई० के बाद है। 'रामायण महानाटक' में ब्रह्म, माया, सृष्टि सम्बन्धी कुछ वर्णन मिलते हैं।

'हनुमन्नाटक' नामक एक और रामभक्ति सम्बन्धी नाटक हृदयराम ने सन् १६२५ ई० के लगभग लिखा। तुलसीदास ने रामभक्ति को लेकर काव्य की अनेक शैलियों को अपनाया था, परन्तु नाटक की रचना तुलसीदास ने नहीं की थी। प्राणचंद चौहान के 'रामायण महानाटक' और हृदयराम के 'हनुमन्नाटक' ने भक्ति साहित्य में इस विधा के अभाव की पूर्ति की।

रामभक्ति सम्बन्धी साहित्य को देखते समय केशव की 'रामचंद्रिका' विचारणीय है। 'रामचंद्रिका' राम संबंधी कथानक को लेकर लिखी गयी है। 'रामचंद्रिका' के अध्ययन से यह दृष्टिगत होता है कि इसके रचयिता ने भक्ति भावना से प्रेरित होकर ग्रन्थ की रचना नहीं की है। यह ग्रंथ पाण्डित्य प्रदर्शन के लक्ष्य से लिखा हुआ प्रतीत होता है। इसको राम-संबंधी साहित्य में सरलता से रखा जा सकता है, परन्तु रामभक्ति साहित्य में रखने में संकोच होता है। 'रामचंद्रिका' का रचनाकाल सन् १६०० ई० से पूर्व है। इससे सम्बन्धित जो जनश्रुतियाँ और उल्लेख मिलते हैं उनसे यह प्रकट होता है कि केशव तुलसी के समकालीन थे और 'रामचंद्रिका' की रचना तुलसीदास के किंचित् प्रभाव के परिणामस्वरूप की गयी थी। ऐसे अनेक कथन मिलते हैं कि केशवदास ने तुलसीदास को प्रसन्न करने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की थी। स्वाभाविक है कि सच्ची भक्ति भावना की प्रेरणा के अभाव में यह ग्रन्थ भक्ति काव्य में स्थान पाने योग्य नहीं हो सकता था।

कुछ विद्वानों ने सेनापति के कवियों को रामभक्ति साहित्य के अंतर्गत स्थान दिया है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'कवित्त रत्नाकर' प्रकाशित रूप में उपलब्ध है। इस ग्रंथ की चौथी तरंग राम सम्बन्धी है। पांडित्य से समन्वित इन राम संबंधी कवित्तों में भक्ति का अभाव नहीं है, किन्तु भक्ति के साथ पांडित्य का मिश्रण अधिक है। तात्पर्य यह कि शुद्ध भक्ति भाव से प्रेरित होकर सेनापति ने किसी रामभक्ति सम्बन्धी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी। 'कवित्त रत्नाकर' का रचनाकाल सन् १६५० ई० के लगभग माना जाता है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० १३६।

ऊपर जिन रचनाओं और कवियों का उल्लेख किया गया उससे प्रकट है कि रामभक्ति साहित्य के सृजनकर्त्ताओं में तुलसीदास ही अकेले कवि हैं। तुलसीदास के भी अनेक ग्रन्थों में शुद्ध भक्तिभाव से प्रेरित केवल 'रामचरितमानस' एवं 'विनयपत्रिका' नामक ग्रन्थ हैं। स्वयं तुलसीदास के अन्य रामभक्ति संबंधी ग्रन्थ इनके सम्मुख फीके जान पड़ते हैं। संभव है 'रामचरितमानस' की गरुता ही एक कारण हो कि अन्य कोई भी रामभक्ति संबंधी साहित्य इस क्षेत्र में स्थायी स्थान नहीं ग्रहण कर पाया।

१७०० ई० तक के रामभक्त कवियों में बलदास और लालदास नामक दो अन्य कवियों के नाम मिलते हैं। बलदास ने 'चित्राबोधन' नामक ग्रन्थ सन् १६२० ई० के लगभग लिखा। लालदास ने सन् १६५० ई० के लगभग 'अवध विलास' नामक ग्रन्थ लिखा। रामभक्ति साहित्य की रचना १७०० ई० में समाप्त नहीं हो गई वरन् इसके बाद भी १८वीं शती में इस क्षेत्र में अनेक कवियों का आविर्भाव हुआ। बाल भक्ति का 'नेह प्रकाश', रामप्रिया शरण का 'सीतायण,' जानकी रसिक शरण का 'अवधी सागर' और कलानिधि और महाराज विश्वनाथ सिंह के अनेक ग्रन्थ इस शताब्दी में लिखे गये। परन्तु ध्यान से देखने पर रामचंद्र शुक्ल का यह कथन बिल्कुल उचित लगता है—"ऐसा जान पड़ता है कि गोस्वामी जी की प्रतिभा का प्रखर प्रकाश सौ डेढ़ सौ वर्ष तक ऐसा छाया रहा कि रामभक्ति की और रचनाएँ उसके सामने ठहर न सकीं।"[१]

कृष्णभक्ति साहित्य

हिन्दी साहित्य में कृष्णभक्ति से प्रेरित होकर सबसे अधिक साहित्य का सृजन हुआ। वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप के कवियों का ही साहित्य अन्य किसी भी शाखा के समस्त साहित्य से कहीं अधिक है। १४०० ई० के पहले लिखे गए कृष्णभक्ति सम्बन्धी साहित्य में जयदेव का उल्लेख किया जाता है। जयदेव ने कृष्ण सम्बन्धी रचनाएँ संस्कृत में की थीं। ग्रन्थ साहब में संग्रहीत उनके जो दो एकपद हिन्दी में हैं वे कृष्णभक्ति से सम्बन्धित न होकर निर्गुण भक्ति से संबंधित हैं। अतः जयदेव को कृष्णभक्ति परम्परा में रखा जा सकता है किन्तु हिन्दी साहित्य की कृष्णभक्ति रचनाओं को जयदेव का कुछ भी सहयोग नहीं मिला। १४०० ई० के काफी बाद कृष्ण भक्ति साहित्य का क्रमबद्ध रूप में साहित्य मिलता है। १५वीं शताब्दी में विद्यापति का लिखा हुआ कृष्णभक्ति संबंधी साहित्य उपलब्ध होता है। विद्यापति संस्कृत के विद्वान थे। अधिकांश रचनाएँ उन्होंने संस्कृत में ही लिखीं। विद्यापति की पदावली जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम कृष्णभक्ति संबंधी ग्रन्थ के रूप में उल्लिखित की जाती है वह कहाँ तक कृष्ण के प्रति भक्ति की भावना से समन्वित है यह प्रश्न विचारणीय है। यह अवश्य है कि इस ग्रन्थ में कृष्ण तथा राधा को लेकर सुन्दर पद हैं, परन्तु कृष्ण के प्रति भक्ति का भाव रचयिता में नहीं जान पड़ता।

वास्तव में कृष्ण भक्ति की सच्ची प्रेरणा से उद्भूत हिन्दी में सबसे पहली रचनाएँ

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० १३९।

सूरदास की ही उपलब्ध होती हैं। 'सूरसागर के रूप में प्राप्य सूरदास का काव्य कृष्णभक्ति साहित्य की एक अत्यन्त अमूल्य निधि है। सूरदास की काव्य रचना का समय साधारण रूप से सन् १५२५ ई० के लगभग माना जा सकता है। किन्तु इस ओर भी ध्यान देना पड़ता है कि इतने विशाल काव्य ग्रन्थ को लिखने में भक्त कवि को पर्याप्त समय लगा होगा। अकेला यह ग्रन्थ कृष्णभक्ति सम्बन्धी समस्त श्रेष्ठ भावों से समन्वित है। समस्त 'सूरसागर' लीलागान के रूप में लिखा गया है। कुछ ऐसा भी मत चल पड़ा था कि सूरसागर श्रीमद्भागवत का अनुवाद मात्र है, परन्तु सूरसागर का अध्येता इस बात को अच्छी तरह समझता है कि यह एक मात्र ऐसा भक्ति काव्य है जो साहित्यगत समस्त विशेषताओं के साथ, भक्तिसमन्वित होते हुए वास्तविक कवि प्रतिभा का सच्चा परिचायक है। कृष्ण की लीला को लेकर एक भक्त का हृदय कितनी नवीन कल्पनाएँ कितने स्वाभाविक रूप में कर सकता है, यह इस ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। सूरदास के दो अन्य ग्रन्थ 'सूरसारावली और 'साहित्य लहरी' माने जाते हैं। कृष्ण भक्ति सम्बन्धी विवेचना की दृष्टि से दोनों ही ग्रन्थ 'सूरसागर' के सम्मुख नितान्त महत्वहीन हैं। दोनों ग्रन्थों के सूरदास रचित होने में भी मतवैभिन्न्य है।

कृष्णभक्ति साहित्य में 'सूरसागर' के पश्चात् नन्ददास रचित 'रासपंचाध्यायी' और 'भँवरगीत' इन दो ग्रन्थों का स्थान है। इनका कविताकाल सन् १५५० ई० के भी बाद रहा होगा। जैसा कि दोनों ग्रन्थों के शीर्षक से स्पष्ट है कि ये सूरसागर की भाँति कृष्ण की समस्त लीलाओं को लेकर नहीं लिखे गये हैं। कृष्ण की लीला के विशिष्ट अंशों को लेकर इन ग्रन्थों की रचना हुई है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रन्थों की नंददास ने रचना की। 'भागवत दशमस्कंध', 'रुक्मिणी मंगल', 'सिद्धान्त पंचाध्यायी', 'रूप मंजरी', 'रसमंजरी' आदि। किन्तु कृष्णभक्ति के दृष्टिकोण से केवल रासपंचाध्यायी और भँवरगीत ही हिन्दी साहित्य की स्थायी निधि हैं। भंवरगीत का महत्व इसलिए और भी है कि इसमें रचयिता के भक्तिभाव के साथ साथ उसका दार्शनिक पक्ष भी स्पष्ट होता है।

सन् १५५० ई० के लगभग ही कृष्णदास ने अपने पदों की रचना की। इनके नाम से दो पुस्तकें कही जाती हैं 'भ्रमरगीत' और 'प्रेमतत्व निरूपण'। इसके अतिरिक्त कृष्णदास ने राधाकृष्ण को लेकर अनेक श्रृंगार रस संबंधी पद लिखे। इनकी कविता सूरदास और नंददास की कविता के समक्ष कम महत्वपूर्ण है।

सोलहवीं शताब्दी के मध्य में कृष्णभक्ति साहित्य की सर्वाधिक रचना हुई थी। सूरदास, नंददास, कृष्णदास के अतिरिक्त अष्टछाप के पाँच अन्य कवियों के पद हिन्दी के कृष्णभक्ति साहित्य को सम्पन्न करते हैं। परमानंददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, और गोविंद स्वामी के पदों में कृष्ण के प्रति भक्तिभाव प्रचुर मात्रा में मिलता है। सभी उच्च कोटि के भक्त समझे जाते थे। परमानंददास के पदों का संग्रह 'परमानन्द सागर' के नाम से है। परमानन्ददास रचित दो पुस्तकों के नाम मिलते हैं 'ध्रुव चरित्र' और 'दान लीला।' कुंभनदास का कोई पृथक संग्रह ग्रंथ मूल रूप में नहीं प्राप्त होता है। चतुर्भुजदास के पदों के संग्रह प्राप्त हुए हैं। छीतस्वामी

और गोविंदस्वामी के कोई सुष्ठ रूप में लिखे हुए ग्रन्थ नहीं उपलब्ध होते। स्फुट पदों के रूप में ही इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं।

अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध उपर्युक्त आठ कवियों के पद साहित्य के अतिरिक्त और भी बहुत पद साहित्य की रचना कृष्ण भक्ति की प्रेरणा के फलस्वरूप हुई। इनमें सबसे विशिष्ट पद मीराबाई के हैं। इनका रचना काल १६वीं शताब्दी का मध्य ज्ञात होता है। मीरा के पदों से ज्ञात होता है कि कृष्ण के प्रति मीरा की आत्मा कितनी व्याकुल थी। भक्ति का सच्चा स्वरूप इनके प्रत्येक पद में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इनके लगभग २०० पदों का संग्रह 'मीराबाई की पदावली' के रूप में उपलब्ध है जिसका एक एक पद भक्ति की अत्युच्च भावना का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है।

१६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हितहरिवंश नाम के एक प्रसिद्ध भक्त हुए जिन्होंने कृष्ण-भक्ति के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रकार की उपासना का प्रतिनिधित्व किया। यह उपासना कृष्ण राधा के नित्यविहार की रास पद्धति से संबंध रखती थी। हितहरिवंश ने राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था, इनके पद राधा कृष्ण के संयोग वर्णन से ही सम्बन्ध रखते हैं। हितहरिवंश द्वारा रचित 'हित चौरासी' के नाम से ८४ पदों का एक संग्रह प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इनके रचे हुए फुटकर पद भी मिलते हैं जो इनके दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हैं। हित-हरिवंश ने अपने अनेक शिष्यों को पद रचना के लिए प्रेरित किया। इन शिष्यों में दामोदरदास, सेवक जी, ध्रुवदास, हरिराम व्यास, रसिकदास, वृन्दावन दास और चतुर्भुज दास आदि अनेक प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। ध्रुवदास के छोटे छोटे अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं।

कृष्णभक्ति साहित्य के क्षेत्र में रसखान की रचनाएँ भी अपना स्थान रखती हैं। इनका रचना काल १६०० ई० के लगभग रहा होगा। मुसलमान होते हुए भी एक हिन्दू से भी अधिक भावप्रवणता के साथ कृष्ण के प्रति भक्ति की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने अपनी काव्य-रचना की थी। इनकी भगवद्भक्ति में अत्यन्त गूढ़ प्रेम भाव है। इनकी 'प्रेमवाटिका' नाम की सरस रचना प्रसिद्ध है। दूसरी पुस्तक 'सुजान रसखान' है। दोनों ही ग्रन्थ छोटे हैं, किन्तु छोटे होते हुए भी अत्यन्त सरस हैं। विशेषता एक और है कि अन्य समस्त कृष्णभक्ति सम्बन्धी ग्रन्थों की भाँति रसखान की रचनाएँ पदों में नहीं हैं। 'सुजान रसखान' कवित्त सवैयों में और 'प्रेमवाटिका' दोहों में है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में १५वीं शताब्दी से लेकर १७वीं शताब्दी के अन्त तक लिखे जाने वाले कृष्णभक्ति साहित्य की एक लम्बी सूची उपलब्ध होती है। लगभग चालीस कवियों को इसके अन्तर्गत लिया जा सकता है। परन्तु भक्ति के दार्शनिक पक्ष का विचार करते हुए उपर्युक्त उल्लिखित साहित्य को ही इस स्थल पर लेना पर्याप्त होगा।

(ख) साहित्य के स्वरूपगत भेदों के कारण

अ—कवियों की दार्शनिक मान्यताएँ :

मध्ययुगीन भक्त कवियों की रचनाएँ ईश्वर के प्रति उनके प्रेमविह्वल उद्‌गारों का अभिव्यक्तीकरण हैं। इन रचनाओं के विभिन्न स्वरूपगत भेदों का कारण यह था कि भक्त कवियों की दार्शनिक मान्यताओं में विभिन्नता थी। भक्तिपूर्ण उपासना के लिए ब्रह्म के दो

प्रकार के रूप स्वीकृत थे—एक निर्गुण रूप, दूसरा सगुण रूप। प्रश्न यह था कि बिल्कुल निर्गुण निराकार की उपासना किस प्रकार हो। साधना के क्षेत्र में उस निर्गुण निराकार की उपासना करते समय भक्त कोई न कोई गुण उस पर अनायास आरोपित कर देता है। इसीलिए ज्ञानमार्गी शाखा के निर्गुण ईश्वर की उपासना करने वाले कवियों के साहित्य में अनजान में कहीं न कहीं सगुण स्वरूप आ गया है, कारण यह है कि भक्ति गुणों का आश्रय लेकर ही संभव है। परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी तथ्य है कि एक सच्चा भक्त अपने आराध्य को गुणों की सीमा में ही नहीं बाँध देता। वह अपने आराध्य में समस्त गुणों से परे भी कुछ पाता है, इसी विन्दु पर पहुँचकर एक सगुणवादी भी अपने आराध्य को निर्गुण कहने लगता है।

एकेश्वर की भावना पर बल देने के कारण ऐसा समझ लिया जाता है कि निर्गुणमार्गी कवियों पर अभारतीय प्रभाव था। दूसरी बात यह कि इन निर्गुणमार्गी संतों ने भारतीय देवता-वाद और अवतारों की भावना का खंडन किया था। इसके विपरीत सगुण मार्गी भक्त अवतार की भावना पर आस्था रखते थे, अतः इन्हें भारतीय विचारधारा का पोषक समझा जाता था। यह अवश्य है कि इस्लाम धर्म में एक खुदा की भावना बड़ी प्रबल है। परन्तु भारतीय दर्शन में भी एकेश्वरवाद और निराकार निर्गुण ब्रह्म की भावना से सम्बन्धित अनेक उद्धरण वेदान्त से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अतः निर्गुणमार्ग की ज्ञानाश्रयी शाखा को इस्लाम धर्म से पूर्ण रूप से प्रभावित मानना उचित नहीं है। इस विषय में डा० रामकुमार वर्मा का यह कथन उपयुक्त है कि संतों की एक ब्रह्म की भावना भारतीय वेदान्त दर्शन के अधिक निकट है। संतों ने हिन्दू धर्म के साथ इस्लाम धर्म की भी उन बातों का खंडन किया जो बाह्य आचार विचार से संबंध रखती थीं। इन्हीं सब कारणों से डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपना मत प्रस्तुत किया है कि 'निर्गुणमतवादी संतों के केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं, उनकी समस्त रीति नीति, साधना, वक्तव्य वस्तु के उपस्थापन की प्रणाली, छन्द और भाषा पुराने भारतीय आचार्यों की देन है।'[१] यह मत नितान्त औचित्यपूर्ण है।

वेद पुराणादि ग्रंथों का आधार : ज्ञानाश्रयी शाखा

निर्गुणिया संत निरक्षर थे। अतः उनके दार्शनिक विचारों का आधार शास्त्रज्ञान नहीं था। निर्गुणिया संतों का ज्ञान उनकी अनुभूति का प्रतिफल था। अनुभूति के आधार पर स्थित संतों का ज्ञान इतना सत्य था कि उसका खंडन नहीं किया जा सकता है। निर्गुणिया संतों ने जो वेद-पुराण की निन्दा की है उसके दो कारण थे। एक यह कि धर्मग्रन्थों के प्रति संतों का अज्ञान था। दूसरे इसलिए कि उस समय हिन्दू धर्म में जो अन्ध-विश्वास प्रचलित थे उनके पीछे वेद पुराणों की दुहाई दी जाती थी। परन्तु विलक्षण बात यह है कि संतों ने अपनी अनुभूति के बल पर ब्रह्म के जो भी वर्णन किए वे उपनिषदों में किए गए ब्रह्म के स्वरूप वर्णन से नितान्त साम्य रखते हैं। कारण स्पष्ट है कि अन्ततः सत्य एक ही है। जिन ऋषियों ने उस सत्य की अनुभूति करके

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ३३-३४।

उपनिषदों के श्लोकों की रचना की, वे ऋषि और ये निर्गुणमार्गी संत अपनी अनुभूति के माध्यम से एक ही सत्य पर पहुँचे थे। इस अनुभूतिगत तादात्म्य के ही परिणामस्वरूप यह संभव था कि ब्रह्म सम्बन्धी वर्णन इतने समान हो सकते। संतों ने वेद उपनिषद् और पुराणों को अपने दार्शनिक विचारों का आधार नहीं बनाया था इसके प्रमाणस्वरूप अनेक कथन उद्धृत किए जा सकते हैं। नामदेव कहते हैं—'ईश्वर को कोई निकट बताता है कोई दूर कहता है। यह सब व्यर्थ की बकवास है और इस ढंग की बातें वैसी ही असंभव हैं जैसे मछली खजूर चरना चाहती हो। जिसने हरि को पा लिया वह उसे छिपा कर रखता है। अपने ज्ञान के अनुभव को कोई किस प्रकार प्रकट कर सकता है। जो पंडित बने फिरते हैं, वेद का व्याख्यान करते हैं वे मूर्ख हैं, वे राम को नहीं जानते।'[1] कबीर ने अनेक स्थलों पर वेद पुराणों के ज्ञान की निन्दा की है। कबीर का कथन है कि 'वह आप' सबमें व्याप्त है, वह स्वयं ही प्रत्येक जीव के रूप में क्रीड़ा कर रहा है। सब में एक ही ब्रह्म व्याप्त है, परन्तु कबीर का विचार है कि उस ऐसे निर्गुण तत्व का व्याख्यान कोई नहीं करता। जितने गुणी और पंडित हैं सब केवल उसके गुणों का, लीला, व्यापार का वर्णन करते हैं।'[2] निर्गुणिया संतों का विश्वास था कि इस प्रकार के उस 'भेदातीत, गुणातीत ब्रह्म का ज्ञान उसी समय होता है जब आत्मज्ञान हो जाता है, मन का भ्रम टूट जाता है, ज्ञान की आंधी से माया का महल ढह जाता है।'[3]

---

१. कोई बोलै निरवा कोई बोलै दूरि।
जल की मछुली चरै खजूरि॥१॥
कांइरे बकवाद लाइउ। जिनि हरि पाइउ तिनहि छपाइउ॥रहाउ॥
पंडित होइकै बेदु बखाने। मूरखु नामदेउ रामहि जानै॥२॥
—संत काव्य, पृ० १४६, १४७।

२. जब थैं आतम तत विचारा।
तब निरबैर भया सबहिन सें, काम क्रोध गहि डारा॥टेक॥
व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पंडित को जोगी।
राणा राव कवन सूं कहिये, कवन वैद को रोगी॥१॥
इनमैं आप आप सबहिन मैं, आप आपहसूं खेलै।
नाना भांति घड़े सब भांड़े, रूप धरे धरि मेलै॥२॥
सोचि विचार सबै जग देख्या, निरगुण कोइ न बतावै।
कहै कबीर गुणी अरु पंडित, मिलि लीला जस गावै॥३॥
संत काव्य, पृ० १७६।

३. संतौ भाई आई ग्यान की आँधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उड़ाणी, माया रहै न बाँधी। टेक।
दुचिते की द्वै थूनि गिरानी, मोह वलींडा टूटा।
त्रिसना छांनि परी धर ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा॥१॥

प्रेमाश्रयी शाखा

सगुणमार्गी संतों की भाँति ही प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों ने शास्त्र ज्ञान की अवहेलना नहीं की। वेद, पुराण, और उपनिषदों को सगुण मार्गी भक्तों ने मान्यता दी है। इन्हीं ग्रन्थों को आधार मान कर वे अपनी साधना के क्षेत्र में अग्रसर हुए हैं। प्रेमाश्रयी शाखा के कवि भी थोड़ा बहुत भारतीय शास्त्र ग्रन्थों का ज्ञान रखते थे और उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे, यद्यपि सूफी कवियों के विचार कुरान के अनुकूल थे। शास्त्रीय रूप में वे इस्लाम धर्म के ही निकट थे।

रामभक्ति शाखा

सगुणवादी साहित्य में शास्त्रों का आधार लेकर ही उस ब्रह्म की भावना की पुष्टि की गयी है। वेद उपनिषद् और पुराणों को राम साहित्य में तुलसीदास ने बारम्बार उद्धृत किया है, राम वही ब्रह्म हैं, जिनका वेदों ने नेति नेति कहकर निरूपण किया है।[१] यह राम वही हैं जिनका वेद और ज्ञानी पुरुष गायन करते हैं, जिनका मुनिगण ध्यान करते हैं, आदि।[२]

कृष्णभक्ति शाखा

कृष्णभक्ति साहित्य में भी धर्मशास्त्रों का आधार बराबर लिया गया है। सूरदास ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहा है कि यह नंद की रस्सी से बँधने वाले कृष्ण वही परब्रह्म हैं जिन्हें वेद और उपनिषद् निर्गुण ब्रह्म बताते हैं,[३] वह ईश्वर दीन जनों का बन्धु है, हरिभक्तों के

जोग जुगति करि संतौ बाँधी निरचू चुवै न पाँणी।
कूड़कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जांणी ॥२॥
आँधी पीछै जो जल बूठा, प्रेम हरी जन भींना।
कहै कबीर भान के प्रगटै, उदित भया तम षीनां ॥३॥
संत काव्य, पृ० १७८, १७९।

१. नेति नेति जेहि वेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥
संभु विरंचि विष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥
रामचरित मानस, बालकांड, पृ० ७५।

२. जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान॥११८॥
रामचरित मानस, बाल काण्ड, पृ० ६३।

३. करनी करुना सिंधु की, मुख कहत न आवै।
कपट हेत परसैं बकी, जननी-गति पावै।
वेद उपनिषद जासु कौं, निरगुनहिं बतावै।
सोइ सगुन ह्वै नंद की दाँवरी बँधावै।
सूरसागर, पहला खंड, प्रथम स्कंध, पृ० २, प० सं० ४।

लिए कृपा का सिन्धु है, ऐसा वेदों और पुराणों ने गायन किया है।[१] चारों वेद और चार मुखों वाले ब्रह्मा उस ईश्वर का यश गाते हैं।[२] चारों वेद पुकार कर कहते हैं, घोषित करते हैं कि वह कृष्ण रूपी ब्रह्म पतितों का उद्धार करनेवाला है।[३] ब्रह्म के गुण इतने अधिक हैं कि उनकी गणना नहीं की जा सकती, उसके स्वरूप को हृदयंगम नहीं किया जा सकता, उसके भेद को, रहस्य को समझा नहीं जा सकता, यही कारण है कि वेद और उपनिषद् कह देते हैं कि वह निर्गुण है।[४]

दूसरी बात यह कि जिस प्रकार राम साहित्य में राम का चरित्र वाल्मीकि रामायण और पुराणों से ग्रहण किया गया है, जसा कि तुलसीदास ने रामचरितमानस के प्रारम्भ में ही कहा है कि जो नाना पुराण वेद तथा शास्त्र के सम्मत है वही इस रामायण में कहा गया है, और कहीं अन्यत्र से भी लिया गया है,[५] उसी प्रकार कृष्ण साहित्य में कृष्ण की समस्त लीला का आधार स्वयं भागवत पुराण है। कृष्ण भक्त कवियों ने अनेक बार भागवत की महिमा गाई है और उसमें वर्णित कृष्ण लीला को अपने काव्य के आधार रूप में स्वीकार किया है।

स्वानुभूति का आधार

सगुण साहित्य की भाँति प्राचीन ग्रन्थों का आधार लेकर निर्गुणिया संतों ने साहित्य रचना नहीं की। निर्गुणिया संतों ने अपनी अनुभूति और अपनी आत्मोपलब्धि को ही आधार मान कर अपनी रचनाएँ की हैं। सुन्दरदास ने एक स्थान पर कहा है "वह न सूक्ष्म है, न स्थूल है, वह एक भी नहीं है, दो भी नहीं है। सुन्दरदास इसीलिए कहते हैं कि वह विलक्षण परमात्मा अनुभव के आधार पर ही जाना जाता है, ऐसा वह आत्मा केवल अनुभवगम्य

---

१. तुम बिनु सांकरें को काकौ।
चारों वेद चतुरमुख ब्रह्मा जस गावत हूं ताको।
वही, वही, वही, पृ० ३७, पद सं० ११३।

२. तातैं तुम्हरौ भरोसौ आवै।
दीनानाथ पतित पावन, जस वेद उपनिषद गावै।
वही, वही, वही, पृ० ४०, पद सं० १२२।

३. जौ प्रभु, मेरै दोष विचारैं।
पतित उधारन बिरद बुलावै, चारौं बेद पुकारैं।
सूर स्याम हौं पतित सिरोमनि तारि सकैं तौ तारैं॥१८३॥
वही, वही, वही, पृ० ६०।

४. नंददास ग्रंथावली, प्रथम भाग, भँवरगीत, पृ० १२८।

५. नाना पुराण निगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
रामचरित मानस, प्रथम सोपान, बालकांड, पृ० १।

है।"[१] इन सन्तों ने पर्यटन खूब किया था। भाँति भाँति के संतों के संपर्क में आने के कारण सुन कर काफी ज्ञान इन्होंने प्राप्त कर लिया था।

सूफियों के विषय में कहा जाता है कि इनमें भी अधिकतर शास्त्र ज्ञान से रहित थे। सूफी कवियों की रचना का आधार मुख्य रूप से उनकी अपनी प्रेमानुभूति थी। प्रेम और प्रेम के मार्ग में असहनीय पीड़ा और कष्ट का सूफी काव्य में बहुत वर्णन है। कहानी की रूपरेखा में बड़ी ही कुशलता से प्रेम की यह पीर सूफियों की रचनाओं में आरम्भ से अन्त तक पूरित है। पीड़ा का जैसा स्थूल चित्रण सूफियों ने किया है वैसा भक्ति की अन्य शाखाओं में नहीं मिलता। भगवद्साधना में कष्ट है यह तो सभी को मान्य है। बिना त्याग के, बिना सहनशक्ति के इस साधना में कोई अग्रसर नहीं हो सकता, परन्तु सूफियों की यह कष्ट साधना कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण है।

अवतार पर विश्वास और भक्ति भावना : मूल प्रेरणा की भिन्नता

रामभक्ति साहित्य और कृष्ण भक्ति साहित्य का सारतत्व है शुद्ध भक्ति का भाव। अवतार पर विश्वास और किसी विशेष अवतार के प्रति अपने हृदय की समस्त भावनाओं को समर्पित करके शुद्ध भक्ति भाव में निमग्न रहना ही उपर्युक्त दोनों शाखाओं के रचयिताओं का ध्येय था। निर्गुणिया संतों के सदृश किसी अनुभवैकगम्य सत्य को प्राप्त कर जीवन्मुक्त हो जाना अथवा सूफियों की भाँति किसी अलौकिक प्रिया की प्राप्ति के लिए जीवनोत्सर्ग तक करने के लिए तत्पर रहते हुए हर प्रकार के कष्ट सहना सगुण भक्ति धारा की दोनों शाखाओं के कवियों का मार्ग नहीं था। इस प्रकार यह द्रष्टव्य है कि भक्ति साहित्य के चार स्वरूपगत भेदों के मूल तत्व अर्थात् प्रेरक भाव में ही विभिन्नता थी। एक ही भक्ति भाव के अनेक रूप थे।

ब्रह्म सम्बन्धी विचार : ज्ञानाश्रयी शाखा

भक्ति साहित्य की जो चार शाखाएँ हो गई इसके मूल कारणों में से एक यह था कि ब्रह्म के स्वरूप के विषय में चारों शाखाओं में भिन्न प्रकार की व्याख्याएँ हैं। निर्गुण धारा की ज्ञानमार्गी शाखा में ब्रह्म के किसी अवतार पर विश्वास न करते हुए यह कहा गया कि ब्रह्म निराकार है, अजन्मा है, अनादि है क्योंकि संतों का यह कथन संगत था कि वह ब्रह्म एक लौकिक मनुष्य के सदृश इस पृथ्वी पर जन्म लेकर किस प्रकार प्रकट हो सकता है। ये संत इस बात का खंडन करते थे कि दशरथ पुत्र राम ब्रह्म के अवतार हैं, साक्षात् ब्रह्म स्वरूप हैं, अथवा कृष्ण जो नन्द और यशोदा

---

१. न वह सूक्ष्म स्थूल है, नां वह एक न दोइ।
सुन्दर ऐसौ आतमा, अनुभव ही गमि होइ॥
सुंदर ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ७९७।

के पुत्र हैं वे ब्रह्म के अवतार और साक्षात् ईश्वर हैं।[1] अवतार की भावना का खंडन संत-साहित्य में बारम्बार किया गया है। अनेक बार इस प्रकार से कहा गया है कि राम दशरथ के पुत्र कैसे हो सकते हैं, कृष्ण यशोदा के पुत्र रूप में जन्म लेते हैं वे साक्षात् परब्रह्म किस प्रकार माने जा सकते हैं। संत साहित्य में ब्रह्म सम्बन्धी जो भी वर्णन हैं वे उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म, निराकार, निरावलंब और निर्गुण रूप का व्याख्यान करते हैं।[2] वह ब्रह्म जाति रहित है, जब वह जन्म ही नहीं लेता, तब वह किस प्रकार क्षत्री और अहीर वंश का हो सकता है, किस प्रकार वह सुन्दर अथवा कुरूप हो सकता है। जो सर्वथा आकाररहित है, गुण रहित है, उसके विषय में विचार विनिमय करना भी एक असम्भव कार्य है। इसीलिए इस शाखा की कविता में अनेक स्थलों पर उस ब्रह्म को मात्र सत्य तथा अगम कहा गया है। सत्य के मार्ग पर चलनेवाला सच्चा साधक उस ईश्वर का केवल अनुभव कर सकता है। इन्द्रियों के माध्यम से उसका स्पर्श, श्रवण, दर्शन, मनन असंभव है। जिसने उसका अनुभव किया है वह एक ही बात पर प्रकाश डाल सकता है कि वही ईश्वर एकमात्र सत्य है, सारतत्व है और सर्वत्र व्यापक है।

प्रेमाश्रयी शाखा

सूफी कवियों ने ब्रह्म सम्बन्धी जो वर्णन किए हैं वे निराकार व निर्गुण का समर्थन करते हैं। हिन्दी के सूफ़ी साहित्य में जो ईश्वर सम्बन्धी वर्णन हैं वे यही प्रकट करते हैं कि 'उस ईश्वर के न माता है, न पिता है। उसने किसी को जन्म नहीं दिया, उसे भी किसी ने जन्म नहीं दिया। उसका न कुटुम्ब है, न परिवार है, उसका कोई सम्बन्धी भी नहीं है।'[3] इस शाखा के साहित्य में

---

१. लोका तुम्ह ज कहत हौ नंद कौ नंदन, नंद कहौ धूं काकौ रे।
धरनि अकास दोऊ नहिं होते, तब यहु नंद कहाँ थौ रे।।टेक।।
जामैं मरै न संकटि आवै नांव निरंजन जाकौ रे।
अबिनासी उपजै नहिं बिनसै, संत सुजस कहै ताकौ रे।।
लष चौरासी जीव जंत मैं. भ्रमत नंद है थाकौ रे।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसो, भगति करै हरि ताकौ रे।।४८।।
कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०३, १०४।

२. राजा राम कवन रंगै, जैसें परिमल पुहप संगैं।।टेक।।
वही, पृ० १४३, पद सं० १६७।
जाकै मुह माथा नहीं, नहीं रूपक रूप।
पुहुप बास थैं पातला, ऐसा तत अनूप।।४।।
वही, पृ० ६०, पीव पिछांणन कौ अंग।

३. अलख अरूप अबरन सो कर्ता। वह सब सों, सब ओहि सों बर्ता।।
परगट गुपुत सो सरब बिआपी। धरमी चीन्ह न चीन्है पापी।।
ना ओहि पूत न पिता न माता। ना ओहि कुटुंब न कोई संग नाता।।

उस ईश्वर के व्यापकत्व पर भी बल है।[1] सूफ़ी साहित्य में ब्रह्म के वर्णन ज्योति रूप में है। वह ब्रह्म ज्योति स्वरूप है,[2] यह बात 'खुदा का नूर' का रूपान्तर मात्र जान पड़ती है।

सूफ़ी काव्य का वह अंश इसे अन्य शाखाओं के दार्शनिक विचारों से और भिन्न कर देता है जहाँ ईश्वर को विशेष रूप से कर्ता और दाता के रूप में समझा जाता है। ईश्वर सम्बन्धी जो भी वर्णन हैं, स्तुतियाँ हैं, उनका अधिकांश इस बात से सम्बन्धित है कि उस ईश्वर ने किस प्रकार सृजन किया, विभिन्न जीवों का कर्ता वही है, संसार के समस्त सुख साधनों की रचना उसी ने की है। वह ईश्वर एक महान् कर्ता है। ईश्वर ने अग्नि, पवन, जल और धूल का निर्माण किया। पृथ्वी, स्वर्ग और पाताल बनाए, सात द्वीप, ब्रह्मांड और चौदह भुवन सब उसी ने बनाए। दिन-रात, सूर्य, चंद्रमा, नक्षत्र और तारों की पंक्ति बनाने वाला ईश्वर ही है। धूप, शीत, छाँह, मेघ, बिजली की रचना उस ईश्वर ने ही की है। इस प्रकार के बड़े लंबे लंबे वर्णन हिन्दी के सूफ़ी साहित्य में उपलब्ध होते हैं।[3] इसी तरह वह महान दाता है, इस प्रकार के वर्णनों का बाहुल्य है। किन किन वस्तुओं को ईश्वर ने दिया इससे संबंधित लम्बी लम्बी सूचियां सूफ़ी साहित्य में दृष्टिगोचर होती हैं। उसने जग को आहार दिया, जीवन दिया, रत्न दिए, रसना दी और रसना के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के भोग दिए। दाँत दिए जिनसे मनुष्य हँस सकता है, जग को देखने के लिए नेत्र दिए, कान दिए जिनसे कि सुना जा सकता है, कंठ दिया जिससे बोला जा सके, हाथ

जना न काहु, न कोई ओहि जना। जंह लगि सब ताकर सिरजना॥
वे सब कीन्ह जहां लगि कोई। वह नहिं कीन्ह काहु कर होई॥
हुत पहिले अरु अब है सोई। पुनि सो रहै रहै नहिं कोई॥
और जो होइ सो बाउर अंधा। दिन दुइ चारि मरै करि धंधा॥
जो चाहा सो कीन्हेसि, करै जो चाहै कीन्ह।
बरजनहार न कोई, सबै चाहि जिउ दीन्ह॥७॥

जायसी ग्रंथावली, पं० रामचंद्र शुक्ल, पदमावत, स्तुति खण्ड, पृ० ३॥

१. सो करता सब मांह समाना, परगट गुपुत जाइ नहिं जाना। आदि पृ० १ तथा २।
चित्रावली, उसमान, श्री जगन्मोहन वर्मा।
तथा—
जायसी ग्रन्थावली, पं० रामचंद्र शुक्ल, पदमावत, स्तुतिखंड, पृ० ३।

२. एक जोत परगट सब ठाऊं, रहइ न कतहूं दूसर नाऊं।
चित्रावली, उसमान, श्री जगन्मोहन वर्मा, पृ० ४।

३. जायसी ग्रंथावली, डा० मनमोहन गौतम, पदमावत, पृ० १, ३, ४, ६।
वही, वही, अखरावट, पृ० ७३०, ७५२।
चित्रावली, उसमान, श्री जगन्मोहन वर्मा, पृ० १, २, ३।
मंझन कृत मधुमालती, डा० शिवगोपाल मिश्र, पृ० ३।

दिए, भुजाएँ दीं, पैर दिए आदि। साथ ही सूफी कवि यह भी कहते हैं कि ईश्वर की इस दातृत्व शक्ति को वही अधिक समझ पाता है जिसके पास इन उपर्युक्त वस्तुओं में से किसी का अभाव है।[१]

ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति और दातृत्व शक्ति का वर्णन करते हुए सूफी साहित्य में उस परमेश्वर को आदि राजा कहा गया है। शासक के रूप में परमेश्वर की कल्पना सूफी साहित्य में विशेष रूप से की गयी है।[२]

इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि सूफी साहित्य में ईश्वर के निराकार और निगुण रूप पर विश्वास है। ईश्वर के स्वरूप का जो वर्णन किया गया है उसमें उसके शासक, कर्ता और दाता रूप से सम्बन्धित वर्णनों का बाहुल्य है। इस प्रकार परमेश्वर को निर्गुण मानते हुए उस के स्वरूप वर्णन में स्थूलता को प्रधानता मिली है। ये वर्णन इस्लाम धर्म के अनुसार परमेश्वर की शासक, कर्ता और दाता की भावना से तादात्म्य रखते हैं। सूफी कवियों की दृष्टि इस तथ्य पर केन्द्रित रही है कि सब जीव उस ईश्वर के अनुशासन में हैं और उसने जीवों के उपभोग के लिए बहुत से पदार्थों का सृजन किया है।

रामभक्ति शाखा

रामभक्ति काव्य में ईश्वर के सगुण रूप पर विश्वास है। संपूर्ण श्रद्धा के साथ विष्णु के अवतार राम को ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है। राम जो दशरथ के पुत्र हैं, वही साक्षात् ब्रह्म हैं।[३] जो इस बात को नहीं समझ पाते वे रामसाहित्य के मत से विवेकरहित

---

१. जायसी ग्रन्थावली, डा० मनमोहन गौतम, पदमावत, पृ० ७, १२।
मंझन कृत मधुमालती, डा० शिवगोपाल मिश्र, पृ० ३, ४।
चित्रावली, उसमान, श्री जगन्मोहन वर्मा, पृ० २, ३।

२. आदि सोई बरनौं बड़ राजा, आदिहुँ अंत राज जेहि छाजा। आदि—
जायसी ग्रन्थावली, डा० मनमोहन गौतम, पदमावत, पृ० ८।
ठा—ठाकुर बड़ आपु गुसाईं। जेहि सिरजा जग अपनेहिं नाई।
आपुहि आपु जो देखै चहा। आपनि प्रभुता आपु सौं कहा।
वही, वही, अखरावट, पृ० ७३६।

३. जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दशरथ सुत भगतहित, कोसल पति भगवान॥११८॥
रामचरित मानस, डा० माताप्रसाद गुप्त, बालकाण्ड, पृ० ६३।

तथा—
व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद॥१९८॥
वही, वही, वही, पृ० १००।

तथा—वही, वही, अयोध्याकाण्ड, पृ० २१८ पंक्ति सं० १९, २०।

हैं।[१] राम ने मनुष्य की भाँति लीला की, इससे उनके परब्रह्मत्व में कोई भेद नहीं आता। रामसाहित्य में इस बात का कारण यह दिया जाता है कि ईश्वर भक्तों के हित के लिए अवतार धारण करते हैं।[२] अनेक स्थलों पर यह विश्वास दोहराया गया है कि भक्तों के उद्धार के लिए ईश्वर ने शरीर धारण किया है। पुरुषोत्तम राम के स्वरूप में अवतरित होकर साक्षात ब्रह्म ही का चरित्र प्रकट है। राम का चरित्र मनुष्यों के लिए एक आदर्श है। संसार से अधर्म को हटाने के लिए राम ने अवतार लिया था।[३] यह राम ही सगुण ब्रह्म है, नर रूप में प्रत्यक्ष प्रभु है।[४] राम प्राकृत राजा के सदृश व्यवहार करते हैं परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह परब्रह्म नहीं हैं।[५] यह राम वही हैं जिनका वेदों और पुराणों में नेति नेति कह कर गायन किया है। यह राम वही हैं जिनका बड़े बड़े ऋषि और मुनि ध्यान करते हैं। राम ही वह ब्रह्म हैं जिनकी सब देवता उपासना करते हैं। यहीं तक नहीं समस्त देवताओं में श्रेष्ठ शिव जिसका ध्यान प्रतिपल करते रहते हैं वही श्रीराम हैं।

सारांश यह कि राम साहित्य के अनुसार ब्रह्म ने भक्तों और संतों के हित के लिए राम का अवतार धारण किया था। अतः राम ही परब्रह्म का स्वरूप हैं, राम ही निर्गुण सगुण ईश्वर हैं।[६] राम की ही ब्रह्म के रूप में उपासना कल्याणप्रद है।

कृष्णभक्ति शाखा

कृष्ण भक्ति साहित्य में कृष्ण को उसी प्रकार से उपासना का लक्ष्य समझा गया है जिस प्रकार से कि रामसाहित्य में राम को। कृष्ण को विष्णु का अवतार मान कर भागवत पुराण में जो कृष्ण की लीला का गायन है लगभग उसी को कृष्णभक्ति साहित्य में स्वीकार कर लिया गया है। इस शाखा के साहित्य में कृष्ण के परब्रह्मत्व पर उतना ही विश्वास है जितना कि राम साहित्य

---

१. वही, वही, बालकाण्ड, पृ० ६२, पं० सं० ४।

२. नेति नेति जेहिं वेद निरूपा, निजानंद निरुपाधि अनूपा।
संभु विरंचि विष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना।
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई।
वही, वही, बालकाण्ड, पृ० ७५, पं० सं० ३-५।

३. रामचरित मानस, बालकाण्ड, पृ० ६४, पं० सं २२-२४।

४. अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।
रामचरित मानस, डा० माताप्रसाद गुप्त, बालकांड, पृ० ६२, पं० सं० ११।

५. चिदानंदमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी।
नर तन धरेहु संत सुर काजा। कहेहु करेहु जस प्राकृत राजा।
वही, वही, अयोध्याकांड, पृ० २२३, पं० सं० १-२।

६. वही, वही, बालकांड, पृ० ६२, पं० सं० १०-१७।

में राम के परब्रह्मत्व पर। कृष्ण भक्त बारम्बार यही कहता है कि कृष्ण ही इस जगत के आधार हैं, कृष्ण ही परमेश्वर हैं; इनके न कोई माता है, न पिता है, ये अजन्मा हैं, अनादि हैं, लीला के लिए वासुदेव और देवकी के गृह में अवतरित होकर यशोदा और नन्द के घर में क्रीड़ा कर रहे हैं।[२] परन्तु रचयिता को पूरा विश्वास है कि यही कृष्ण समस्त भुवनों के पति हैं। इनके एक एक रोम में अनेक ब्रह्माण्ड समाए हुए हैं। कृष्ण ही वह ब्रह्म है जिनका बड़े बड़े ऋषि मुनि ध्यान करते हैं। कृष्ण ही कर्त्ता हैं, जगत् का संहार करने वाले भी कृष्ण ही हैं। कृष्ण ही समस्त विश्व का पालन कर रहे हैं।[३] परन्तु इस प्रकार के वर्णनों का बाहुल्य नहीं है। कृष्ण साहित्य में कृष्ण की बाल लीला

---

१. आदि सनातन हरि अबिनासी। सदा निरंतर घट-घट बासी।
पूरन ब्रह्म पुरान बखानैं। चतुरानन सिव अंत न जानैं।
गुन गन अगम निगम नहिं पावै। ताहि जसोदा गोद खिलावै।
एक निरंतर ध्यावै ज्ञानी। पुरुष पुरातन सो निर्वानी।—आदि
सूरसागर, पहला खण्ड, दशमस्कंध, पृ० २५५, २५६, पद सं० ६२१।
तथा—परमानन्दसागर, पृ० ४६, पद सं० १०१।

२. नंद जू के बारे कान्ह छाँड़ि दै मथनियाँ।
बार बार कहति मातु जसुमति नंदरनियाँ।
नैंकु रहौ माखन देउं मेरे प्रान-धनियाँ।
आरि जनि करौ, बलि बलि जाऊं हौं निधनियाँ।
जाकौ ध्यान धरैं सबै, सुर नर मुनि जनियाँ।
ताकौ नंदरानी मुख चूमैं लिए कनियाँ।
सेष सहस आनन गुन गावत नहिं बनियाँ।
सूर स्याम देखि सबै भूलीं गोप-धनियाँ॥१४५॥
सूरसागर, पहला खंड, दशम स्कंध, पृ० ३१०।
तथा—वही, वही, वही, पृ० ४३९, पद सं० ५१५; पृ० ८१२, पद सं० १६०८; पृ० ५९४, प० सं० ९७२।

३. गन गंधर्व देखि सिहात।
धन्य ब्रज ललनादि कर तैं, ब्रह्म माखन खात।
नहीं रेख, न रूप, नहिं तनु वरन नहिं अनुहारि।
मातु पितु नहिं दोउ जाकैं, हरत मरत न जारि।
आपु कर्ता, आपु हर्ता, आपु त्रिभुवन नाथ।
आपुहीं सब घट कौ व्यापी, निगम गावत गाथ।
अंग प्रति प्रति रोम जाकैं, कोटि कोटि ब्रह्मंड।
कीट ब्रह्म प्रजंत जल थल इनहिं तैं यह मंड।वही, वही, वही, पृ० ८१०, पद सं० १६०३।

और माधुर्य लीला के वर्णन अधिक हैं। कृष्ण के ब्रह्म के रूप में वर्णन कम हैं। लीला-वर्णन के बीच में संकेत रूप में यह बात रखी गई है कि ये कृष्ण ही परब्रह्म हैं।

कृष्ण के अवतार धारण करने का कारण कृष्ण भक्त कवियों ने वही स्वीकार किया है जो राम साहित्य में राम के अवतार धारण के विषय में है। संतों के कल्याण के हेतु, भक्तों पर कृपा करने के लिए, दुष्टों का संहार करने के लिए ही साक्षात परमेश्वर के रूप में कृष्ण ने ब्रज में अवतार धारण कर अपनी लीला प्रकट की।[१] राम साहित्य में अवतार के हेतु में संतों के साथ विप्रों का कल्याण भी जोड़ दिया गया है,[२] कृष्ण साहित्य में ब्राह्मणों का नाम नहीं लिया गया है। मात्र भक्तों का उद्धार ही अवतार धारण का हेतु बतलाया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से द्रष्टव्य है कि साध्य के स्वरूप के विषय में चारों शाखाओं की अपनी विभिन्न मान्यताएँ थीं। ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी शाखाओं के कवियों ने सगुण का बराबर प्रत्याख्यान किया है। रामसाहित्य और कृष्ण साहित्य का आधार पुराण हैं फलस्वरूप तरह तरह के अवतारों पर विश्वास है और भगवान के निर्गुण स्वरूप का प्रत्याख्यान है। निर्गुण सगुण के वाद विवाद का मुख्य कारण अवतार की भावना है। निर्गुण धारा की शाखाओं में विशेष रूप से ज्ञानाश्रयी शाखा में अवतार की भावना को हास्यास्पद माना गया है। इसी प्रकार सगुण धारा की शाखाओं में विशेष रूप से कृष्ण भक्ति शाखा में ब्रह्म के निर्गुण रूप को हास्यास्पद सिद्ध किया गया है।[३] अवतार की भावना को स्वीकार करने और न करने के कारण चारों शाखाओं की रूप रेखाएँ बिल्कुल भिन्न हो गयी हैं।

---

१. अवनि असुर अति प्रबल मुनीजन कर्म छुड़ाए।
गऊ संतनि के हेत, देह धरि ब्रज में आए।
जेते संगी ग्वाल हैं, ते ते सब हैं देव।
हमनि गर्व इन्द्र कौ हर्यौ सो करत तुम्हारी सेव॥१४॥
कहत नंद लाड़िलौ॥ कुंभनदास, पृष्ठ १४।

तथा—सूरसागर, पहला खंड, पृ० ५९४, पद सं० ९७२; पृ० ७८७, पद सं० १५२२।

२. विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥१९२॥
रामचरितमानस, डा० माताप्रसाद गुप्त, बालकांड, पृ० ९७।
भारत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जंजाल॥८३॥
वही, वही, अयोध्याकांड, पृ० २१८।

३. सूरसागर, दूसरा खण्ड, दशम स्कंध, पृ० १४३८, पद सं० ३४९८; पृ० १४८०, पद सं० ३६३१; पृ० १४९१, पद सं० ३६६८; पृ० १५०२, पद सं० ३७०२।
भँवरगीत, नंददास, पृ० ५, पद सं० १०;
तथा पृ० ९, पद सं० १८; पृ० १०, पद सं० २०; पृ० १२, पद सं० २६; पृ० १३, पद सं० २८।

साधना मार्ग

साध्य के सम्बन्ध में मतभेद होने के फलस्वरूप यह स्वाभाविक था कि साधना सम्बन्धी विचारों में चारों शाखाओं में विभिन्नता होती।

ज्ञानभक्ति शाखा

संत साहित्य में अध्यात्म मार्ग के जिस रूप का वर्णन है वह साध्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के फलस्वरूप कुछ अनोखा सा है। निर्गुण ईश्वर की उपासना के लिए पूजा अर्चना सब निरर्थक है। सब स्थानों पर जो ईश्वर है उसकी किसी विशेष स्थान पर जाकर आराधना करने का विचार किस प्रकार विवेकसंगत हो सकता है। अतः संत साहित्य के अनुसार, पूजा, नैवेद्य आरती आदि जितने भी स्थूल साधन हैं सब महत्वहीन हैं। तीर्थ स्थानों का भी कुछ महत्व नहीं। मंदिरों में जाकर घंटा बजाना संतों की दृष्टि में उपासना नहीं, वरन् ढोंग है। वास्तविक साधना इन सब स्थूल साधनों से सम्बन्ध नहीं रखती। संतों का कहना था कि जिन फूलों को और पत्तियों को तोड़ कर सगुणोपासक मंदिर में देवता पर चढ़ाते हैं उन फूल और पत्तियों में स्वयं प्राण है। फूल तोड़ना ही हिंसा है। पुनः यह कि फूल में कीड़े होते हैं। कोई भी स्थूल वस्तु सर्वथा पवित्र नहीं हो सकती, अतः आराध्य पर अर्पण करने के लिए किस प्रकार उपयुक्त हो सकती है। इसी प्रकार काबा, काशी, कंठी, माला किसी पर संत साहित्य में विश्वास नहीं प्रदर्शित किया गया है।[१]

नकारात्मक बातों का संत साहित्य में बाहुल्य है। कारण यह है कि जब वह परमेश्वर घट घट में, प्रत्येक जीव में वर्तमान है तब उसकी उपासना करने के लिए अपने से बाहर किसी भी साधन को क्यों अपनाया जाय। अपने अन्तर्गत स्थित उस ईश्वर की उपासना करने के लिए किन्हीं विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता नहीं है।

---

१. दूधु बछरै थनहु बिटारिउ। फूलु भँवरि जलु मीनि बिगारउ॥१॥
माई गोविंद पूजा कहा लै चढ़ावउ। अवरु न फूलु अनूपु न पावउ॥रहाउ॥
मैलागर बेरहे है भुइअंगा। बिषु अंम्रितु बसहि इक संगा॥२॥
धूप दीप नईवेदहि बासा। कैसे पूज करहि तेरी दासा॥३॥
तनु मनु अरपउ पूज चरावउ। गुर परसादि निरंजन पावउ॥४॥
पूजा अरचा आहि न तोरी। कहि रविदास कवन गति मोरी॥५॥
संत काव्य, संत रैदास जी, पृ० २१५, पद सं० ७।
कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४५, दोहा सं० १, ८; पृ० ४६, दो० सं० ९, १०;
वही,वही, पृ० ४३, ४४, भ्रम बिधौंसण कौ अंग।
माला जपों न कर जपों, जिभ्या कहों न राम।
सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पाया बिसराम॥१८॥
संत काव्य, संत मलूकदास, पृ० ३६०।

संत साहित्य में अनेक स्थलों पर ऐसे शब्दों का प्रयोग है जो योगमार्ग से संबंध रखते हैं। योग का प्रभाव संतों पर था। योग सम्बन्धी कहीं कहीं विस्तृत वर्णन हैं। कुंडलिनी, षटचक्र अनाहत नाद आदि के विषय में सभी प्रमुख संतों के साहित्य में चर्चा मिलती है। परन्तु इन संतों का अन्त में निष्कर्ष यही है कि ये सब क्रिया क्लिष्ट योग आदि ईश्वर के मार्ग के स्थूल साधन हैं। शरीर को अपने वश में करने के हेतु योग मार्ग का सहारा लिया जा सकता है। परन्तु ईश्वर की अनुभूति में यौगिक क्रियाएँ किस प्रकार सहायक हो सकती हैं। अतः कबीरदास ने एक पद में यह विचार व्यक्त किया है कि मेरी तो ऐसी समाधि लगी है कि जिसमें आँख नहीं बंद करनी पड़ती, कान नहीं बंद करने पड़ते, सहज भाव से सदैव समाधि लगी रहती है। मनुष्य कर्त्तव्य करता रहता है। उसका मन ईश्वर में लीन रहता है। इस प्रकार संतों का साधना मार्ग ऊपर से देखने पर विशेष सरल जान पड़ता है। परन्तु इस सरल साधना में एक बात पर बल है कि साधना में सहज भाव रहना आवश्यक है। कहने से यह विरोधाभास लगता है परन्तु वास्तविकता यह है कि इस सहजता को पाना ही सबसे दुस्तर कार्य है।[1] कर्मकांड सरल है; पूजा अर्चना आरती से ईश्वर प्राप्ति हो सके तब एक साधारण मनुष्य भी इस मार्ग पर लग सकता है। परन्तु सहज भाव से प्रतिपल उस ईश्वर के प्रति समर्पित रहना अत्यन्त कठिन है, इस सहज भाव की प्राप्ति के लिए साधक को नित्य प्रतिपल अभ्यास की आवश्यकता है। सुप्तावस्था, जागरणावस्था प्रत्येक स्थिति में स्मरण करना है, कहीं तार टूटे नहीं।[2] अतः यह सहज भाव सहज ही सिद्ध होने वाली वस्तु नहीं है। संतों ने अपना जीवन उत्सर्ग करके इसे पाया था।

प्रेमाश्रयी शाखा

सूफी साहित्य को पढ़ने से ऐसा लगता है कि प्रेम के परिवेश में ही समस्त साधना अन्तर्निहित है परन्तु योग क्रियाओं के वर्णन सूफी कवियों ने बराबर किए हैं। सूफियों का प्रेममार्ग

---

१. सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजैं विषिया तजी, सहज कहीजै सोइ॥१॥
सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
पांचू राखै परसती, सहज कहीजै सोइ॥२॥
सहजैं सहजैं सब गए, सुत बित कांमणि कांम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दासि कबीरा राम॥३॥
सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हैं कोइ
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ॥४॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० ४१, ४२, सहज कौ अंग।

२. जागन मैं सोवन करै, सोवन मैं लौ लाय।
सुरति डोर लागी रहै, तार टूटि नहिं जाय॥९॥
संतबानी संग्रह, भाग १, साखी, कबीरसाहब, पृ० ६०।

योग की क्रियाओं से, कष्ट-साधनाओं से परिपूर्ण है। संतों के सरल, निश्छल, बिना प्रयास के प्रेम की भाँति सूफियों का प्रेम मार्ग नहीं है। सूफियों के अनुसार आराध्य को पाने के लिए बहुत कठिन साधना करनी पड़ती है। इस मार्ग पर चलने वाले साधक को तन न्योछावर करने के लिए तत्पर रहना पड़ता है, नाना प्रकार के क्लेश बाधाओं से परिपूर्ण मार्ग पर चल कर तब कहीं उस आराध्य से मिलाप होता है। अतः जहाँ एक ओर साधना के क्षेत्र में संतों ने सहजता पर बल दिया था, वहाँ सूफी कवियों ने साधना के क्षेत्र में आने वाले भयंकर कष्टों की ओर बारम्बार संकेत किया है। सूफियों का कथन था कि जो इन भयंकर कष्टों को सह सकता है वही प्रेम के मार्ग पर चल कर अपने इष्ट देव से मिल सकता है।[1]

रामभक्ति शाखा

राम साहित्य में साधना का मार्ग अपेक्षाकृत सरल तथा स्पष्ट है। राम आराध्य हैं, उनकी उपासना में सेवा भाव से सदैव तल्लीन रहना भक्त का कर्तव्य है। इष्टदेव के सगुण होने से विशेष सुविधा है। राम जो विष्णु का अवतार हैं, अनन्त अलौकिक गुणों के साथ एक विशेष रूप से संपन्न हैं, मर्यादापुरुषोत्तम हैं, उनकी भक्ति करना ही साधक का लक्ष्य है। इस भक्ति में विशेष बात यह होनी चाहिए कि वह दास्य भाव की हो। राम स्वभाव से सरल हैं, परन्तु भक्त का यह कर्तव्य है कि उसे राम की महानता का बोध रहे, पूर्ण रूप से दास्य भाव के साथ वह अपने इष्टदेव की उपासना करे। राम की अनेक प्रकार से सेवा करे। राम साहित्य के सर्वप्रमुख ग्रन्थ रामचरितमानस में राम का कथन है कि मैं अपने भक्त पर कृपालु रहता हूं, विशेष रूप से ऐसे

---

१. कहेंसि कुंअर यह पंथ दुहेला, निराधार खेलैं तिन्ह खेला।
चित्रावली, उसमान, श्री जगन्मोहन वर्मा, पृ० ४१, पं० सं० ११।
रैनि अंधेरी अगम अति, अगुवा नाहीं संग।
पंथ अकेला बापुरा, किमि कर पावै भंग॥१०९॥
वही, वही, वही, पृ० ४३।
कहेसि कुंअर यह पंथ दुहेला। अस जनि जानु हंसी औ खेला।
अगम पहार विषय गढ़ घाटी। पंखि न जाइ चढ़े नहिं चांटी।
खोह घराट जाइ नहिं लांघी, देखि पतार कांप नर जांघी।
जाइ सोई जो जिउ परतेजा, सार पांसुली लोह करेजा॥
एहि मगु करे करै जो साधा, चलत निचिंत न होइ पल आधा।
वही, वही, वही, पृ० ७९, पं० सं० १०-१३ और १९।
जायसी ग्रन्थावली, पं० रामचंद्र शुक्ल, पद्मावत, पृ० ५०. दोहा सं० ४ और पंक्ति १६; पृ० ५१, पं० सं० ३-६, पृ० ६०, पं० सं० ८, ९, पृ० ६३, पृ० संख्या १०, ११।

भक्त पर जो मेरे प्रति दास्य भाव रखता है।[१] राम-साहित्य में क्रियाक्लिष्ट योगमार्ग को निम्न दृष्टि से देखा गया है। सहज भाव से भक्ति करने के विचार का भी रामचरितमानस में खण्डन है। कारण यह कहा गया है कि इस सहज मार्ग को साधारण मनुष्य हृदयंगम नहीं कर सकता और इससे समाज के अकल्याण की ही अधिक संभावना है। सहज भाव से भक्ति करना कोई हँसी खेल नहीं है। सहज को जनसाधारण समझने में सर्वथा असमर्थ है, फलस्वरूप उसका विकृत प्रयोग हो रहा है, सहज के नाम पर लोग भक्ति का ढोंग कर रहे हैं। अतः समय की परिस्थितियों को देखते हुए रामसाहित्य में ऐसे साधन का प्रतिपादन किया गया जो जनसाधारण को शान्तचित्त से भक्ति मार्ग पर लगे रहने का सकारात्मक उपाय बता सके।

कृष्णभक्ति शाखा :

कृष्ण भक्ति साहित्य में उपयुक्त तीनों मार्गों को महत्व नहीं मिला है। साकार सगुण कृष्ण के रूप पर विश्वास करते हुए उनकी लीला का गायन करना ही कृष्ण भक्त की साधना थी। एक कृष्ण भक्त के लिए प्रेम के समक्ष योग का कष्ट-बहुल मार्ग अत्यन्त तुच्छ था। कृष्ण भक्तों ने योग मार्ग का एक प्रकार से तिरस्कार किया है। उद्धव गोपी प्रसंग का अपनी लीला गायन में समावेश करके कृष्णभक्त कवियों ने प्रत्यक्ष रूप से योग को व्यर्थ बतला कर उसके समक्ष सगुण साकार कृष्ण से एकमात्र प्रेम करने की ही महत्ता प्रतिपादित की है।[२] दास्य भाव से सदैव हीन

---

१. सब के प्रिय सेवक यह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती।
   रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ४९९, पं० सं० २०।
   वही, वही, पृ० ५१३, पं० सं० ५। वही, वही, पृ० ५३६, पंक्ति सं० ५।

२. ऊधौ जोग जोग कहत, कहा जोग कीऐं।
   स्याम सुन्दर कमल नैन, बसौ मेरे जीऐं॥
   जोग जुगुति साधन तप, जोगि जुग सिरायौ।
   ताकौ फल सगुन मूर्ति, प्रकट दरस पायौ।
   सूरसागर, दूसरा खण्ड, दशम स्कंध, पृ० १५०१, पद सं० ३७००।
   वही, वही, पृ० १४९८, पद सं० ३६९२ से लेकर पृ० १५०६, पद सं० ३७१५ तक।
   कौन ब्रह्म को जोति ग्यान कासौं कहो ऊधो,
   हमरे सुन्दर स्याम प्रेम को मारग सूधो।
   नैन बैन स्तुति नासिका मोहन रूप लखाय,
   सुधि बुधि सब मुरली हरी प्रेम ठगोरी लाय।
   सखा सुन स्याम के।
   भँवरगीत, नंददास, पृ० ४, पद सं० ८।
   वही, वही, पृ० ६, पद सं० १२; पृ० ८, पद सं० १६; पृ० ९, पद सं० १८; पृ० १९, पद सं० ४३; पृ० १९, २०, पद सं० ४४; पृ० २९, पद सं० ६५; पृ० २९, पद सं० ६६।

होकर प्रार्थना करते रहने में भी कृष्ण भक्तों की प्रीति नहीं थी। कृष्ण भक्त अपने लीलमय कृष्ण को सदैव अपने निकट सखा रूप में पाते हैं। गोपी भाव से कृष्ण के साथ सच्ची प्रीति कृष्ण-भक्तों की सर्वश्रेष्ठ साधना है। प्रतिपल कृष्ण में मधुर भाव से हृदय को तल्लीन रखना ही कृष्ण भक्त का लक्ष्य है। सूरदास का कथन था कि निश्चय ही भगवान प्रीति के वश में हैं।[1]

निष्कर्ष

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह द्रष्टव्य है कि चारों शाखाओं के साहित्य में भेद का प्रमुख कारण यह था कि निर्गुण और सगुण मार्ग के कवियों की ईश्वर सम्बन्धी और फलस्वरूप साधना सम्बन्धी धारणाएँ भिन्न थीं। दूसरी बात यह कि निर्गुण मार्ग के सन्तों ने वेद पुराणादि का सहारा लेकर ईश्वर के किसी चरित्र का गान नहीं किया, जब कि सगुण मार्ग के भक्तों ने पुराणों से कथाएँ लेकर राम के चरित्र और कृष्ण की लीला के गायन में ही अपनी समस्त प्रतिभा समर्पित कर दी।

लक्ष्य के दृष्टिकोण से निर्गुण सगुण साहित्य

निर्गुणमार्ग और सगुण मार्ग की विभिन्न शाखाओं में साध्य के स्वरूप तथा साधना के मार्ग में भेद के साथ ही साथ लक्ष्य में भी अन्तर है। ज्ञान मार्गी सन्तों का लक्ष्य सदैव यह रहा कि यह आत्मा उस परमात्मा का अपने अन्दर प्रतिपल अनुभव करे। यह अनुभव इतना स्थायी हो जाय कि आत्मा परमात्मा से तदाकार हो जाय। परन्तु सूफी कवियों में परमात्मा को प्राप्त कर लेना ध्येय था। सूफी कवि की आत्मा जो एक प्रेमी के रूप में आराधना करती है अपना चरम काम्य यह समझती है कि चाहे जितनी बाधाएँ मार्ग में आएँ उस परमात्मा रूपी प्रेयसि को पाना है। जब तक वह प्रियतमा नहीं प्राप्त होती तब तक इस आत्मा रूपी साधक को शान्ति नहीं। इस प्रकार निर्गुण मार्ग की दोनों शाखाओं के लक्ष्य में कुछ भिन्नता है। एक ज्ञानमार्गी भक्त कवि उस अनन्त ईश्वर का अपने हृदय में प्रतिपल अनुभव करता हुआ जीवन्मुक्त की स्थिति में रहना चाहता है, परन्तु प्रेममार्गी सूफी साधक उस परमात्मा रूपी प्रियतमा को अपने निकट प्राप्त कर उसके साथ केलि क्रीड़ा की कामना रखता है। सूफी साधक की आत्मा अपने इष्ट के सौंदर्य पर

---

१. प्रीति के बस्य ये हैं मुरारी।
प्रीति के बस्य नटवर सुभेर्षाहि धर्यौ, प्रीति बस करज गिरिराज धारी।
प्रीति के बस्य ब्रज भए माखन चोर, प्रीति बस्य दाँवरि बँधाई।
प्रीति के बस्य गोपी रमन नाम प्रिय, प्रीति बस जमल तरु मोच्छदाई।
प्रीति बस नंद बंधन बरुन गृह गए, प्रीति के बस्य बन धाम कामी।
प्रीति के बस्य प्रभु सूर त्रिभुवन विदित, प्रीति बस सदा राधिका स्वामी।
सूरसागर, दूसरा खण्ड, दशम स्कंध, पृ० ९४३, पद सं० २०१८।

न्योछावर हो जाना चाहती है। उसके अंग प्रत्यंग का सौंदर्य उसके उपभोग व आनन्द की वस्तु बन जाते हैं।

सगुण मार्ग की दोनों शाखाओं के लक्ष्य निर्गुण मार्ग की दोनों शाखाओं के उपर्युक्त लक्ष्य से नितान्त भिन्न हैं। रामभक्त कवि ने अपने ईश्वर की सेवा में ही जीवन को लगा देने में अपने आपको धन्य समझा है। रामभक्त कवि के लिए भक्ति ही सब कुछ है। भक्ति ही चरम काम्य है। राम भक्त के लिए भक्ति के सम्मुख मुक्ति बहुत तुच्छ पदार्थ है। तुलसीदास के जितने भी आदर्श पात्र हैं वे राम से यही माँगते हैं कि जन्म जन्मान्तर में भगवान तुम्हारे चरण में मेरी प्रीति रहे, भक्ति के आगे मुक्ति नितान्त अर्थहीन है, मुक्ति मुझे नहीं चाहिए, तुम्हारी अनाविल भक्ति ही मैं चाहता हूं।[१] हनुमान और भरत का एकनिष्ठ सेवाभाव से भक्ति का जो आदर्श था वही रामभक्त कवियों का आदर्श है। वैसा ही भाव अपने हृदय में स्थायी रूप से प्राप्त करना राम भक्त कवि का लक्ष्य रहा है।

कृष्णभक्त कवियों की विचारधारा इस सम्बन्ध में उपर्युक्त तीनों शाखाओं के कवियों से पृथक है। कृष्ण भक्त कवि अपने आराध्य के रूप सौंदर्य से इतना आकर्षित है कि वह सदैव उस साकार रूप के सम्मुख रहना चाहता है। उसकी वंशी की ध्वनि से आकर्षित वह उसके मुख की छवि से अभिभूत स्वयं अपने और अपने साथ ही अपने परिवार तथा चारों ओर के वातावरण को भूला हुआ उस ईश्वर की लीला के रस में डूबा रहता है। कृष्ण के प्रति तन मन से अनुराग करना ही कृष्ण भक्ति कवियों का लक्ष्य था। फलस्वरूप राधा का भाव कृष्ण भक्त कवियों का आदर्श था। माधुर्य भाव की इसी चरम सीमा को प्राप्त कर लेना जहाँ राधा और कृष्ण कीट और मृग की भाँति एक हैं, कृष्ण भक्त का लक्ष्य था।

आ—सम्प्रदायबद्ध परिचालन : विभिन्न सम्प्रदायों का उदय

११वीं शताब्दी के बाद दक्षिण भारत में हिन्दू धर्म के सगुणोपासना से सम्बन्धित चार प्रसिद्ध सम्प्रदाय संगठित हुए थे। इन चारों संप्रदायों के आचार्यों में रामानुज ने विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य ने द्वैतवाद विष्णुस्वामी ने विशुद्धाद्वैतवाद और निम्बार्क ने द्वैताद्वैतवाद की स्थापना

---

१. बार बार बर मांगौ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग ॥१४॥
रामचरित मानस, डा० माता प्रसाद गुप्त, उत्तरकाण्ड, पृ० ४९८।
परमानन्द कृपायतन, मन पर पूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी, देहु हमहि श्रीराम ॥३४॥
वही, वही, वही, पृ० ५०९।
अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद, यह बरदानु न आन ॥२०४॥
वही, वही, अयोध्याकांड, पृ० २६६।

की थी। इस प्रकार इन आचार्यों ने संम्प्रदायों की और दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना करके वैष्णव धर्म के भक्ति आन्दोलन को शास्त्रीय रूप दिया। धर्म को साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से देखने पर दूसरी ओर वैष्णव धर्म की निर्गुणोपासना से सम्बन्ध रखनेवाला वारकरी सम्प्रदाय महाराष्ट्र में था। इसके प्रवर्तक ज्ञानदेव १४वीं शताब्दी में वर्तमान थे। इस सम्प्रदाय में परमात्मा को निर्गुण कहा गया है और अद्वैतवाद का समर्थन किया गया है।[१] तीसरी ओर देश में सिद्धों और नाथों के संगठित समाज थे। उत्तर में काश्मीर का शैव सम्प्रदाय दसवीं शताब्दी के भी पहले से वर्तमान था।[२] इन सब भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों के अतिरिक्त भारतवर्ष में १२वीं शताब्दी में सूफी धर्म ने संघबद्ध रूप में प्रवेश किया।[३]

उर्युपक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त मध्ययुग में अनेक नए सम्प्रदायों का उदय हुआ। रामानुज की परम्परा में आने वाले रामानन्द ने अवध में अपना एक पृथक सम्प्रदाय स्थापित किया। मध्वाचार्य की परम्परा में चैतन्य हुए जिनका चैतन्य सम्प्रदाय बंगाल में बना। विष्णुस्वामी की परम्परा में १६वीं शताब्दी में वल्लभाचार्य ने ब्रज प्रदेश में अपना वल्लभ सम्प्रदाय प्रवर्तित किया। निम्बार्क की परम्परा में हितहरिवंश हुए, जिन्होंने अपने विशिष्ट राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया। वारकरी सम्प्रदाय, सिद्ध और नाथों की परम्परा, वेदान्त और सूफी सम्प्रदाय इन सभी का सारतत्व लेकर एक पृथक् विचारधारा का आविर्भाव हुआ जिसे डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने निर्गुण सम्प्रदाय कहा है। सूफियों के भी चार सम्प्रदाय बने जो चिश्ती सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, कादिरी सम्प्रदाय और नक्शबन्दी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध थे।

संप्रदायों के उदय के कारण

इन सम्प्रदायों के उदय के सम्बन्ध में अनेक कारण कहे जाते हैं। इस्लाम धर्म शासन का धर्म था, हिन्दू धर्म और संस्कृति निराश्रित थी। फलस्वरूप इन नए सम्प्रदायों की स्थापना करके हिन्दू धर्म और संस्कृति की रक्षा का प्रयत्न किया गया।[४] एक कारण यह भी बताया जाता है कि

---

१. हिन्दी और मलयालम में कृष्ण-भक्ति काव्य, डा० के० भास्करन नायर, पृ० ३१।

२. वही, वही पृ० ३२।

३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २९५।

४. "स्थान स्थान पर नए आचार्यों ने अपनी अपनी विद्या बुद्धि के अनुसार नए नए धार्मिक पंथों में लोगों को आश्रय दे कर मानों टूटते हुए बाँध को जगह जगह रोका।...विदेशी धर्म के प्रहारों से बचने के लिए और भी बहुलता के साथ धार्मिक मत खड़े हो गए।...बारहवीं शताब्दी से आगे की तीन शताब्दियों में उत्तरी भारत में भक्ति के भी अनेक पंथ प्रचलित हुए। कुछ तो वैष्णव आन्दोलन के फलस्वरूप पहले से ही चले आ रहे थे और कुछ विदेशी धर्म के आघातों से बचने और कुछ निराश्रित जनों की पीर हरने वाले भक्तवत्सल भगवान हरि के आश्रय ग्रहण करने की मनोवृत्ति से बने।"

राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, भूमिका, डा० दीनदयाल गुप्त, पृष्ठ।

सूफी धर्म में संघबद्ध आचरण पर बल दिया जाता था फलस्वरूप उसकी प्रतिक्रिया में हिन्दू धर्म में भी अनेक सम्प्रदायों का प्रवर्तन हुआ। इस्लाम धर्म ने अपने प्रचार के लिए बहुत प्रयत्न किया था। इस्लाम धर्म के मानने वालों के त्योहारों में मतभेद नहीं था। इन सब बातों की प्रतिक्रिया हिंदुओं पर हुई।[१] यह सत्य है कि अनेक कारणों से वह युग धर्म के क्षेत्र में क्रान्ति का था। क्रान्ति काल में स्वाभाविक होता है कि अनेक सामूहिक मत व सिद्धान्त बन जायँ और अपने भिन्न प्रतिपादन के आधार पर उस क्रान्ति के काल में समाज में अपनी अपनी बातों के औचित्य की स्थापना करें तथा अपना प्रचार करें। यही स्थिति १४वीं शताब्दी में धर्म के क्षेत्र में हुई। भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में अनेक सम्प्रदायों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के आधार पर अपनी नयी उपासना पद्धति को सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने का इन सम्प्रदायों ने पूरा प्रयत्न किया।

शासन का धर्म इस्लाम होने के कारण मध्ययुग में जो भी साहित्य लिखा गया उसे राज्य का प्रश्रय नहीं मिला। धार्मिक सम्प्रदायों ने अपने मत के अनुकूल कवियों को अपने क्षेत्र में प्रश्रय दिया। उन्हें साहित्य की रचना करने के लिए और अधिक प्रेरित किया। इस साहित्य के माध्यम से साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रचार में भी सहायता मिली। परन्तु यह स्पष्ट है कि भक्ति साहित्य मात्र साम्प्रदायिक साहित्य नहीं था, वरन् संप्रदायों से प्रभाव ग्रहण करते हुए कवियों की मौलिक भक्ति भावनाओं से परिपूरित था। विशिष्ट शाखा के कवि अपनी निजी मान्यताओं के अनुसार किन्हीं विशिष्ट सम्प्रदायों से प्रभावित हुए।

निर्गुण भक्ति से सम्बन्धित विभिन्न सम्प्रदाय

देश में निर्गुण भक्ति धारा से सम्बन्धित बहुत अधिक सम्प्रदाय थे। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त अनेक पंथों का प्रचलन हुआ। संतों की परम्परा बहुत दीर्घकालीन रही है, प्रत्येक प्रमुख संत के नाम पर उनके शिष्यों ने एक नए पंथ का निर्माण किया। वैष्णव धर्म को सगुण भाव से मानने के अतिरिक्त ऐसे भी वैष्णव धर्मानुयायी स्वतंत्र वर्ग हुए जिनका विश्वास निर्गु-णोपासना में था। हिन्दी प्रदेश के अलावा अन्य प्रान्तों में भी इस प्रकार के सम्प्रदायों का प्रचलन था। इन सम्प्रदायों ने वेदान्त और अद्वैतवाद के निर्गुणोपासनापरक अर्थ किए। हिन्दी भक्ति

---

१. 'इस्लाम धर्म के इन सूफी अनुयायियों ने जब संघबद्ध अचरण पर विशेष बल देना आरम्भ किया तो उनके प्रचार कार्य की प्रतिक्रिया में यहाँ के लोगों के मन में भी क्रमशः हिन्दूपन का भाव जाग्रत होने लगा और इनके सामने किसी न किसी प्रकार की सामूहिक एकता का एक धुँधला आदर्श निर्मित होने लगा। धर्मशास्त्रों के पंडित सर्वसम्मत नियम ढूँढ़ निकालने के प्रयत्न करने लगे और सभी हिन्दुओं के लिए लगभग एक ही प्रकार के पर्व त्यौहार व्रत उपवास एवं संस्कारों के लिए समुचित व्यवस्था करने के उद्देश्य से शास्त्रीय वचनों की व्याख्या भी की जाने लगी।—प्रसारिका, अक्टू० दिस० १९५४, भारतीय संस्कृति में सूफियों का योग, आ० परशु-राम चतुर्वेदी।

साहित्य से इन सम्प्रदायों का निकट सम्बन्ध था। अहिन्दी प्रान्तों में निर्गुणोपासना का प्रचार करने वाले सम्प्रदायों का हिन्दी भाषा के निर्गुण भक्ति साहित्य से सम्बन्ध होने के दो तीन कारण हैं। पहला यह कि भक्त कवि पर्यटन प्रिय होते थे, फलस्वरूप अपने विचारों से मिलते जुलते अन्य प्रान्तीय सम्प्रदायों के संपर्क में आना स्वाभाविक था। दूसरा कारण यह कि सम्प्रदाय के प्रचारक अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए अन्य प्रान्तों में जाते थे। तीसरा कारण यह कि भारतवर्ष में तीर्थ स्थानों की स्थिति इस प्रकार है कि यदि कोई भक्त तीर्थ करने जाता था तो भारतवर्ष की लगभग सभी भाषाओं के लोगों से उसका सम्पर्क स्थापित होता था। इस प्रकार अन्य प्रान्तों में जो निर्गुणोपासना परक संप्रदाय थे उनका हिन्दी प्रदेश के संतों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

ज्ञानाश्रयी शाखा से सम्बन्धित सम्प्रदाय

इस प्रसंग में निगुणोपासना से सम्बन्धित कुछ सम्प्रदायों व पंथों के नाम उल्लेखनीय हैं। 'महानुभाव पंथ' इस प्रकार के सिद्धान्तों में विश्वास रखने वालों में प्रसिद्ध है। महाराष्ट्र में 'महानुभाव पंथ' का प्रचलन हुआ। गुजरात में 'अच्युत पंथ' का प्रवर्तन हुआ। पंजाब में 'जय-कृष्णि पंथ' का आविर्भाव हुआ जिसके मूल प्रवर्तक कृष्णभट्ट जोशी थे। 'वारकरी संप्रदाय' इसमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हुआ। वारकरी सम्प्रदाय ने निगुणोपासना पर अधिक बल दिया। इसके मूल प्रवर्तक पुंडरीक कहे जाते हैं। इसके प्रवर्तकों की विचारधारा पर नाथपंथ का प्रभाव था। इस सम्प्रदाय के प्रचारक नामदेव, ज्ञानदेव, एकनाथ व तुकाराम हुए। 'वारकरी सम्प्रदाय' की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें भक्ति एवं ज्ञान का सुन्दर सामंजस्य करने का प्रयत्न किया गया। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत यद्यपि विट्ठल की उपासना की जाती थी जो विष्णु का रूपान्तर है, परन्तु शिव का विरोध इसमें नहीं मिलता है। वारकरी सम्प्रदाय के अन्तर्गत चैतन्य सम्प्रदाय, स्वरूप सम्प्रदाय, आनंद सम्प्रदाय और प्रकाश सम्प्रदाय नामक चार सम्प्रदाय हो गए। विट्ठल की उपासना का नाम होते हुए भी किस प्रकार निगुणोपासना की स्थिति थी इसका उदाहरण नामदेव का निम्नलिखित पद है:—

अनीले कुंभ भराईले ऊदक, ठाकुर कउ इसनान करउ।
बइआलीस लष जोजल महि होते, बीठलु भैला काइ करउ।
जप जाउ तत बीठलु भैला। महा अनंद करे सदकेला।
आनीले फूल परोईले माला, ठाकुर की हउ पूज करउ।
पहिले बासु लई है भवरह, बीठलु भैला काइ करइ।
आनीले दूधु रीधाईले षीरं, ठाकुर कउ नैवेद करउ।
पहिले दूधु बिटारिउ बछरै, बीठलु भैला काइ करउ।

---

१. वैष्णव धर्म, आ० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ११६।
२. वैष्णव धर्म, आ० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १२०।

ईमै बीठलु ऊमै बीठलु, बीठल बिन संसार नहीं।
थान थनंतरि नामा प्रणवै, पूरि रहउ तूं सरब मही।[१]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि निर्गुण धारा के कवियों में सर्वप्रथम नामदेव का नाम महत्वपूर्ण समझा जाता है। कबीरदास ने भी नामदेव का नाम कुछ स्थलों पर लिया है।[२] सम्भवतः इसी-लिए वारकरी सम्प्रदाय की मुख्य बातें जैसे परमात्मा निर्गुण ब्रह्म है, अद्वैतवाद का सिद्धान्त सर्वोपरि है और सच्ची भक्ति से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है[३], निर्गुण विचारधारा के कवियों के साहित्य में पाई जाती है। इस धारा के संतों का दृष्टिकोण सबसे पहले कबीर की रचनाओं में पूर्ण रूप से प्रकट होता है।[४] कबीर ने नामदेव को भक्तों में आदर्श मानते हुए[५] रामानन्द को गुरु माना है और ऐसा भी कहा जाता है कि कबीर शेख तक़ी के संसर्ग में आए थे।[६] फलस्वरूप इन तीनों से सम्बन्धित जो विचारावलि थी उसका समावेश निर्गुण साहित्य में स्वतः हो गया। नामदेव ने ईश्वर के व्यापकत्व के भाव पर बल दिया था, निर्गुण धारा के सभी कवियों ने ईश्वर की इस व्यापकत्व की भावना पर बल देते हुए किसी एक स्थान अथवा एक रूप में ईश्वर भावका खण्डन किया है। वही ईश्वर जब सबों में निवास कर रहा है तब वाह्य साधनों के माध्यम से उसकी उपासना करना व्यर्थ है। समस्त साधना अनित्य है, वह ईश्वर नित्य है, समस्त साधन अपवित्र हैं, वह ईश्वर पवित्र है। इसी प्रकार रामानन्द के राम नाम का जप और ऐकान्तिक प्रेम की भावना का सिद्धान्त निर्गुणोपासक सन्त कवियों की वाणियों में बहुत प्रखर होकर प्रकट हुआ है।

गुरु की महत्ता इस शाखा के कवियों ने सबसे अधिक मानी है। अन्य शाखाओं के साहित्य में गुरु की महत्ता को इतना उच्च स्थान नहीं प्राप्त है। कबीर ने गुरु को गोविन्द से भी बड़ा बताया क्योंकि गुरु से ही गोविन्द प्राप्त होने की सम्भावना है।

निर्गुण साधना सम्बन्धी जितना हिन्दी साहित्य है वह किसी एक संप्रदाय के संरक्षण में नहीं लिखा गया था। जो विभिन्न पंथ बने वे स्वयं संतों के विचारों के परिणाम थे। पंजाब में गुरु नानक देव (मृ० सन् १५३८ ई०) का नानक पंथ स्थापित हुआ। दादूदयाल (मृ० सन् १६०३ ई०) का दादूपंथ राजस्थान में चला। मलूकदास (मृ० सन् १६८२ ई०) का मलूकपंथ उत्तरप्रदेश में, धरणीदास का धरनीश्वरी सम्प्रदाय बिहार प्रान्त में और चरणदास (मृ० सन् १७८२ ई०) का चरणदासी सम्प्रदाय दिल्ली में स्थापित हुआ।[७] आचार्य परशुराम चतु-

---

१. संत काव्य, पृ० १४५।
२. सनक सनन्दन जैदेव नामाँ। कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९९।
३. हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्तिकाव्य, डा० के० भास्करन नायर, पृ० ३१।
४. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ८९।
५. संत काव्य, पृ० १४३।
६. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल पृ० ८९।
७. वैष्णवधर्म, आ० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १२२।

वेदी का मत है कि इन सबके अनुकरण में अन्य ऐसे अनेक वर्गों की रचना हुई जो सभी मिल कर एक भिन्न संत संप्रदाय से ही जान पड़ने लगे।[1] इस विशेष वर्ग को डा० बड़थ्वाल ने निर्गुण सम्प्रदाय कहा है। डा० बड़थ्वाल ने लिखा है कि हिन्दू और इस्लाम दो विपरीत धर्मों के समागम से जिस आध्यात्मिक आन्दोलन का आविर्भाव हुआ वही धीरे धीरे विकसित होकर निर्गुण विचारधारा के रूप में प्रकट हुआ।[2] तथ्य यह है कि निर्गुण संप्रदाय की स्थापना किसी ने नहीं की, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय के लेखक डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने स्वयं कहा है कि निर्गुणपंथ का प्रवर्तन सम्प्रदाय के रूप में नहीं हुआ था। इसका उदय ही उस साम्प्रदायिकता के विरुद्ध हुआ था जो हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमानों तथा उन दोनों धर्मों के अन्तर्गत आनेवाले भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में एक के दूसरे के विरुद्ध लड़ते समय जाग्रत हुआ करती थी।[3] फिर भी कबीर के पहले से ही वेणी, धन्ना, त्रिलोचन और नामदेव ने जो काव्य लिखा वह अन्य शाखाओं के साहित्य से अपनी भिन्न विशेषताएं रखता है। इन विचित्र विशेषताओं से सम्पन्न यह काव्य-धारा कबीर की वाणी का जल पाकर बहुत समृद्ध हो गई। बाद में चलकर अनेक प्रमुख कवियों के नाम से पंथ बन गए। इन सभी कवियों व उनके पंथों से सम्पन्न जो एक अलग वर्ग था उसका बहुत-सा साहित्य आज निर्गुण भक्ति साहित्य के नाम से महत्वपूर्ण है। इसका कारण यह था कि इस वर्ग के साहित्य में सभी आध्यात्मिक पंथों व संप्रदायों के सारतत्व को अपनाने का प्रयास है, सत्य को पकड़ कर अन्य सब को छोड़ देने की प्रवृत्ति है। निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि किसी विशिष्ट संप्रदाय से संचालित न होते हुए भी निर्गुण भक्ति साहित्य ने स्वयं एक विशाल वर्ग का रूप ले लिया है। इस वर्ग के अन्तर्गत उन तमाम संतों की रचनाएं आती हैं जो शुद्ध-निर्गुणोपासक थे परन्तु वैष्णव धर्म के निकट थे। इस वर्ग के संतों की स्वतंत्र विचारधारा में यद्यपि सूक्ष्म भेद थे जो उनकी व्यक्तिगत साधना के फलस्वरूप उद्भूत थे, किन्तु समष्टि रूप से इन संतों के साहित्य को एक निर्गुण सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

प्रेमाश्रयी शाखा से सम्बन्धित सम्प्रदाय

निर्गुण भक्ति से सम्बन्धित दूसरी शाखा सूफी साहित्य की है। इस साहित्य का सम्बन्ध सूफी धर्म से ही था। सूफी धर्म संघबद्ध रूप में भारतवर्ष में आया था। डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि 'भारत में सूफी धर्म का प्रवेश ईसा की बारहवीं शताब्दी में हुआ। यह धर्म चार सम्प्रदायों के रूप में आया जो समय समय पर देश में प्रचारित हुए। उनके नाम और समय निम्नलिखित हैं:--

१. चिश्ती सम्प्रदाय--सन् बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध
२. सुहरवर्दी सम्प्रदाय--सन् तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध

---

१. वही, वही, वही।
२. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ८८, ८९।
३. वही, वही, पृ० ३५८।

३. कादिरी सम्प्रदाय—सन् पंद्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध
४. नक्शबन्दी सम्प्रदाय—सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध[१]

इन संप्रदायों के सिद्धान्तों व इनकी स्थिति के सम्बन्ध में डा० र मकुमार वर्मा ने अपने हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास में पर्याप्त प्रकाश डाला है। सूफी धर्म के अन्तर्गत केवल तीन शताब्दियों में, १२वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक, चौदह संप्रदाय बन गए।[२] इन सम्प्रदायों से प्रेम काव्य स्पष्ट रूप से प्रभावित था। मुल्ला दाऊद के 'चन्दावन' ग्रन्थ के समय से ही इन सम्प्रदायों का प्रभाव सूफी प्रेम भक्ति काव्य पर पड़ा।[३]

सगुण भक्ति से सम्बन्धित विभिन्न सम्प्रदाय : रामभक्ति शाखा से सम्बन्धित सम्प्रदाय

रामानन्द सम्प्रदाय अपनी राम भक्ति के प्रचार के लिए प्रसिद्ध है। रामभक्ति साहित्य पर इस सम्प्रदाय का बहुत प्रभाव था। रामभक्ति साहित्य का मुख्य स्वरूप तुलसीदास की रचनाओं में सीमित है। तुलसीदास रामानन्द सम्प्रदाय से बहुत प्रभावित थे।[४] यद्यपि अभी तक वे शोध कार्यों से यही प्रमाणित हुआ है कि वे रामानन्द सम्प्रदाय की वैरागी परम्परा में नहीं आते।[५] परन्तु जिस प्रकार रामानन्द सम्प्रदाय में ब्रह्म शब्द से भगवान श्री रामचंद्र का ही बोध होता है. उसी प्रकार तुलसीदास ने भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग श्री रामचंद्र जी के ही लिए किया है।[६] राम के लिए इस प्रकार के कथन रामचरितमानस में हैं कि ब्रह्म व्यापक है, अदृश्य है, अविनाशी है। वह सद् चित्त आनन्द स्वरूप है, निर्गुण है और अनन्त गुणों से सम्पन्न है। उसको मन के सहित वाणी नहीं जान सकती। कोई भी तर्क के द्वारा उसे सिद्ध नहीं कर सकता, सब केवल अनुमान ही लगाते रह जाते हैं।[७] जिस प्रकार रामानन्द सम्प्रदाय में दाशरथि राम को

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ४३२।

२. वही, वही, पृ० ४३४।

३. वही, वही, पृ० ४३८।

४. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव, पृ० ३३७।

५. वही, वही, पृ० ३३६।

६. वही, वही, पृ० ३४०।

७. राम स्वरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कहि ॥१२६॥
रामचरितमानस, डा० माताप्रसाद गुप्त, अयोध्या कांड, पृ० २३२।

ब्रह्म कहा गया था, उसी प्रकार से तुलसी ने भी[1] कहा। राम साहित्य में रामानन्द सम्प्रदाय की रामसंबंधी प्रमुख धारणाओं पर विश्वास जान पड़ता है।

ब्रह्म सम्बन्धी धारणाओं के अतिरिक्त तुलसीदास ने जीवन और जगत् सम्बन्धी जो अभिव्यक्तियां की हैं वे भी रामानन्द सम्प्रदाय के विशिष्टाद्वैत के निकट हैं। निर्गुण सम्प्रदाय की स्थापनाओं को राम साहित्य में सम्मान नहीं मिला, वरन् इसके विपरीत एक प्रकार से उनकी हँसी उड़ाई गई है। इसी प्रकार सूफी सम्प्रदायों के अन्तर्गत लिखे साहित्य की रामचरितमानस में अप्रत्यक्ष रूप से निन्दा की गयी है[2]। इस प्रकार निर्गुण धारा के अन्तर्गत आने वाले सम्प्रदायों की जो भी विशेषताएँ थीं जैसे योग, रहस्यवाद, दाम्पत्य प्रतीक, अद्वैत. निराकारोपासना आदि, इन सबको राम साहित्य में नहीं ग्रहण किया गया। कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों के गोपी भाव की उपासना को भी रामभक्ति साहित्य में स्थान नहीं मिला। माधुर्य भाव की भक्ति की अपेक्षा दास्यभाव की भक्ति का आदर्श स्थापित किया है। आगे चल कर अवश्य रामभक्ति के क्षेत्र में भी रसिक सम्प्रदाय की स्थापना हुई।

मधुर भाव की रामभक्ति की प्रणाली की स्थापना करने वालों में अग्रदास का नाम महत्वपूर्ण[3] हैं। इन्होंने ज्ञान को मिटा कर मधुर भाव की भक्ति की स्थापना की। मानदास ऐसे भक्त हुए जिन्होंने रघुनाथ को गोप्य केलि प्रकट की। 'गोप्यकेलि रघुनाथ की मानदास परगट करी'।[4] रामानन्द जी ने 'वैष्णवमताब्जभास्कर' नामक ग्रन्थ में ब्रह्म जीव में

---

१. रामानन्द सम्प्रदाय, तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव, पृ० ३४२।

२. साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहि भगत कलि, निंदहि बेद पुरान॥५५४॥
दोहावली, तुलसीदास, पृ० १९०।

३. 'ये रस सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य माने गए हैं। भक्ति, रसिकता दम्पति विलास और रस सागर की ये नौका थे। सं० १६३२ वि० के लगभग इनका वर्तमान रहना माना जाता है।'

रामानन्द सम्प्रदाय, तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव पृ० २१०।

'रसिकों का मत है कि शृंगार का मूल प्रवर्तन अग्रदास ने किया था, अतः आधुनिक शृंगारी भक्त अपनी परम्परा का प्रारम्भ अग्रदास से ही मानते हैं।"

वही, पृ० २१७।

४. गोप्य केलि रघुनाथ की मानदास परगट करी।
करुणाबीर सिंगार आदि उज्ज्वल रस गायो।
पर उपकारक धीर कवित कविजन मन भायो।
कौसलेस पद कम्मल अननि दासत ब्रत लीनौ।

नौ प्रकार के सम्बन्ध माने हैं। पिता-पुत्र सम्बन्ध, रक्ष्य-रक्षक सम्बन्ध, शेष-शेषित्व सम्बन्ध, स्व-स्वामी सम्बन्ध, भार्या-भ्रातृत्व सम्बन्ध, आधार-आधेय सम्बन्ध, सेव्य-सेवक सम्बन्ध, आत्मा-आत्मीय सम्बन्ध और भोक्तृ-भोक्तृत्व सम्बन्ध। रसिक संप्रदाय में तीन भावों से भक्ति की जाती थी, सखा या सखी भाव, दास्य भाव और वात्सल्य भाव।

इस प्रकार रामभक्ति के क्षेत्र में भी कृष्णभक्ति के मधुर भक्ति के प्रचारक सम्प्रदायों के अनुकरण पर रसिक सम्प्रदाय की स्थापना हुई, जिसमें सखी भाव की उपासना को विशेष प्रश्रय मिला। रसिक सम्प्रदाय से प्रभावित रामभक्ति साहित्य का वह अंश जिसे मान्यता प्राप्त है, तुलसीदास का साहित्य है और तुलसीदास का साहित्य रामानन्द सम्प्रदाय के अत्यन्त निकट है।

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि रामभक्ति का जो संगठित प्रचार रामानन्द ने किया, उसके मूल सिद्धांतों के आधार पर ही रामभक्ति साहित्य की रचना हुई, फलस्वरूप हिन्दी साहित्य की रामभक्ति शाखा का स्वरूप निर्धारित करने में रामानन्द के सम्प्रदाय का बहुत कुछ प्रभाव था।

कृष्णभक्ति शाखा से सम्बन्धित सम्प्रदाय

सम्प्रदायों के अन्तर्गत लिखे गए साहित्य की मुख्य समस्या कृष्णभक्ति सम्प्रदायों और कृष्ण भक्ति साहित्य के संबंध में है। कृष्णभक्ति से सम्बन्धित संप्रदाय सबसे अधिक थे। कृष्ण भक्ति साहित्य की मात्रा भी अन्य शाखाओं के साहित्य की अपेक्षा अधिक है। ब्रजप्रदेश के अतिरिक्त प्रान्त के अन्य भागों में तथा देश के दूसरे अहिन्दी भाषी प्रान्तों में अन्य भाषाओं में भी कृष्णभक्ति साहित्य की प्रचुर रचनाएं उपलब्ध होती हैं। बंगाली, गुजराती, मराठी, मलयालम और कन्नड़ भाषाओं का कृष्णभक्ति साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। इस बात के अन्य कारण जो भी हों एक कारण यह अवश्य था कि कृष्ण भक्ति के सम्प्रदायों ने कृष्णभक्ति का प्रचार व प्रसार किया और कृष्णभक्ति सम्बन्धी रचनाएँ लिखने के लिए कवियों को प्रोत्साहित किया। कृष्ण-भक्ति के विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताओं में आपस में सिद्धान्त सम्बन्धी अनेक मतभेद थे। कृष्ण को ब्रह्म मानते हुए भी प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी मौलिक मान्यताएँ थीं।

वल्लभ सम्प्रदाय कृष्णभक्ति सम्बन्धी सम्प्रदायों में सबसे महत्त्वपूर्ण है। इस सम्प्रदाय के स्थापक आचार्य वल्लभ थे। वल्लभाचार्य ने कृष्ण की दास्य भक्ति के स्थान पर वात्सल्य और सख्य भक्ति को प्रधानता दी। वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धान्त संबंधी ग्रन्थ भी लिखे। ब्रह्म-सूत्र पर 'अणुभाष्य' लिखकर वल्लभाचार्य ने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को शास्त्रीय

जानकी जीवन सुजस रहत निसिदिन रग भीनौ।
रामायन नाटक की रहसि उक्ति भाषा धरी।
गोप्यकेलि रघुनाथ की मानदास परगट करी।।
भक्तमाल, पृ० ७७५।।

दृष्टि से पुष्ट किया। इसके अतिरिक्त 'तत्वदीप निबन्ध' और श्रीमद्भागवत पर 'सुबोधिनी टीका' लिखी। इस संप्रदाय के संरक्षण में अनेक कवियों ने हिन्दी ब्रजभाषा में कृष्णभक्ति साहित्य की रचना की। वल्लभ सम्प्रदाय के केवल 'अष्टछाप' के कवियों का साहित्य अन्य शाखाओं के समस्त साहित्य से अधिक सम्पन्न है। सूरदास, कुंभनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविन्ददास स्वामी वल्लभ सम्प्रदाय के ऐसे भक्त थे, जिनका साहित्य इन सम्प्रदाय की मान्यताओं को स्वीकार करके चला। सूरदास के विषय में प्रसिद्ध है कि वे पहले विनय के पद गाया करते थे परन्तु वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने के बाद उन्होंने कृष्णलीला का गायन प्रारम्भ किया। सूरदास के संबंध में वार्ता है कि जब उन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्य के समक्ष अपने पद 'प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ' और 'हौं प्रभु सब पतितन को नायक' सुनाए तो महाप्रभु वल्लभाचार्य ने अपने श्रीमुख से कहा—'सूर ह्वै के ऐसे घिघियात काहे को हो कछु भगवत्लीला वर्णन करु।' इसके बाद सूरदास ने अपनी समस्त भावनाएँ और कल्पना शक्ति प्रभु के लीलागान में लगा दीं। इसी प्रकार अन्य अष्टछापी कवियों ने भी प्रभु के लीलागान सम्बन्धी पदों की रचना की है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य का उद्देश्य था प्रभु की लीला का गान। रामानन्द की भांति रामभक्ति का प्रचार उनका लक्ष्य नहीं था। परन्तु वल्लभाचार्य की प्रेरणा पाकर ब्रजभाषा कवियों ने एक विशिष्ट प्रकार से साहित्य का सृजन किया। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने मधुर उपासना की भक्ति की शिक्षा नहीं दी थी। उनके पुत्र विट्ठलनाथ ने अपने संप्रदाय में मधुर उपासना का प्रवेश कराया। मधुर उपासना की प्रणाली पर ब्रज में प्रचलित तत्कालीन चैतन्य सम्प्रदाय का प्रभाव था।

इस स्थल पर द्रष्टव्य है कि एक ओर साम्प्रदायिक सीमाएँ भक्त कवियों पर अपना प्रभाव डालती थीं, साथ ही दूसरी ओर एक सम्प्रदाय पर दूसरे सम्प्रदाय अपने प्रभाव डालते थे। दूसरे सम्प्रदायों के इन प्रभावों से भक्त कवि अछूते नहीं रहते थे। चैतन्य की भक्ति में कृष्ण का नाम लेते-लेते भक्त के मूर्च्छित हो जाने के उल्लेख मिलते हैं। सूरदास ने कृष्ण का नाम लेते लेते राधा का और राधा का नाम लेते लेते कृष्ण के मूर्च्छित हो जाने का बड़ा करुण वर्णन किया है।[1]

चैतन्य सम्प्रदाय मूल रूप में बंगाल में स्थापित हुआ था। ब्रज प्रदेश में इसका प्रचार

---

१. हरि मुख राधा राधा बानी।
धरिनी परे अचेत नहीं सुधि, सखी देखि अकुलानी।
बासर गयौ रैनि इक बीती, बिनु भोजन बिनु पानी।
बांह पकरि तब सखिनि जगायौ, धनि धनि सारंग पानी।।
ह्यां तुम बिबस गए हौ ऐसे, ह्वां तौ वे बिबसानी।
सूर बने दोउ नारि पुरुष तुम, दुहुं की अकथ कहानी।२७५९।
सूरसागर, दूसरा खंड, दशम स्कंध, पृ० ११६५।

साहित्यिक माध्यम से न होकर व्यावहारिक रूप में हुआ था। डा० दीनदयाल गुप्त के एक कथन से यह पता चलता है कि गदाधर भट्ट और विट्ठल रसिक इसी सम्प्रदाय के हिन्दी कवि और भक्त थे।[१] कृष्णभक्ति साहित्य में मधुर उपासना सम्बन्धी पदों के ऊपर जयदेव और विद्यापति का प्रभाव तो था ही, परन्तु एक प्रमुख कारण यह भी था कि कृष्णभक्त कवि चैतन्य सम्प्रदायी भक्तों के सम्पर्क में आए होंगे, फलस्वरूप स्वाभाविक है कि चैतन्य सम्प्रदायी भक्तों का प्रभाव हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों ने ग्रहण किया होगा। चैतन्य संप्रदाय के सिद्धान्तों से सम्बन्धित संस्कृत के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिससे इस संप्रदाय के सैद्धान्तिक पक्ष पर प्रकाश पड़ता है। चैतन्य ने अन्य आचार्यों की भांति भाष्य व सिद्धान्त ग्रन्थ नहीं लिखे। उनके नाम के सम्प्रदाय को स्थिरता देने के लिए तथा अन्य सम्प्रदायों की टक्कर में खड़ा करने के लिए उनके छः शिष्यों ने इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित साहित्य का सृजन किया। इन ग्रन्थों में चैतन्य सम्प्रदाय की भक्ति का प्रकाशन किया गया है। चैतन्य सम्प्रदाय की भक्ति अचिन्त्य-भेदाभेद कहलाई, और इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों ने पहली बार भक्तिरस का शास्त्रीय विवेचन किया। ये ग्रन्थकार षट्गोस्वामियों के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन षट्गोस्वामियों में से रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी, और सनातन गोस्वामी के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। रूप गोस्वामी ने तीन ग्रंथ संस्कृत में लिखे—हरिभक्तिरसामृतसिंधु, उज्ज्वल नीलमणि और लघुभागवतामृत। इस सम्प्रदाय में कीर्तन का सबसे अधिक प्रचलन था। 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' इस मूलमंत्र का पूर्ण भक्तिभाव से विभोर होकर गायन करना इस सम्प्रदाय के अनुयायियों की उपासना की मुख्य प्रणाली थी। कथ्य विषय यह है कि यद्यपि इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य का सृजन नहीं के बराबर हुआ, परन्तु अन्य सम्प्रदायों के हिन्दी भक्त कवियों की रचनाओं पर इस सम्प्रदाय की भक्ति प्रणाली ने पर्याप्त प्रभाव डाला। इस सम्प्रदाय में मुख्य रूप से पांचवें परमपुरुषार्थ पर बल दिया गया, यह पाँचवाँ परमपुरुषार्थ भक्ति है, ऐसी भक्ति जो परमप्रेमरूपा है। इस परमप्रेम रूपा भक्ति का मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति साहित्य पर प्रभाव प्रकट है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के स्थापक आचार्य हितहरिवंश ने राधा और कृष्ण के नित्य संयोग का मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। हितहरिवंश ने स्वयं एक भी विरह वर्णन सम्बन्धी पद नहीं लिखा। हितहरिवंश ने 'मधुर भाव को एक नवीन और विशेष ढंग से अपनाया।'[२], आचार्य हितहरिवंश जी की कविता उनके मधुर भक्ति संबंधी विशिष्ट सिद्धांतों से परिपूर्ण है। ऐसा स्वाभाविक इसलिए था कि वह स्वयं एक सम्प्रदाय के संस्थापक थे। उनकी भक्ति गुप्त रूप की मानी जाती है। इस संबंध में नाभादास के भक्तमाल की पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—

---

१. रधावल्लभ सम्प्रदायः सिद्धान्त और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, भूमिका, डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ण।

२. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, भूमिका, डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० त।

श्री राधाचरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दम्पति तहां की करत खवासी॥
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिधता के अधिकारी।
विधि निषेध नहिं, हास अनन्य उतकट ब्रतधारी॥
व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई भवि पहिचानि है।
हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोई जानि है॥९०॥[1]

आचार्य हितहरिवंश के प्रसिद्ध अप्रकाशित ग्रन्थ 'हितचौरासी' के सभी पद कृष्ण और राधा की संयोग लीला से ही सम्बन्ध रखते हैं। इस सम्प्रदाय के अन्य कवियों ने भी कृष्ण राधा की नित्यकेलि लीला को ही अपने काव्य का विषय बनाया। ध्रुवदास इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध कवि हुए। इनके नाम से अनेक ग्रन्थ कहे जाते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास की सन् १९०० ई० की सालाना खोज रिपोर्ट में ध्रुवदास के लिखे २७ ग्रन्थों का वर्णन है।[2] वृन्दावन सत, सिंगार सत, रसरत्नावली, नेह मंजरी, रहस मंजरी आदि इनमें प्रसिद्ध हैं और इनके नामों से ही माधुर्य लीला के विषय से सम्बन्धित काव्य का संकेत मिलता है। ध्रुवदास के काव्य में अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की चर्चा मिलती है। हितहरिवंश की साधना पद्धति में राधाकृष्ण की परिचर्या को प्रधान स्थान दिया गया था। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने अपने शोध प्रबन्ध में राधावल्लभ संप्रदाय के दस कवियों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। जिनमें से चाचा हित वृन्दावनदास, ध्रुवदास, नेही नागरीदास और हरिराम व्यास विशेष उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। आचार्य हितहरिवंश ने स्वयं अधिक परिमाण में साहित्य का सृजन नहीं किया था, परन्तु उनके सम्प्रदायान्तर्गत कवियों ने छोटे छोटे अनेक ग्रन्थों की रचना करके इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित साहित्य के कलेवर को बहुत समृद्ध किया। राधा-वल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्धित हिन्दी साहित्य के विषय में स्वयं डा० विजयेन्द्र स्नातक का कथन स्थिति को स्पष्ट कर देता है--'यदि काव्य सौष्ठव के आधार पर राधावल्लभीय साहित्य की परख की जाय तो उसमें भी इस सम्प्रदाय का साहित्य सर्वथा हेय या उपेक्षणीय नहीं है। अष्टछाप के सूरदास, नन्ददास और परमानन्ददास को छोड़ कर शेष कवियों से तथा निम्बार्क सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय के भक्त कवियों से वह गुणोत्कर्ष में भी नीचा नहीं ठहरेगा। ब्रजभाषा साहित्य को काव्य सौंदर्य की दृष्टि से समृद्ध बनाने का श्रेय यदि अष्टछाप के कवियों को है तो उसे

---

१. श्री भक्तमाल सटीक, वार्तिक प्रकाश युत, पृ० ५७९।

'ऐसा कौन है जो हितहरिवंश के भजन और उनके भाव का वर्णन कर सके, जिसने श्री राधिका जी के प्रेम में विश्वास से मन को लगाया और प्रिया प्रीतम के सर्वदा बिहार करने और कुंज महलों को मन में विचार करने से मिल कर सखी भाव से श्रृंगार की सेवा करी।"

भक्तमाल हरिभक्ति प्रकाशिका, हितहरिवंश, जी की कथा १९, पृ० १२३।

२. Anual report on the search of Hindi Mamrcripts for theyear 1900. Shyam SundarDas, from no 8 to no. 21:

भक्तिभाव तथा लीलागान से परिपूर्ण करने का श्रेय राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों को ही प्राप्त है। चाचा वृन्दावनदास तथा ध्रुवदास ने इतनी अधिक लीलाओं का वर्णन किया है कि समस्त ब्रजभाषा साहित्य का लीलावर्णन इन दोनों के लीला वर्णन से न्यून ठहरता है। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से इनका लीला वर्णन उत्कृष्ट कोटि का नहीं है, केवल मात्राधिक्य ही उसकी विशेषता है।"[१]

सगुण भक्ति के कृष्णोपासक सम्प्रदायों में हरिदासी सम्प्रदाय के महत्व को नहीं भुलाया जा सकता। इस सम्प्रदाय के कवियों में विट्ठल विपुल, विहारिनीदास, भगवतरसिह और ललित किशोरी का नाम उल्लेखनीय है। हरिदासी सम्प्रदाय के स्थापक स्वामी हरिदास थे जो श्री वल्लभाचार्य और सम्राट् अकबर के समकालीन कहे जाते हैं। ये परम भक्त थे और इनकी वाणी भक्ति रस से परिपूर्ण थी। स्वामी हरिदास ने सखीभाव से कृष्ण की उपासना का प्रचार किया।[२]

निष्कर्ष

उपर्युंक्त विवेचन से निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सम्प्रदायों के नए नए स्वरूप मध्ययुग में प्रवर्तित हो रहे थे और उनसे सम्बन्धित अनेक कवियों ने हिन्दी की ब्रज और अवधी भाषा में अपने भावों का प्रकाशन किया। अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की छाप कवियों की रचनाओं में अवश्य प्रकट हुई है। कुछ कवि ऐसे थे जो कुछ सम्प्रदायों से प्रभावित थे, किसी एक सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं थे। परन्तु यह स्पष्ट है कि सम्प्रदायों का प्रभाव उस समय समाज और साहित्य पर था। इन धार्मिक सम्प्रदायों के आश्रय में लिखा गया साहित्य साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के विभेद के अनुसार निश्चित रूप से विभिन्न स्वरूप का हो गया।

निर्गुंण भक्ति से सम्बन्धित साहित्य किसी एक सम्प्रदाय के संरक्षण में नहीं लिखा गया, परन्तु समस्त निर्गुंण भक्ति साहित्य के संतों के विचारों में मौलिक एकता है जो उन्हें एक विशिष्ट वर्ग के अन्तर्गत रख देती है। इस वर्ग को आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने संत सम्प्रदाय और डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने निर्गुंण सम्प्रदाय कहा है। सूफियों के काव्य में भारत में प्रचलित लोक-कथानकों को ग्रहण किया गया है, परन्तु जहां तक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है यह काव्य सूफी धर्म के सम्प्रदायों के अनुसार है। इसी प्रकार राम भक्ति साहित्य रामानन्द सम्प्रदाय से प्रभावित है। साम्प्रदायिक संरक्षण में सबसे अधिक जिस साहित्य की रचना हुई वह कृष्ण भक्ति साहित्य है। वल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय के आश्रय में विपुल साहित्य की रचना हुई। परिणामस्वरूप चार भिन्न प्रकार की उपासना से सम्बन्धित सम्प्रदायों से प्रभावित जो साहित्य रचना हुई उसके भी चार भिन्न स्वरूप हो गए।

---

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ५८८।
२. वही, भूमिका, डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ण।

(ग) साहित्यगत अन्तर्वर्ती समानता

(अ) ब्रह्म-सम्बन्धी वर्णन : नकारात्मक प्रणाली

निर्गुण मार्गी संतों ने ब्रह्म के वर्णन नकारात्मक प्रणाली के किए हैं। ईश्वर अलख है, अनादि है, अविनाशी है आदि। सुन्दरदास कहते हैं ब्रह्म इच्छारहित है, गुण रहित है, नित्य है, अखंडित है[१]। वह ब्रह्म अजर है, अमर है, अविगत है, अविनाशी है, अजन्मा है, निर्गुण है, और बंधन रहित है[२]। कबीर कहते हैं कि सन्तों ने जिसका सुयश वर्णन किया है वह अविनाशी है, वह उत्पन्न नहीं होता और न उसका विनाश ही सम्भव है।[३] रैदास का कथन है कि गोविंद की गति ऐसी है कि वह निराकार है, अजन्मा है, निश्चल है, अगम्य है, अगोचर है, नाशरहित है, तर्क से परे है, निर्गुण है और अनंत है।[४]

इसी प्रकार के वर्णन सूफी कवियों के ग्रन्थों में मिलते हैं। जायसी का कथन है कि वह ब्रह्म अलख है, उसको देखने में कौन समर्थ है, वह रूपरहित है, वर्णरहित है ऐसा वह कर्ता है।[५]

सगुण की उपासना करनेवाले भक्त कवियों ने भी अपने साकार ईश्वर का अन्ततः निर्गुण ब्रह्म के रूप में अनेक स्थानों पर वर्णन किया है। तुलसीदास कहते हैं जो ब्रह्म गुणरहित है, रूप-रहित है, अलख है, अजन्मा है[६], निजानंद है, निरुपाधि है, अनुपम है[७], व्यापक है, अकल है,

---

१. ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुन, नित्य निरंजन और न भासै।
ब्रह्म अखंडित है अध ऊरध, बाहिर भीतर ब्रम्ह प्रकासै।
सुंदरग्रन्थावली, द्वितीय खंड, पृ० ६५१।

२. अजर अमर अविगत अविनाशी अज
कहत सकल जन गुन अवहगाहे तें
निर्गुन निर्मल अति शुद्ध निरबन्ध नित
ऐसोउ कहत और ग्रन्थनि के थाहे तें।—वही, पृ० ५७९।

३. अविनासी उपजै नहिं बिनसै, संत सुजस कहैं ताकौ रे।
कबीर ग्रन्थावली, पृ १०३

४. निस्चल निराकार अज अनुपम निर्भय गति गोविंदा।
अगम अगोचर अच्छर अतरक निर्गुन अंत अनंदा।
सदा अतीत ज्ञानघन वर्जित निरबिकार अविनासी।
संत काव्य, पृ० २१३

५ अलख अरूप अबरन सो करता। वह सबसों, सब ओहि सों बरता।
जायसी ग्रन्थावली, डा० मनमोहन गौतम, पदमावत, पृ० ९।

६. अगुन अरूप अलख अज जोई। रामचरितमानस, डा० माताप्रसाद गुप्त,
७. निजानंद निरुपाधि अनूपा। बालकाण्ड, पृ० ६२, पं० सं० ११,

इच्छारहित है[१], अकथ्य है, अनामय है, जिसके न नाम है न रूप है, जो अविगत है और आदिरहित है।[२]

इसी प्रकार कृष्णभक्त कवियों के काव्य में भी अनादि ब्रह्म के वर्णन उपलब्ध होते हैं। सूरदास कहते हैं कि वह पूर्ण ब्रह्म अकल है, अविनाशी है।[३]

प्राकृत शरीर से रहित

निर्गुणमार्गी कवियों ने जिस ब्रह्म की उपासना की है उसके न रूप है, न रेखा है, न गुण हैं। कबीरदास ने कहा है कि हे पंडित लोगों उसका कुछ विचार करो जिसके न रूप है न रेखा है न वर्ण है।[४] इसी प्रकार सुन्दरदास ने कहा कि जिसके न नेत्र हैं, न वाणी है, न इंगित करने के अवयव हैं, जिसे न किसी की आशा हैं, जो गन्ध-रहित है, श्वासरहित है, जिसे प्यास नहीं लगती, जिसे शीत और उष्णता का बोध नहीं होता, जिसका कोई एक निश्चित स्थान नहीं है, जो न पुरुष है न स्त्री है, जिसके न पिता है, न माता है, जिसके न रूप है न रेखा है जो न शेष है, न अशेष है, न श्वेत है न पीत वर्ण का है, इसीलिए सुंदरदास कहते हैं कि उस ब्रह्म का वर्णन करने के समय सिद्ध साधकों ने मौन ग्रहण कर लिया, भला ऐसे विलक्षण ब्रह्म का मुख से कौन बखान कर सकता है।[५]

सूफी कवियों की रचनाओं में बड़ी समर्थ भाषा में इस प्रकार के वर्णनों का बाहुल्य है। जायसी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ पदमावत के आरंभ में ही कहते हैं कि वह बिना जीव के जीवित रहता है, उसके हाथ नहीं हैं, पर सब कुछ का करनेवाला वही है, उसके जिह्वा नहीं हैं पर वह समर्थ वाणी का वक्ता है। उसके शरीर नहीं है, उसके कान नहीं हैं पर वह सब कुछ सुनता है, उसके नेत्र नहीं हैं पर वह सब कुछ देखता है, ऐसे उस ईश्वर का किस प्रकार वर्णन किया जाए। वह

---

१. व्यापक अकल अनीह अज। पृ०७५, पं० सं० ३; पृ० १०३, दोहा सं०
२. अकथ अनामय नाम न रूपा। २०५; पृ० १५, पं० सं० ४।
अविगत अलख अनादि अनूपा। वही, अयोध्याकांड, पृ० २१८ पं० सं०-१९

३. पूरन ब्रह्म अकल, अबिनासी, सबनि संग सुख चीन्हौ।
सूरसागर, पहला खंड, दशमस्कंध, पृ० ६६१, पद सं० ११७१।

४. सो कछू बिचारहु पंडित लोई
जाकै रूप न रेष बरण नहीं कोई।
कबीर ग्रन्थावली, पृ० १००।

५. नैन न बैन न सैन न आस न बास न स्वास न प्यास न यातैं।
सीत न घाम न ठौर न ठाम, न पुंस न वाम न बाम न मातैं।
रूप न रेष न शेष अशेष न स्वेत न पीत न स्याम न तातैं।
सुन्दर मौन गही सिध साधक, कौन कहै उसकी मुख बातैं।
सुंदर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ६६०।

ऐसे अनोखे रूप वाला है कि उसके समान कोई नहीं है उसका कोई स्थान नहीं है पर ऐसा नहीं है कि वह किसी स्थान में नहीं है, ऐसा वह बिना रूपरेखा का निर्मल नाम वाला है।[१] अखरावट में इसी प्रकार एक स्थल पर ब्रह्म को वर्ण तथा जाति से रहित कहा गया है।[२]

दशरथ और कौशल्या के पुत्र राम ही जिनके परमोपास्य हैं ऐसे तुलसीदास भी निर्गुणोपासक कवियों की भांति कहते हैं कि ब्रह्म बिना पैरों के चलने में समर्थ है, बिना श्रवणेन्द्रिय के सुनने की सामर्थ्य से युक्त है। बिना हाथों के अनेक प्रकार के कर्म करता है। उसके मुख नहीं है परन्तु समस्त रसों का उपभोग करने में वह समर्थ है, उसके पास वाणी नहीं है पर वह महान वक्ता है, बिना शरीर के वह स्पर्श कर सकता है, बिना नेत्रों के देख सकता है, बिना घ्राणेन्द्रिय के समस्त सुगन्धियों का उसे ज्ञान हो जाता है।[३]

इसी प्रकार नन्द यशोदा के पुत्र कृष्ण की लीला अपने अलौकिक चक्षुओं से निरन्तर देखने वाले सूरदास कहते हैं कि उसके न रूप है, न रेखा है, न तन है, न वर्ण है और न स्वरूप है। उसके माता पिता दोनों ही नहीं हैं।वह ऐसा है जिसे न कोई हरण कर सकता है न मार सकता है न जला सकता है। वह स्वयं ही कर्ता है, स्वयं ही हरण करनेवाला है, स्वयं ही त्रिभुवन का स्वामी है।[४]

---

१. जीउ नाहिं पै जिअइ गुसाईं। कर नाहीं, पै करइ सबाई।
जीभ नाहिं, गुनना सब बोला। तन नाहीं, जो डोलाव सो डोला।
स्रवन नाहिं पै सब किछु देखा। कवन भांति अस जाइ विसेखा।
ना कोई है ओहि के रूपा। न ओहि काहु असत इस अनूपा।
ना ओहि ठांउ, ना ओहि बिनु ठाऊं। रूप रेख बिनु निरमल नाऊं।
ना वह मिला न बेहरा, अइस रहा भरपूरि।
दिष्टिवंत कहं निअरे, अन्ध मुरुख कहं दूरि॥
जायसी ग्रन्थावली, डा० मनमोहन गौतम, पदमावत, पृ० ११।

२. ओहि न बरन, न जाति अजाती। चंद न सुरुज दिवस ना राती।
वही, अखरावट, पृ० ७५२।

३. बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा : ग्रहै घ्रान बिनु बास असेखा।
रामचरित मानस, डा० माताप्रसाद गुप्त, बालकाण्ड, पृ० ६३ पं० सं०१०–१३।

४. नहीं रेख, न रूप नहिं तनु बरन, नहिं अनुहारि।
मातु पितु नहिं दोउण जाकैं, हरत मरत न जारि।
आपु कर्ता, आपु हर्ता, आपु त्रिभुवन नाथ।
आपुहि सब घट कौ व्यापी, निगम गावत गाथ।

सर्वव्यापी

ब्रह्म के व्यापकत्व सम्बन्धी सिद्धान्त के विषय में भी चारों शाखाओं के कवि एकमत हैं। निर्गुण भक्ति साहित्य की ज्ञानमार्गी शाखा के संत सुंदरदास कहते हैं कि वह ब्रह्म व्यापक है, अखण्ड है, एक रस है, परिपूर्ण है, इसीलिए सुन्दरदास कहते हैं कि वह ब्रह्म समस्त विश्व में रमणशील है।[१] इसी प्रकार एक और स्थल पर सुन्दरदास का कथन है कि उसी प्रकार यह जगत् ब्रह्ममय है जिस प्रकार कि ब्रह्म जगतमय है, ऐसा वेद कहते हैं।[२] कबीरदास कहते हैं वह ब्रह्म सब जीवों में एक ही भाव से व्याप्त है तब फिर पंडित और योगी में अन्तर ही क्या है।[३]

सूफ़ी कवि जायसी का कथन है कि सब का मर्म वह स्वामी जानता है जो घटघट में नित्य भाव से स्थित है।[४] पुनः 'अखरावट' में यही भाव व्यक्त किया गया है कि ईश्वर सब में रमा हुआ है और सब में व्याप्त है। ऐसा जानना चाहिए कि वह सब में है[५]। पुनः वह स्वामी समस्त जगत में रमणशील है।[६] 'मधुमालती' के रचयिता मंझन अपने ग्रन्थारंभ में स्तुत करते हुए कहते हैं कि वह गुप्त रूप से सभीम स्थलों पर प्रकट है। वह निर्गुण और एक है।[७] कहीं कहीं इस प्रकार के भी वर्णन है कि ईश्वर दसों दिशाओं में प्रकाशवान है। सबमें स्थित रहते हुए भी

अंग प्रति प्रति रोम जाकै, कोटि कोट ब्रह्मंड।
कीट ब्रह्म प्रजंत जल थल, इनहिं तै यह मंड।
सूरसागर, पहला खंड, दशम् स्कंध, पृ० ८१०, पद सं० १६०३।

१. व्यापक अखण्ड एक रस परिपूरन है।
सुन्दर सकल रमि रह्यौ ब्रह्म तातें तें।
सुन्दर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ५८०।

२. तैसेंहि सुन्दर यह जगत है ब्रह्ममय
ब्रम्ह सौ जगतमय बेद यौं कहत हैं।
वही, पृ० ६४९।

३. व्यापक ब्रम्ह सबनि मैं एकै, को पंडित को जोगी।
संत काव्य, पृ० १७६।

४. सब कर मरम गोसाईं जानइ, जो घट घट महं नित।
जायसीग्रन्थावली, डा० मनमोहन गौतम, पदमावत, पृ० १२।

५. अस जानै है सब महं, और सब भावइ सोइ।

६. पुनि साईं सब जग रमै, और निरमल सब चाहि।
जायसी ग्रन्थावली, डा० मनमोहन गौतम, अखरावट, पृ० ७४५, पृ० ७५०।

७. गुपुत रूप परगट सब ठाईं, निरगुन एकंकार गुसाईं।
मंझन कृत मधुमालती, डा० शिवगोपाल मिश्र, पृ० ३।

सबसे न्यारा है।[१] जो ईश्वर तीनों लोकों में नहीं समाया उसका वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है।[२] वहीं गुप्त रूप समस्त स्थलों पर व्याप्त है। न दूसरा कोई है न कभी हुआ है।[३]

रामभक्तिकाव्य में भी ब्रह्म के व्यापकत्व सम्बन्धी वर्णन बारंबार आते हैं। राम के नामकरण का प्रसंग समाप्त होने पर तुलसीदास कहते हैं, वह ब्रह्म व्यापक है, अकलुष है, निर्गुण है, विनोद से परे हैं।[४] आगे फिर तुलसीदास ने कहा है कि वह ब्रह्म व्यापक है, इच्छारहित है, अजन्मा है, वह ब्रह्म व्यापक है, अलक्ष्य[५] है, अविनाशी[६] है। वाल्मीकि ऋषि से राम अपने रहने के लिए स्थान पूछते हैं, इस प्रसंग को लेकर रामचरितमानस में बड़े सुन्दर ढंग से राम के सर्वव्यापकत्व को वाल्मीकि ऋषि के मुंह से तुलसीदास ने कहलवाया है कि आप मुझसे पूछते हैं कि मैं कहां रहूँ, परन्तु मैं यह पूछते हुए सकुचाता हूँ कि आप कहाँ नहीं हैं। जहाँ आप न हों वही स्थान आपको रहने के लिए मैं बतला दूं।[७]

कृष्णभक्ति काव्य में भी ऐसे वर्णन बारम्बार मिलते हैं कि ब्रह्म का स्वरूप कृष्ण, घट घट में व्यापक हैं। कुंभनदास कहते हैं कि नंद के लाड़ले गोपियों से कहते हैं कि तुम बावरी स्त्रियाँ क्या जानों कि हम त्रिभुवन के स्वामी हैं। जो जल और स्थल में वास कर रहा है वही घट घट में समाया हुआ है।[८] सूरदास कहते हैं कि ये कृष्ण ऐसे हैं जो जल स्थल कीट ब्रह्मा सभी में व्याप्त हैं, इनके समान और कोई नहीं हैं।[९]

---

१. प्रगट दसौ दिसा उजियारा। सरब लीन पै आपु निबारा।

२. जा येहि तीनि लोक न समाना। सो कैसे कै जाइ बखाना।

३. गुपुत रहै परगट जो बेलसै, सरब व्यापी सोइ।
दूजा कोइ न आहै, और भया नहिं कोइ।—वही, पृ० ३।

४. व्यापक ब्रम्ह निरंजन, निर्गुन विगत विनोद।

५. व्यापक अकल अनीह अज।

६. व्यापक ब्रह्म अलख अविनासी।—रामचरित मानस, डा० माताप्रसाद गुप्त, बालकाण्ड, पृ० १००, दोहा सं० १९८; पृ० १०३, दो० सं० २०५; पृ० १६९, पं० सं० ३।

७. पूछेउ मोहि कि रहौं कहं, मैं पूछत सकुचाउं।
जहं न होहु तहं देहु कहि तुम्हहिं देखावहुं ठाउं॥१२७॥
वही, अयोध्याकांड, पृ० २३३।

८. तुम कहा जानो बावरी। हम त्रिभुवन पति राइ।
जोब जल स्थल में बसै, सो घट घट रह्यौ समाइ॥
कहत नंद लाडिलौ।—कुंभनदास, ब्रजभूषण शर्मा, पृ० १३।

९. मातु पिता इनके नहिं कोइ।
आपुहिं करता, आपुहिं हरता, त्रिगुन रहित है सोइ।

वर्णन करना असम्भव

सगुण निर्गुण दोनों भक्ति धाराओं के कवियों ने एक स्वर से इस बात को स्वीकार किया है कि वह ब्रह्म घट घट में व्यापक अवश्य है परन्तु उसका वर्णन करना असम्भव है। साधारण रूप से भक्त कवियों का विश्वास था कि शेष, महेश, शारदा भी जिसका वर्णन करते करते थक गए, वेद भी जिस ईश्वर का वर्णन करने में असमर्थ रहे, नेति नेति कह कर मौन हो गए, उसका वर्णन साधारण मनुष्य कैसे कर सकता है। सच्चाई तो यह है कि जब उस ब्रह्म का मर्म जानना ही असम्भव हैं तो उसका वर्णन किस प्रकार किया जाए। जिसे उस ईश्वर का अनुभव हुआ भी है वह उसका प्रकटीकरण नहीं कर सकता और मन ही मन आह्लादित होता रहता है। इस संबंध में 'गूंगे का गुड़' की उपमा मध्ययुगीन साहित्य में बहुत प्रचलित थी।

निर्गुण भक्ति साहित्य के प्रसिद्ध संत सुन्दरदास कहते हैं कि ब्रह्मभाव में स्थित मनुष्य सर्वदा आनन्द में स्थित रहता है। गूंगा गुड़ का स्वाद किस प्रकार व्यक्त कर सकता है, केवल मन ही मन मुस्कराता रहता है।[१] कबीरदास का कथन है कि जिसने उस अविगत अकल अनूपम ब्रह्म को देखा है उससे उसका वर्णन नहीं हो सकता। वह केवल संकेत करता है, मन ही मन प्रसन्न होता है, मानों गूंगे ने मिठाई का स्वाद जान लिया हो, परन्तु वाणी से हीन अपना आनन्द किस प्रकार प्रकट कर सकता है।[२]

जायसी अपने आखिरी कलाम में कहते हैं कि उसकी स्तुति नहीं की जा सकती, किस जिह्वा से मैं उसकी प्रशंसा करूं।[३] मधुमालती के प्रारंभ में स्तुति करते हुए मंझन कहते हैं कि

कितिक बार अवतार लियौ ब्रज, ये हैं ऐसे ओइ।
जल थल, कीट ब्रह्म के व्यापक, और न इनसरि होइ।
बसुधा भार उतारन काजैं, आपु रहत तनु गोइ।
सूर स्याम माता हित कारन, भोजन मांगत रोइ॥९७२॥
सूरसागर, पहला खंड, दशम स्कंध, पृ० ५९४।

१. सदा रहै आनंद मैं, सुन्दर ब्रह्म समाइ।
गूंगा गुड़ कैसें कहै, मन ही मन मुसकाइ॥
सुंदर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ७९६।

२. अविगत अकल अनूपम देख्या, कहता कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई॥
कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९०।

३. ताकरि अस्तुति कीन्हि न जाई। कौनी जीभि मैं करौं बड़ाई।
जग पाताल जो सेतै कोई। लेखनी परखि समुंद मसि होई।
लागै लिखै सिस्टि मिलि जाई। समुद घटै पै लिखि न सिराई॥
जायसीग्रन्थावली, डा० मनमोहन गौतम, आखिरी क़लाम, पृ० ७५६।

मैं एक जिह्वा से तेरी स्तुति कैसे करूं। सहस्र जिह्वाएं भी तेरी स्तुति नहीं कर सकतीं। पंडित और मुनिजनों ने ब्रह्म का विचार किया परन्तु तेरी स्तुति कोई भी नहीं कर सकता।[१] जो इन तीनों लोकों में नहीं समाया उसका वर्णन भला किस प्रकार किया जा सकता है।[२]

इसी प्रकार रामभक्ति शाखा के कवि भी ब्रह्म का वर्णन करने में अपने को विवश पाते हैं। प्राणचंद चौहान कहते हैं कि उसका वर्णन कौन करे जिसका मर्म वेद भी नहीं जानते।[३]

कृष्णभक्ति शाखा के कुंभनदास के एक पद में गोपियाँ कहती हैं कि हे कृष्ण तुम ही त्रिभुवन के स्वामी हो। तुम जो इच्छा हो वह करो। तुम्हारे गुण और कर्म हम कुछ कह नहीं सकते। शेष सहस्र मुखों से जिसका गान करते हैं और शिव जिसका ध्यान करते हैं उसका पार हम कैसे पा सकती हैं।[४]

(आ)—ईश्वरानुभूति का मार्गः अनन्य प्रेम

सभी भक्तों ने इस बात को स्वीकार किया है कि ईश्वर अनन्य प्रेम के वशीभूत हो जाता है। जिस ईश्वर की स्तुति नहीं की जा सकती, वर्णन नहीं किया जा सकता, जो अनादि है अनन्त है उससे केवल प्रेम करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। मनुष्य इससे अधिक कुछ कर ही नहीं सकता। संत कवि रैदास ने अपने ईश्वर से ऐसी प्रीति जोड़ी थी कि और सबों से अपना सम्बन्ध त्याग दिया था।[५]

---

१. पंडित मुनि जन ब्रम्ह विचारी। तुअ अस्तुति जग काहु न सारी।
एक जीभ मैं कैसे सारौं। सहस जीभ चहुं जुग न पारौं।
तीनि भुअन घट घटन, अनौन रूप बेलास।
एक जीभि कहु ताहि के, कैसे अस्तुति करै हवास।
मंझन कृत मधुमालती, डा० शिवगोपाल मिश्र पृ० ३।

२. जा पेहि तीनि लोक न समाना। सो कैसे कै जाइ बखाना।
मंझन कृत मधुमालती, डा० शिवगोपाल मिश्र, पृ० ३।

३. तेहि कर दहुं को करै बखाना। जिहि कर मर्म वेद नहिं जाना।
हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० १३७।

४. तुम त्रिभुवन पति नाथ। करो सोई जिय भावै।
तुम्हरे गुन अरु कर्म कछू हम कहत न आवै।
सेस सहस मुख गावहीं ध्यान धरें त्रिपुरारि।
हम अहीर ब्रजवासिनी हो क्यों हूं करि पावें पारि॥
कहति व्रज नागरी॥
कुंभनदास, ब्रजभूषण शर्मा, पृ० १७।

५. साची प्रीति हम तुम सिउ जोरी। तुम सिउ जोरि अवर संगि तोरी॥
संतकाव्य, पृ० २१८।

संत आनन्दघन का कथन है कि जहां प्रेम है वहां द्विविधा नहीं है। प्रेम जहां होता है वहाँ स्वामीपन और दासपन नहीं होता। जिसके हृदय में प्रेम होता है उसके हृदय में प्रभु स्वयं आ विराजते हैं।[१] सिखों के अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह ने भी प्रेम पर बल दिया। गोविंदसिंह का कहना था कि और सब क्रियाएं व्यर्थ हैं। मैं सच कहता हूं जिन्होंने प्रेम किया है उन्हें ही प्रभु का दर्शन होता है।[२]

सूफी कवियों की प्रसिद्धि उस उत्कट प्रेम भावना के ही कारण है। प्रेम में जो उच्चतम श्रेणी की तन्मयता सूफियों के साहित्य में मिलती है वह विलक्षण है।[३] जायसी ने कहा है मनुष्य प्रेम से ही वैकुंठ को प्राप्त कर सकता है।[४] वैसे तो लोककथानक और अपनी कल्पना के मिश्रण से लौकिक दिखने वाली कहानियों का वर्णन सूफियों के काव्य ग्रन्थों का विषय है परन्तु सूफी साधक कवियों ने लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेमतत्त्व का आभास देने की चेष्टा की है।[५]

---

१. प्रेम जहां दुविधा नहीं रे, नहिं ठकुराइत रेज।
आनंदघन प्रभु आइ विराजे, आपहि ममता सेज।
संत काव्य, पृ० ३३१।

२. कहा भयो दुहु लोचन मूदि कै बैठि रह्यो बक ध्यान लगायो।
न्हात फिर्यो लियो सात समुद्रन, लोक गयो परलोक गंवायो।
बास कियो बिखिया सो बैठि के, ऐसेहि ऐस सु बैस बितायो।
साचु कहौं सुनि लेहु सबै जिन प्रेम कियो तिन ही प्रभु पायो।
संत-काव्य, गुरुगोविंद सिंह, पृ० ४१६।

३. 'निर्गुण भाव में शास्त्र निरपेक्ष साधनों की भाँति इन कवियों में भी अतिधकतर शास्त्रज्ञान विरहित थे, पर निस्संदेह पहुंचे हुए प्रेमी थे। इन्होंने प्रेम के जिस ऐकान्तिक रूप का चित्रण किया है वह भारतीय साहित्य में नई चीज है। प्रेम की इस पीर के सामने ये लोकाचार की कुछ परवा नहीं करते। भारतीय काव्य साधना में प्रेम की ऐसी उत्कट तन्मयता दुर्लभ थी।"
हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६५।

४. मानुस पेम भयो बैकुंठी। नाहिं त काह, छार एक मूंठी।
जायसी ग्रन्थावली, डा० मनमोहन गौतम, पदमावत, पृ० १७२।

५. 'इस शाखा के सब कवियों ने कल्पित कहानियों के द्वारा प्रेम-मार्ग का महत्व दिखलाया है। इन साधक कवियों ने लौकिक प्रेम के बहाने उस 'प्रेमतत्त्व' का आभास दिया है जो प्रियतम ईश्वर से मिलानेवाला है। इन प्रेम कहानियों का विषय तो वही साधारण होता है अर्थात् किसी राजकुमार का किसी राजकुमारी के अलौकिक सौंदर्य की बात सुनकर उसके प्रेम में पागल होना और घरबार छोड़ कर निकल पड़ना तथा अनेक कष्ट और आपत्तियां लेकर अंत में उस राजकुमारी को प्राप्त करना। पर 'प्रेम की पीर' की जो व्यंजना होती है, वह ऐसे विश्वव्यापक रूप में होती है कि वह प्रेम इस लोक से परे दिखायी पड़ता है।'
हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६६।

रामभक्त तुलसीदास ने भी रामचरणों से स्नेह करने को ही सबसे बड़ा परमार्थ बताया है। यह प्रेम तभी होता है जब मोह और भ्रम विलीन हो जाते हैं, विवेक उदय होता है। ऐसी स्थिति में राम चरणों में स्वभावतः अनुराग हो जाता है। हे सखा, यही सबसे बड़ा परमार्थ है कि राम-चरणों में मन वचन और कर्म से स्नेह हो जाय।[1] राम को केवल प्रेम प्यारा है जो जानने वाले हो वह जान लो।[2] यही कारण है कि तुलसीदास एक ही वरदान माँगते हैं कि उन्हें धर्म, अर्थ काम और मोक्ष कुछ नहीं चाहिए, केवल राम के चरणों में सदैव प्रेमभाव बना रहे यही उनका काम्य है।[3]

कृष्णभक्ति-साहित्य में गोपियों के कृष्ण के प्रति प्रेम भाव की उत्कृष्ट महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। उद्धव गोपी प्रसंग को लेकर सूरदास और नंददास ने भ्रमर को उपालम्भ देने के माध्यम से प्रेम का महत्त्व प्रदर्शित करने वाले अनेक पद लिखे हैं। कृष्णभक्तों ने अनेक प्रकार से तर्क देकर प्रेम की श्रेष्ठता सिद्ध की है। मीरा की कृष्ण के लिए प्रीति भावना हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है।

आत्मसमर्पण

मानव मन बड़ा चंचल है, सांसारिक माया मोह में उलझा रहता है, अतः ईश्वर के प्रति चित्त स्थिर करना बहुत कठिन हो जाता है। ईश्वर से प्रेम ऐसा हो, जिसमें प्रपत्ति की भावना मुख्य हो, पूर्ण आत्मसमर्पण ही लक्ष्य हो। यह भावना भी मन में न रह जाय कि मैं ईश्वर की भक्ति करता हूं, या मैं ईश्वर से प्रेम करता हूँ। ईश्वर के प्रेम में आत्मा घुलमिल जाय, ईश्वर से एकाकार हो जाय। यह प्रेम का मार्ग सरल नहीं है। योग का मार्ग कठिन है, यह बात सभी जानते हैं, क्योंकि उसमें जो अनेक क्रियाक्लिष्ट साधनाएँ करनी पड़ती हैं वह प्रत्येक व्यक्ति के सामर्थ्य की बात नहीं है। परन्तु वास्तविकता यह है कि प्रेम करना योग से भी कठिन है। कबीर-दास कहते हैं राम रूपी प्रेम का रसायन पीने में बड़ा रसमय है परन्तु यह रसायन पीना बड़ा दुर्लभ है क्योंकि पिलाने वाला शील माँगता है, अर्थात् सर्वस्व न्योछावर करने पर ही राम से प्रेम संभव

---

१. होइ विवेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा।
सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम वचन राम पद नेहू।
रामचरित मानस, डा० माताप्रसाद गुप्त, अयोध्याकांड, पृ० २१८ पं० सं० १७, १८।

२. रामहि केवल पेमु पियारा। जान लेहु जो जाननिहारा।
वही, पृ० २३७, पं० सं० ४।

३. अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहौं निरवान।
जनम जनम रति राम पद, यह वरदानु न आन॥२०४॥
वही, पृ० २६६।

है।[1] इसीलिए कबीर कहते हैं कि भाई यह घर प्रेम का है, खाला का घर नहीं है, यहां तो वही प्रवेश कर सकता है जो अपना शीश द्वार पर ही समर्पित कर दे।[2]

प्रेम की पीर

प्रेम के मार्ग के साधक के अन्तर में कितनी पीड़ा है इसका चित्रण मीरा ने अपने पदों में बहुत मार्मिक किया है। मीरा का एक पद है हे सखी, मैं जिस पीड़ा से व्याकुल हूँ उसको कोई नहीं समझता। इस पीड़ा को वही समझने में समर्थ है जो स्वयं इससे बिंधा हुआ है। अन्त में मीरा कहती हैं कि यह 'पीर' तभी मिटेगी जब उपचार स्वयं 'सांवरा' आकर करेगा।[3] ईश्वर से एक बार चित्त लग जाने पर हर क्षण उसी में साधक लीन रहना चाहता है। परन्तु इस साधना में कष्ट कितना है इसको समझ कर ही मीरा गा उठी थीं कि यदि मैं ऐसी जानती कि प्रीति करने में इतना दुःख है तो नगर में ढिंढोरा पीट देती कि प्रीति कोई न करना[4]। इसी अनुपचारणीय, हृदय में निरन्तर चुभने वाली पीड़ा के भाव को लेकर कबीर के दो दोहे अत्यन्त हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं:—

> **कबीर बैद बुलाइया, पकरि के देखी बांहि।**
> **बैद न बेदन जानई, करक करेजे मांहि॥४४॥**
> **जाहु बैद घर आपने, तेरा किया न होय।**
> **जिन या बेदन निर्मई, भला करैगा सोय॥४५॥**[5]

प्रेम करनेवाले साधक की दो स्थितियाँ हैं, ईश्वर दर्शन के काल में वह आह्लादित है और संयोग अवस्था के रूप में अपनी अनुभूतियों को प्रकट कर देता है, परन्तु दूसरा पक्ष भी है

---

१. राम रसायन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, मांगै सीस कलाल।
कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६।

२. कबिरा यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे भुंइ धरे, तब पैसे घर मांहि॥१॥
संतबानी संग्रह, भाग १, साखी, कबीरसाहब, पृ० १८, प्रेम।

३. हेरी म्हां दरदे दिवाणी म्हारां दरद न जाण्यां कोय।
घायल री गति घायल जाण्यां हिवड़ो अगण संजोय।
मीरा री प्रभु पीर मिटांगां जब बैद सांवरो होय।
मीरा पदावली, पृ० १२२, १३३।

४. जै हूं ऐसी जानती रे बाला, प्रीत कीयां दुष होय।
नगर ढंढोरा फेरती रे, प्रीत करो मत कोय।—वही, पृ० ११९।

५. संतबानी-संग्रह, भाग १, साखी, कबीरसाहब, पृ० १८।

विरह का। आध्यात्मिक क्षेत्र में उस अलौकिक तत्त्व के स्पर्श से प्रेम की भावना इतनी तीव्र हो जाती है कि एक क्षण का विछोह भी बहुत कष्टप्रद हो जाता है। साधक निरन्तर उसका सहवास चाहता है।

प्रेम करने वाले की दो अवस्थाएँ हैं, संयोग की और वियोग की। दोनों ही अवस्थाओं का आध्यात्मिक क्षेत्र में महत्त्व है। दोनों का ही अनुभव निर्गुण और सगुण दोनों धारा के साधकों को था। ईश्वर की अनुभूति में आनन्द से विभोर होकर भी दोनों धाराओं के भक्त अपने आनन्द को प्रकट करने की विवशता का अनुभव करते हैं। साथ ही यह प्रेम इतना तीव्र हो जाता है कि उस अलौकिक प्रिय से एक क्षण का भी विछोह बहुत कष्टप्रद हो जाता है। इस विरह का चित्रण निर्गुण धारा के कवियों ने उतनी ही तड़पन के साथ किया है जितना कि सगुण धारा के कवि करते हैं। सुन्दरदास का एक पद है—

मेरो पिय परदेस लुभानौ री।
जानत हौं अजहूं नहिं आए, काहू सों उरझानौ री।
ता दिन तें मोहिं कल न परत है, जब तैं कियौ पयानौ री।
भूष पियास नींद नहिं आवै, चितवत होत बिहानौ री।
बिरह अग्नि मोहि अधिक जरावै, नैननि मैं पहिचानौ री।
बिन देखें हौं प्रान तजौंगी, यह तुम साची मानौ री।
बहुत दिनन की पंथ निहारत, किनहु संदेस न आनौ री।
अब मोहि रह्यौ परत नहिं सजनी, तन तें हंस उड़ानौ री।
भई उदास फिरत हौं व्याकुल, छूटौ ठौर ठिकानौ री।
सुन्दर बिरहनि कौ दुख दीरघ, जो जानै सो जानै री।।[1]

ठीक इसी भाव का मीरा का पद है—

साँवलिया म्हारो छाय रह्या परदेस।
म्हारा बिछड्या फेर न मिल्या, भेज्या वा एक सन्नेस।
रतण आभरण भूखण छांड्या, खोर किया सिर केस।
भगवा मेख धर्‌यां थे कारण, ढूढ्यां चार्‌यां देस।
मीरा रे प्रभु स्याम मिलण बिना, जीवनि जनम अनेस।[2]

निर्गुण मार्ग के संतों ने विरह व्यंजना-सम्बन्धी अनेक पदों व दोहों की रचना की है। कबीर को इस विरह का गहरा अनुभव था, तभी कबीर ने विरह की तीव्र व्यंजना करने वाले अनेक दोहे व पद लिखे। कबीर का कथन था कि राम से जो बिछुड़ गया है, उसे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति

---

१. सुन्दर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १०८।
२. मीरा पदावली, पृ० १२२।

तीनों ही अवस्थाओं में सुख नहीं है।[१], यह विरह इतना भयंकर है कि कबीर ने इसको भुजगम के समान कहा है। इसके ऊपर कोई मंत्र प्रभाव नहीं डालता। राम का वियोगी जीवित नहीं रहता, जीवित रहता है तो बावरा हो जाता है।[२],

सूफी कवियों ने इसी प्रकार विरह के मार्मिक चित्रण किए हैं। 'पद्मावत' में जायसी ने रत्नसेन के चले जाने पर नागमती के प्रसंग में और दुबारा रत्नसेन के दिल्ली में कैद हो जाने पर पद्मावती और नागमती के वियोग के प्रसंग को लेकर अप्रत्यक्ष रूप में आत्मा की विरहावस्था के चित्र अंकित करने का प्रयास किया है। जायसी का कथन है कि 'अब भी कृपा करके आकर, बिखरी हुई मिट्टी को एकत्रित कर हमें जीवित कर दो, तुम्हारे दर्शन से हमें नया जन्म और नया शरीर मिल सकेगा[३], और इसी प्रकार एक और स्थल पर कहते हैं कि 'अब मैं किस भाग में तुम्हें खोजूँ, हे स्वामी तुम कहाँ मिलोगे। खोजने पर कहीं भी तुमको नहीं पाती हूँ, यद्यपि तुम मेरे हृदय में बसे हो।[४], इसी प्रकार कथा के माध्यम से सच्ची विरही आत्मा का संकेत मंझन की 'मधु-मालती' में भी मिलता है जब कवि कहता है कि 'विरह की पीड़ा अत्यन्त कठिन है, तिल तिल रहा नहीं जा रहा है।[५],

कृष्णभक्त कवियों ने भी विरह के चित्रण बड़े साकार किए हैं। सूरदास के काव्य ग्रन्थ सूरसागर में अनेक पद विरह से सम्बन्धित हैं। सूरदास का बारम्बार यही कथन था कि मिल कर बिछुड़ने की वेदना बहुत कष्टप्रद होती है, जिसको लगती है वही जानता है।[६] , परमानन्द

---

१. बासरि सुख न रैणि सुख, ना सुख सुपिनै मांहि।
कबीर बिछुरिया राम सूं, ना सुख धूप न छांह।
कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८।

२. बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।
राम बिनोगी ना जीवै, जिवै तो बौरा होइ।
वही, पृ० ९।

३. अबहुं मण्या कै आइ जियावहु, बिथुरी छार समेटि।
नव अवतार होइ नइ काया, दरस तुम्हारे मेंटि।
जायसी ग्रन्थावली, डा० मनमोहन गौतम, पद्मावत, पृ० ५६३।

४. कवन खंड हौं हैरौं, कहां मिलहु हो नांह।
हेरें कतहुं न पावों, बसहु तौ हिरदै मांह।।
जायसी ग्रन्थावली, डा० मनमोहन गौतम, पदमावत, पृ० ५६३।

५. कठिन पीर विरह कै, तिल तिल रहा न जाइ।
मंझन कृत मधुमालती, डा० शिवगोपाल मिश्र, पृ० ४४।

६. मिलि बिछुरनि की बेदन न्यारी।
जाहि लगै सोई पै जानै, बिरह पीर अति भारी।

दास अपने विरह के पदों के लिए प्रसिद्ध थे। उनके विषय में वार्ता है कि पहले वे विरह के पद गाया करते थे, महाप्रभु वल्लभाचार्य के संपर्क में आने के बाद कृष्णलीला के पद गाने लगे।[1],

इस प्रकार सगुण-निर्गुण दोनों धाराओं के साहित्य में अलौकिक प्रिय के विरह में आत्मा की पीड़ा के मार्मिक चित्र उपलब्ध होते हैं।

नाम जप, ध्यान

निर्गुण और सगुण दोनों धाराओं के भक्त कवियों ने नाम को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। ईश्वर विचार से जाना जा सकता है, मन ही मन उस ईश्वर से अनुराग करना है, इसके लिए एक ही अवलम्बन है, ईश्वर का नाम। ध्यान को ईश्वर पर निरन्तर केन्द्रित रखने के लिए नाम जप सबसे बड़ा सहायक है। सगुण निर्गुण दोनों विचारधाराओं के बीच सबसे बड़ा माध्यम नाम जप है। संतों ने उस नाम-रहित परमेश्वर की आराधना के लिए नाम जप पर बराबर बल दिया। सुन्दरदास ने कहा है कि अब यही उपाय शेष है कि आठों याम स्मरण करता रहूँ।[2], संत कमाल ने कहा कि हे भाई राम का स्मरण करो, राम का ही स्मरण करो।[3], गुरु नानक ने कहा कि राम नाम से ही मन को बेधो, और विचार व्यर्थ क्यों करते हो।[4], दादू ने भी इस

जब यह रचना रची बिधाता, तब हीं क्यों न संभारी।
सूरदास प्रभु काहें जिवाई जनमत ही किन मारी॥३२०६॥
सूरसागर, दूसरा खंड, दशम स्कंध, पृ० १३५२।

१. आचार्य जी आपु श्रीमुख तें परमानन्द स्वामी सों आज्ञा किए जो परमानन्ददास! दंडवत करिके कछु भगवल्लीला गावो। तब परमानन्ददास जी ने श्री आचार्य जी को साष्टांग ये पद गाए:—

सारंग—'कौन बेर भई चली री! गोपाले'
'जिय की साध जिय ही रही री।'
'वह बात कमलदल नैन की।'
'सुधि करत कमलदल नैन की।'

या भांति सों परमानन्ददास ने विरह के पद श्रीआचार्य जी के आगे गाए। सो सुनि के श्री आचार्य जी श्रीमुख सों कहे जो परमानन्ददास! कछु बाल लीला के पद गावो।—परमानन्द-सागर, परमानन्द वार्ता, पृ० ९, १०।

२. सुन्दर यहै उपाइ अब, सुमिरन आठौं जाम।
सुन्दर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ७२७।

३. राम सुमरो, राम सुमरो, राम सुमरो भाई।
संतकाव्य, पृ० २२७।

४. राम नामि मनु वेधिआ अवरु कि करी वीचारु।
वही, पृ० २४७।

प्रकार कहा कि हे भाई राम नाम को मत छोड़ो, प्राणत्याग के अनन्तर राम के ही निकट जीव जायगा।[१],

सूफी साहित्य में नामस्मरण को जिक्र के रूप में महत्त्व दिया गया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी ग्रन्थावली की भूमिका लिखते हुए कहा है कि 'पारमार्थिक वस्तु के बोध के लिए जिक्र (स्मरण) और मुराकबत (ध्यान) आवश्यक है।[२], जायसी ने अखरावट में 'सोऽहं' का निरन्तर जिक्र करने को कहा है।[३],

तुलसीदास जी ने दोहावली में कहा कि राम का स्मरण करो, राम का नाम ही संजीवनी-बूटी है।[४], रामचरित मानस में अनेक स्थलों पर राम नाम की महिमा सम्बन्धी कथन है। राम नाम का दीपक ही अन्तर और बाह्य दोनों को प्रकाशित कर सकता है।[५], निर्गुण और सगुण दोनों से ही राम का नाम श्रेष्ठ है।[६], राम से भी राम का नाम बड़ा है।[७],

कृष्णभक्ति–साहित्य में भी नाम-महिमा सम्बन्धी अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं। मीरा अपने मन से कहती है कि राम नाम का रस पान कर।[८], सूरदास का पद है कि राम नाम ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है जिसे कोई ले नहीं सकता, और जो विपत्ति में सबसे बड़ी सहायक है।[९]

---

१. राम नाम नहिं छांड़ौं भाई, प्राण तजौं निकरि जिव जाई।
   वही, पृ० २८५।
२. जायसी ग्रन्थावली, पं० रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका, पृ० १८२।
३. जायसी ग्रन्थावली, डा० मनमोहन गौतम, अखरावट, पृ० ७५२।
४. सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निरगुन मत तें दूरि।
   तुलसी सुमिरहु राम को, नाम सजीवन मूरि॥८॥
   दोहावली, तुलसीदास, पृ० १५।
५. राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
   तुलसी भीतर बाहरहु, जौ चाहसि उजियार॥२१॥
   रामचरित मनस, डा० माताप्रसाद गुप्त, बालकांड, पृ० १५।
६. अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।
   मोरे मत बड़ नाम दुहूं ते। किय जेहि जग निज बस निज बूते।
   वही, पं० सं० १३, १४।
७. कहउं नाम बड़ राम तें, निज विचार अनुसार।
   वही वही वही, पृ० १६, दोहा सं० २३।
८. राम नाम रस पीजै मनुआं, राम नाम रस पीजै।
   मीरा पदावली, पृ० १६०।
९. हमारे निर्धन के धन राम।
   चोर न लेत, घटत नहिं कबहूं, आवत गाढ़ै काम।
   सूरसागर, पहला खण्ड, विनय, पृ० २९, पद सं० ९२।

(इ)– माया सम्बन्धी विचार

निर्गुण धारा के संतों ने इस माया को भ्रम में डालनेवाली कहा है। संतों के विचार से इस माया को मारना बड़ा कठिन है। कबीरदास का कथन था कि यह माया खांड की तरह मीठी है। यदि गुरु की कृपा न होती तो यह माया बड़ा ही अनर्थ करती।[१], इस माया की अग्नि से समस्त जगत् जल रहा है।[२], यही कारण था कि कबीरदास इस माया को क्षुब्ध हो 'डाइनि' कह देते हैं और इसके परिवार का परिचय इस प्रकार देते हैं कि इस माया के पाँच पुत्र काम क्रोध लोभमोह आदि हैं।[३], गरीब दास इस माया को पार करने की कठिनाई अपने एक पद में व्यक्त करते हैं और इस माया रूपी कठिन जलधारा को पार करने का उपाय भी बतलाते हैं।[४], गुरु तेगबहादुर का कथन है कि मन भूल कर माया में उलझ गया है। इस माया के फंदे में पड़ा हुआ मनुष्य भगवंत भजन के अभाव में वृथा जन्म गँवा देता है।[५],

---

१. कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खांड़।
सतगुर की कृपा भई, नहीं तौ करती भांड़।
कबीर ग्रन्थावली, पृ० २३।

२. माया की झल जग जलपा, कनक कामिणी लागि।
कहु धौं किहि विधि राखिये, रुई पलेटी आगि।। वही, पृ० ३५।

३. इक डाइनि मेरे मन मैं बसै रे,
नित उठि मेरे जीय कौं डसै रे।
या डाइन्य के लरिका पाँच रे,
निस दिन मोहि नचावै नाच रे।, वही, पृ० १६८।

४. पार पाऊ कैसे।
माया सरिता तरुन तरंगिनि, जल जोवन को वैसे।
नैननि रूप नासिका परिमल, जिभ्या स्वाद श्रवण सुनिबे को।
मन मारे मोहे ऐसे।
पंचो इन्द्री चंचल चहु दिसि, असथिर होहु करहु तुम तैसे।
गरीबदास कहै नांव नांव दो, खेइ उतारो जैसे।
—संतकाव्य, पृ० ३२०।

५. भूलिहु मनु माइआ उरझाइउ।
जो जो करम कीउ लालच लगि, तिह तिह आपु बंधाइउ।
समझ न परी विषै रस रचिउ, जसु हरि को बिसराइउ।
संगि सुआमी सो जानिउ, नाहिन, बनु षोजन को धाइउ।
रतनु रामु घट ही के भीतरि, ताको गिआनु न पाइउ।
जन नानक भगवंत भजन बिन, बिरथा जनमु गंवाइउ।—वही, पृ० ३४३।

सूफी काव्य में इस प्रकार के संकेत हैं कि माया बाँधने वाली है। जायसी कहते हैं कि माया मोह बंधन और उलझन मात्र हैं। अखरावट में भी जायसी ने माया के वर्णन किए हैं।[२]

रामभक्ति काव्य में निर्गुण काव्य की भाँति ही माया के वर्णन मिलते हैं तुलसीदास का कथन है कि समस्त गुण और दोषों का कारण माया ही है।[३] यह अज्ञानी जीव सदैव माया के वश में होकर घूमा करता है।[४] स्वयं ब्रह्मा इस माया के वश में हैं।[५] कारण यह है कि यह माया बड़ी बलवती है, कौन ऐसा ज्ञानी है जिसे इसने मोहित नहीं किया। अतः बड़े-बड़े मुनि भी इससे बचने के लिए उस मायापति ईश्वर का ही भजन करते हैं।[६] तुलसीदास ने इस माया के विशाल अवर्णनीय परिवार का भी वर्णन किया है। परन्तु अन्त में अन्य निर्गुणमार्गी कवियों की भाँति यही कहा है कि हरि की कृपा से इस बंधन से छुटकारा मिल सकता है, क्योंकि यह माया हरि की दासी है।[७]

इसी प्रकार के माया सम्बन्धी विचार कृष्णभक्ति कवियों के भी हैं। नन्ददास का कथन है कि माया मोहमयी है।[८] नंददास भगवान से माया को अलग करते हुए कहते हैं कि अरी गोपियो ! माया के गुण और भगवान् के गुण अलग-अलग समझो।[९] सूरदास ने माया के बड़े मनमोहक चित्र खींचे हैं—

---

१. कोउ काहूँ कर नाहिं नियाना। मया मोह बांधा अरुझाना।
   जायसी ग्रन्थावली, डा० मनमोहन गौतम, पद्मावत, पृ० ३८२।

२. वही, अखरावट, पृ० ६३५, ६३६।

३. रामचरितमानस, डा० माताप्रसाद गुप्त, उत्तरकांड, पृ० ५१२, दोहा सं० ४१।

४. रामचरितमानस, डा० माताप्रसाद गुप्त, उत्तरकांड, पृ० ५१३, पं० सं० १५।

५. मन महुं करइ बिचार विधाता। माया वस कवि कोविद ज्ञाता।
   हरि मायाकर अमित प्रभावा। विपुल बार जेहि मोहिं नचावा।
   वही, पृ० ५२१, पंक्ति सं० ३, ४।

६. प्रभु माया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस ज्ञानी।
   ज्ञानी भगत सिरोमनि, त्रिभुवन पति कर जान।
   ताहि मोह माया नर, पाँवर करहिं गुमान।
   सिव विरंचि कहुं मोहै, को है बपुरा आन।
   अस जिय जानि भजहिं मुनि, मायापति भगवान।
   वही, पृ० ५२२, पं० सं० १० तथा दोहा सं० ६२।

७. वही, पृ० ५२७, पंक्ति सं० १५, १६।

८. नंददास ग्रन्थावली, श्री ब्रजरत्नदास, रास पंचाध्यायी पृ० २१।

९. माया के गुन और और हरि के गुन जानौ।
   वा गुन को इन मांझ आनि काहे को सानौ।

माया नटी लकुट कर लीन्हें, कोटिक नाच नचावै।
दर दर लोभ लागि लिए डोलति, नाना स्वाँग करावै।
हरि तुव माया को न बिगोयो ?
तुम्हरी माया महाप्रबल, जिहि सब जग बस कीन्हौ हो।[१],

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि निर्गुण धारा और सगुण धारा दोनों ही प्रकार के हिन्दी साहित्य में माया को प्रबल मोहमयी माना गया है। इससे बचने का भी एक ही उपाय है हरिभक्ति। निर्गुण भाव धारा – संतों ने जिस प्रकार माया को हरि भक्ति में सबसे बड़ा रोड़ा समझ कर हरिभक्त के अस्त्र द्वारा उससे दूर रहने का आदेश दिया ठीक वैसा ही सगुण भक्तों का भी विचार है। दोनों ही धाराओं का साहित्य इस बात का व्याख्यान करता है कि माया के कारण समस्त संसार भ्रमित है और सच्चे रूप को समझ सकने में असमर्थ है। अतः मनुष्य का कर्तव्य है कि इस माया को वश में रखें। माया को वश में करना यद्यपि सबसे अधिक दुस्तरकार्य है, परन्तु जिसे सद्गुरु मिल जाता है वह मनुष्य हरिभक्ति के मार्ग पर लग जाता है और उस पर माया का वश नहीं रह जाता।

(ई)—ईश्वर-सम्बन्धी विशिष्ट विचारों में सादृश्य : एक ही ईश्वर पर विश्वास

निर्गुण और सगुण भक्ति धारा के जितने भी भक्त हुए, सभी ने एक ही ईश्वर पर अनन्य विश्वास रखते हुए उसी की आराधना-उपासना पर बल दिया है। अन्य देवी-देवताओं की उपासना का खंडन सभी ने एक स्वर से किया है। यह अनन्य विश्वास किसी-किसी स्थल पर इस रूप में व्यक्त हुआ है कि एक ही प्रभु से याचना करनी चाहिए। देवी-देवताओं से याचना करने से क्या लाभ है।[१] ईश्वर के सम्मुख देवी-देवता स्वयं याचक हैं। सुन्दरदास ने कहा है, याचक के सामने याचना करने से कोई कार्य सफल नहीं होता, उस एक राम के सम्मुख ही याचना करनी चाहिए।[२], इसी प्रकार सूरदास ने कहा है, याचक के आगे याचना करनेवाले की विनती व्यर्थ हो जाती है।[३],

---

जाके गुन अरु रूप को जानन पायौ भेद।
तातें निर्गुन ब्रह्म कौ कहत उपनिषद बेद।
सुनौ ब्रज नागरी।
नंददास ग्रन्थावली, श्री ब्रजरत्नदास, भंवरगीत, पृ० १७७।

१. सूरसागर, पहला खण्ड, पृ० १५।
२. जाचिग कौं जाचै कहा, सरै न कोई काम।
सुन्दर जाचै एक कौं, अलख निरंजन राम।
सुंदर ग्रन्थावली, द्वितीय खंड, पृ० ६९३।
३. जांचक पैं जांचक कह जाचें? जौ जांचै तौ रसना हारी।
सूरसागर, पहला खण्ड, पृ० १२।

कहीं-कहीं इस अनन्य प्रेम को पतिव्रता का उदाहरण देकर व्यक्त किया गया है। सुन्दर-दास कहते हैं जब ईश्वर चलायेगा तभी चलूँगा, जब सोने को कहेगा, तब सोऊँगा, जब पहनाएगा तब पहनूँगा, सुन्दरदास के विचार से तभी पतिव्रत धर्म का निर्वाह होगा।[१], ठीक इसी भाव का मीरा का प्रसिद्ध पद है कि गिरधर ही मेरा सच्चा प्रियतम है। वह जहाँ बिठायेगा वहीं बैठूँगी, बेचेगा तो बिक जाऊँगी।[२], कबीरदास भी इसी प्रकार अपने को ईश्वर का दास समझते हैं। कबीर ने अपनी उपमा कुत्ते से देते हुए कहा है कि मेरे गले में राम की जंजीर पड़ी है जिधर खींचेगा, उधर ही चला जाऊँगा।[३],

कहीं-कहीं यह विश्वास आलस्य को बढ़ानेवाला भी हुआ है। मलूकदास का दोहा इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि मलूकदास का कथन है कि सबको देनेवाला राम है, अजगर और पक्षी काम नहीं करते, नौकरी नहीं करते[४], ठीक इसी प्रकार सुरन्दरदास कहते हैं कि तू विश्वास को ग्रहण कर, जिस प्रभु ने चोंच बनाई है, वही इसमें 'चून' भी देगा।[५],

---

१. प्रभू चलावै तब चलै, सोइ कहै तब सोइ।
पहरावै तब पहरियै, सुन्दर पतिव्रत होइ।
रजा राम की सीस पर, अज्ञा मेटै नांहि।
ज्यौं राखै त्यौंही रहै, सुन्दर पतिव्रत मांहि।
सुंदरग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ६९४।

२. मैं तो गिरधर के घर जाऊं।
गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊं।
रैण पड़ै तब ही उठ जाऊं, भोर गए उठि आऊं।
रैण दिना वाकै संग खेलूं, ज्यूं त्यूं वाहि रिझाऊं।
जो पहिरावै सोई पहिरुं, जो दे सोई खाऊं।
मेरी उण की प्रीत पुराणी, उण बिन पल न रहाऊं।
जहां बैठावे तितही बैठूं, बेचै तो बिक जाऊं।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जाऊं।
मीरा पदावली, पृ० १०६, १०७।

३. कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउं।—कबीर ग्रंथावली, पृ० २०।

४. अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गए सब के दाता राम॥—संतबानी संग्रह।

५. सुन्दर अजिगिरि परि रहै, उद्यम करै न कोइ।
ताकौ प्रभु जी देत हैं तू क्यों आतुर होइ।
सुंदर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ७१८।

इस प्रकार के कथन मनुष्य को अनुचित मार्ग पर भी लगा सकते हैं। परन्तु इन सबके पीछे भावना यही है कि मनुष्य को ईश्वर पर विश्वास रखते हुए कर्तव्यपालन में रत रहना चाहिए।

यह एकेश्वरवाद की भावना भारतीय दर्शन में बहुत पुरानी है। वैदिक कालीन साहित्य पर विचार करते हुए बलदेव प्रसाद मिश्र ने कहा है—"भिन्न-भिन्न शक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना करते हुए भी आर्यों ने एकेश्वरवाद पर अपनी पूर्ण आस्था रखी है और इसी आस्था के कारण उन्होंने कभी वरुण को सर्वशक्तिमान् कहा, कभी इन्द्र को, कभी रुद्र को और कभी विष्णु को।"[1],

किसी भी रूप की उपासना करते हुए उसके प्रति अनन्यता सबसे अधिक आवश्यक तत्त्व है। इस सम्बन्ध में डा० बलदेव प्रसाद मिश्र का यह कथन तथ्यपूर्ण है कि 'उपासक किसी भी 'नाम' और किसी भी 'रूप' से परमात्मा का भजन कर सकता है परन्तु यह आवश्यक है कि उसी नाम या रूप को परब्रह्म परमात्मा का, पूर्ण ब्रह्म का, नाम रूप समझे। अन्यथा या तो वह अपूर्णता की ओर परानुरक्ति रखने लग जायगा या अनन्यता के अभाव में अटल श्रद्धावान् न बन सकेगा। ये दोनों स्थितियाँ भक्ति के लिए घातक हैं।"[2],

गुण निर्गुण दोनों

ब्रह्म को सिद्धान्ततः निर्गुण रूप में स्वीकार करना और भक्ति भाव से उसकी उपासना करना—यह दो बातें ऐसी थीं कि भक्ति काव्य का प्रत्येक कवि ईश्वर केनिर्गुण स्वरूप और गुणवंत स्वरूप दोनों का वर्णन करता है। भक्ति के अतिरेक में निर्गुण धारा के कवियों ने भी ईश्वर में गुणों का आरोप कर दिया है। बिना किसी गुण के उपास्य प्रेम का आलंबन नहीं बन सकता। कबीर ने इस प्रकार कहा है कि गुण में निर्गुण है और निर्गुण में गुण है।[3], नानक ने इस प्रकार कहा है कि हरि के गुणों में त्रुटि नहीं आ सकती, उनका मूल्य नहीं कहा जा सकता। नानक अपने मुख से हरि के गुणों को गाया करता है और ऐसे गुणों में ही समाया रहता है।[4], गुरु रामदास हरि के दर्शन के लिए बहुत व्याकुल हैं, इस प्रकार तड़प रहे हैं जैसे एक प्यासा बिना पानी के तड़प रहा

---

१. तुलसीदर्शन, डा० बलदेवप्रसाद मिश्र, पृ० ४२।

२. वही, पृ० ६३।

३. संतौ धोखा कासूं कहिए।
गुण में निरगुण निरगुण मैं गुण है बाट छाड़ि क्यूं बहिए।
संत काव्य, पृ० १९०।

४. हरि गुण तोटि न आवई, कीमति कहणु न जाइ।
नानक गुरमुखि हरिगुण रवहि, गुण महि रहै समाई।
संतकाव्य, पृ० २६६।

हो। ;हे सखी ! हिल मिल के उस प्रभु के गुण कहो।' ,[१]गुरु अर्जुनदेव का कथन है कि यह दास सदाईश्वर के गुण गाता रहता है, कृपा कर एक बार सरल चितवन से वह ईश्वर देख ले[२], या इस प्रकार कहते हैं कि इधर निर्गुण है, उधर सगुण है, बीच में मेरा स्वामी रमण कर रहा है।[३], गुरूतेग बहादुर का कथन है कि वही मनुष्य महान् है जो ईश्वर के गुण गाता है।[४], जिस पर वह कृपानिधि दया करता है वही गोविंद के गुण गाता है।[५], जो गोविंद के गुण नहीं गाता वह अपनाजन्म निरर्थक गँवा देता है।[६], कोई बड़ा भाग्यशाली ही होता है जो मलूकदास के विचार में निर्गुण के गुण गाता है।[७],

इस प्रकार यह सहज ही प्रकट है कि निर्गुण भाव के उपासकों ने भी उस निर्गुण के गुणों का उल्लेख अनेक बार किया है।

सूफी कवि ईश्वर को 'निरगुन एकंकार गुसांई' ,"और अलख अरूप अबबरन सो करता"[९],

---

१. हरि दरसन कउ मेरा मनु बहु तपतै, जिहु त्रिषावंतु बिनु नीर।
मेरै मनि प्रेम लगो हरि तीर।
हमरी वेदन हरि प्रभु जानै, मेरे मन अंतर की पीर।
मेरे हरि प्रीतम की बात सुनावे, सो भाई सो मेरा बीर।
मिलु मिलु सषी गुण कहु मेरे प्रभु के, सतिगुर मति की धीर।
जन नानक की हरि आस पुजावहु, हरि दरसनि सांति सरीर।
वही, पृ० २७५।

२. तूं ठाकुर सेवकु फुनि आए। तूं गुपतु परगटु प्रभु आये।
नानक दासु सदा गुण गावै। एक भोरी नदरि निहालिअै जीउ।
वही, पृ० ३०१।

३. मैं नाहीं प्रभ सभ किछु तेरा।
इधै निरगुन ऊधै सरगुन, केल करत विचि सुआमी मेरा।
संत काव्य, पृ० ३०१।

४. कहु नानक सोई नरु नरुआ, जो प्रभ के गुन गावै।
संतकाव्य, पृ० ३४८।

५. जाकउ होत दइआलु, किरपानिधि, सो गोविन्द गुन गावै।
वही, पृ० ३४९।

६. गुन गोंविद गाइउ नहीं, जमनु अकारथ कीन।
वही, पृ० ३५०।

७. कहत मलूका निरगुन के गुन, कोई बड़भागी गाव।
वही, पृ० ३५४।

८. मंझन कृत मधुमालती, डा० शिवगोपाल मिश्र, पृ० ३।

९. जायसी ग्रंथावली, डा० मनमोहन गौतम, ठपदमावत, पृ० ९।

मानते हैं परन्तु ऐसे भी स्थल सूफी कवियों की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि ईश्वर के अनन्त गुणों पर उनका भी विश्वास था। जायसी का एक दोहा है—वह ईश्वर बड़ा गुणवान है, जो चाहता है वह तुरन्त हो जाता है।[१],

इसी प्रकार से, जैसे कि निर्गुण के साथ सगुण भाव निर्गुण धारा के साहित्य में बराबर यत्र तत्र लक्षित होता रहता है, उसी प्रकार सगुण धारा के कवियों ने भी सगुण के साथ निर्गुण का उल्लेख बराबर किया है। तुलसीदास राम के साक्षात् अवतार स्वरूप के उपासक थे, उनके मन में निरंतर एक ही आकांक्षा रहती थी कि प्रभु का सुन्दर स्वरूप नेत्र भर के देखता रहूँ।[२], परन्तु इनके साथ ही वह ईश्वर को रूप रहित और निर्गुण भी मानते थे। इस प्रकार के कई उद्धरण उनकी रचनाओं से दिये जा सकते हैं कि वह ईश्वर रूपरहित है, निर्गुण है, साथ ही गुणों की राशि भी है।[३],

विवेचना एवं निष्कर्ष

वही ईश्वर निर्गुण है और वही सगुण है इस प्रकार के कथनों का कारण यह था कि वह वास्तव में तो निर्गुण है, उसका स्वयं अपना स्वरूप किसी भी गुण से आच्छादित नहीं हो सकता, परन्तु वही जब सृष्टि के समस्त जीवों में, चर अचर में अथवा स्थावर जंगम में व्याप्त हो रहा है, तब उस व्याप्ति के विशेष भाव में वह सगुणरूप है। इस सगुण रूप के आभास का कारण यह है कि जीव भाव से उसका कार्यक्षेत्र गुणों से युक्त जान पड़ता है। सगुण के स्वभाव को समझने में इसीलिए कठिनाई उपस्थित होती है। ईश्वर किस प्रकार अवतरण कर रहा है, 'राम' के रूप में ब्रह्म अवतरित होकर किस प्रकार नित्य है, कृष्ण के अवतरित रूप में किस प्रकार लीला में संलग्न स्वयं वही तत्त्व है, इसको समझने में भ्रम हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। इसी तथ्य को हृदयंगम करते हुए तुलसीदास ने रामचरित का अलौकिकत्व बहुत प्रकार से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया परन्तु अन्त में उन्हें यही कहना पड़ा कि 'निर्गुण रूप समझने में बड़ा सरल है, वास्तविक कठिनाई तो सगुण स्वरूप को समझने में है, बड़े बड़े ज्ञानी मुनि भी सगुण ईश्वर के सहज चरित्र को समझने के समय भ्रमित हो जाते हैं।[४], सूरदास ने भी यद्यपि अपने महाकाव्य सूरसागर के प्रारम्भ में ही

---

१. बड़ गुनवंत गुसाई, चहइ सो होइ तेहि बेगि।
औ अस गुनी संवारइ, जो गुन करइ अनेग॥
जायसी ग्रन्थावली, डा० मनमोहन गौतम, पदमावत, पृ० १३।

२. उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई।
रामचरित मानस, डा० माताप्रसाद गुप्त, बालकांड, पृ० ७५ पं० सं० १।

३. वही, पृ० १६९, पं० सं० ३। पृ० १५, पं० सं० ४; पृ० १००, दोहा सं० १९८।

४. निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, मुनि मुनि मन भ्रम होइ॥७३॥
रामचरितमानस, डा० माताप्रसाद गुप्त, उत्तरकांड, पृ० ५२९।

विनयपूर्वक कहा, क्योंकि निर्गुण के रूप को समझना अत्यन्त कठिन है, कारण यह है कि उसके रूपरेखा आकार आदि कुछ नहीं है, इसलिए सूरदास सगुण रूप की ही लीला का गान करता है[1], परन्तु उद्धव को, जो निर्गुण के स्वरूप से भिज्ञ थे, जब गोपियाँ सगुण रूप के प्रति अपनी अनन्यता का कारण समझाने बैठीं तो सूरदास को भी बड़ा परिश्रम करना पड़ा।

निर्गुण ब्रह्म का अवतरण पक्ष बहुत अधिक आकर्षक व सूक्ष्म है। ब्रह्म के नाना प्रकार के अवतारों में वैष्णव भक्ति भाव में दो अवतारों को ही विशिष्ट मान्यता प्राप्त हुई, राम का उदात्त, पुरुषोत्तम व मर्यादाशील स्वरूप और कृष्ण का परम आकर्षणमय नीलवर्ण लीलाकारी रंजक स्वरूप। राम जो सबमें रमा हुआ है, प्रत्येक में समाया हुआ है, प्रत्येक के अन्दर स्थित है, इस प्रकार वह राम के रूप में विश्व में अवतरणशील है। सोलह सहस्र गोपियां अर्थात् प्रत्येक जीव के साथ कृष्ण है। इस भाव को प्रतीक रूप में ग्रहण करने का प्रत्येक जीव पर चारों ओर व्याप्त तथा रोम रोम में प्रविष्ट होते हुए भी वह ब्रह्म अनन्त, अलक्ष्य है। इस तथ्य की अनुभूति होने के अनन्तर भौतिक नेत्रों को नीलवर्ण सदृश आभासित होता हुआ, प्रत्येक पल के सूक्ष्मतम अंश में भी सबका कर्षण करने वाला, पीताम्बरधारी अर्थात् प्रकृति से युक्त, कृष्ण का स्वरूप, किंचित् स्पष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण को ग्रहण करने के उपरान्त इस सत्य के प्रति भ्रम नहीं रह जाता। राम और कृष्ण दोनों निश्चयपूर्वक नित्य ब्रह्म के स्वरूप हैं। दोनों ही अवतारों के स्वरूप उस एक सत्य के दो पक्ष हैं। दोनों उतने ही सत्य हैं, जितना सत्य वह स्वयं है। ब्रह्म अपनी साक्षी इन दोनों रूपों के माध्यम से जगत् को दे रहा है। परन्तु वस्तुतः वह अपने वास्तविक निज स्वरूप में समस्त गुणों से परे है, गुणातीत है।

वेद-उपनिषद् का सारांश यही है कि वह स्वयं निर्गुण है, 'प्रकृति परावरनाथ है,' परन्तु जब उसने इच्छा की कि 'एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेय' और यह संसार रूपी 'ऊर्ध्व मूलमधः शाखम्' वाला अश्वत्थ वृक्ष[2] अस्तित्व में आया, ऐसी स्थिति में, उस संसार में अपने सूक्ष्म भाव से व्याप्त होने के कारण वह अवतरण करता हुआ जान पड़ता है। जिसने भी उस एकमात्र सत्य का अनुभव किया उसने दोनों ही स्थितियों—सर्वोपरि और सर्वव्यापी (Transcendental and IMManeantal) को ग्रहण किया। इस तथ्य को समझ लेने पर इस विरोधाभास पर आश्चर्य नहीं होता कि क्यों निर्गुण और सगुण उभय धाराओं के कवियों ने गुण और निर्गुण दोनों का गुणगान किया है। संतों के अन्तर्चक्षु जिस क्षण उसके सर्वव्यापकत्व, रमणशील 'राम' भाव का

---

१. अबिगत गति कछु कहत न आवै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पाव।
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालंब मन धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातैं, सूर सगुन पद गावै।
सूरसागर, पहला खण्ड, पृ० १, पद सं० २।

२.—श्रीमद्भागवद्गीता, अध्याय १५, श्लोक १

साक्षात्कार करते हैं, उस क्षण स्वाभाविक रूप से उसे गुणराशि, गुणेश, गुणपति और अनन्य सौन्दर्य से युक्त देखते हैं, परन्तु जिस क्षण साधक की प्रज्ञा उस सर्वोपरि भाव पर स्थित हो जाती है उस समय वह मात्र मूकवत् आस्वादन कर सकता है। कितना समर्थ है वह जो उस चरम ज्ञान और उस ज्ञेय से एकाकार हो गया है, परन्तु दूसरी ओर वह अपने को बड़ी ही दीन स्थिति में पाता है क्योंकि जानते हुए भी वह उस तत्त्व को वाणी में प्रकट नहीं कर सकता। वह किसी से कह कर उस सुख को बाँट नहीं सकता। वह अपने को नितान्त अकेला पाता है, यद्यपि उसका जीव मात्र से तादात्म्य है।

इस ज्ञान को पाने के लिए सभी सन्तों ने अनन्य शरणागति प्रपत्ति की भावना पर बल दिया है। आचार्य रामानुज ने वैष्णव धर्म का शास्त्रीय सम्पादन करते हुए भक्ति भावना का मूल प्रपत्ति को ही बताया। गौरांग महाप्रभु चैतन्य ने इस प्रपत्ति को ही भक्ति के लिए एकमात्र मार्ग कहा। अनन्य शरणागति अर्थात् अहं का पूर्णरूपेण त्याग, मात्र उस ईश्वर का ही अवलम्बन अथवा निरन्तर उस एक सत्य के प्रति अभिमुख रहना ही भक्त का कर्तव्य है। ऐसा अभ्यास कर लेने पर स्वयं ही मनुष्य जीव भाव में स्थित हो जाता है, जो कि उस अनन्त ईश्वर का ही वास्तविक स्वरूप है।

चतुर्थ अध्याय

सामाजिक पक्ष

मध्ययुगीन समाज की रूपरेखा और उसका स्वरूप

तत्कालीन वर्ण व्यवस्था, विभेद की भावना, शूद्रों की स्थिति, इसका प्रभाव

स्मिथ का उल्लेख करते हुए डा० राम कुमार वर्मा का कथन है कि "१४वीं शताब्दी में कुछ प्रलोभन तथा भय के कारण उत्तरी भारत की अधिकांश जनता मुसलमान हो गई थी। मुस्लिम शासक की विनाशकारी प्रवृत्ति के कारण हिन्दुओं में समाज संस्कार को अधिक नियमित करने की आवश्यकता पड़ी। इसके परिणाम स्वरूप वर्णाश्रम धर्म की रक्षा, छुआछूत की जटिलता तथा परदे की प्रथा है।"[1],

वर्ण-व्यवस्था के नियम १५वीं शताब्दी के आरम्भ में अत्यन्त कठोर थे। कबीर के समय में विप्रों का आतंक शूद्रों पर था। विप्र ही नहीं अन्य उच्च जातियाँ भी शूद्रों पर शासन करती थीं। शूद्रों को धार्मिक क्रियाओं का अधिकार नहीं था। इस प्रकार धार्मिक लाभ से वंचित शूद्र ब्राह्मणों से भयभीत रहा करते थे। धार्मिक क्रियाओं के समस्त अधिकार ब्राह्मणों की झोली में थे। क्षत्रिय राजनीति में संलग्न थे। अपने-अपने शासन-सम्बन्धी अधिकार पाने के लिए वे आपस में भी युद्ध में संकोच नहीं करते थे। ब्राह्मण जिस प्रकार धर्म का प्रदर्शन करते रहते थे, क्षत्रिय वीरता व शौर्य का प्रदर्शन करते रहते थे। तथाकथित निम्नवर्ग को एक ही अधिकार था उच्चवर्ग की सेवा करने का। उनका एकमात्र अस्त्र था सहनशक्ति। कबीर ने इस अवस्था इस विभेद, इस ऊँच नीच को अपनी खुली आँखों से देखा था। तथाकथित निम्नवर्णी जाति में जन्म और पालन पोषण होने के परिणाम स्वरूप वह स्वयं अपने ऊपर इस खोखली वर्णव्यवस्था की बुराइयों को झेल कर देख चुके होंगे। कबीरदास ने इसीलिए बड़ी तीक्ष्ण वाणी में इस ऊँच नीच, छूआछूत की भावना पर आघात किए हैं। कबीर इस दृष्टिकोण से साम्यवादी मत रखते थे। यह उन्हीं का साहस था कि वे ब्राह्मणों को सम्बोधित कर सकते कि 'जो तुम ब्राह्मण बह्मनि जाये, और राह ह्‌वै काहे न आए।' ,[2]इस प्रकार के निरुत्तर कर देनेवाले तीखे वाक्य कह कर

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ३७५।

२. नहीं को ऊंचा नहीं को नीचा, जाका प्यंड ताही का सींचा।
जे तू बामन बमनी जाया, तौ आन बाट है काहे न आया।।
कबीर ग्रंथावली, पृ० १०२, पद सं० ४१।

उन्होंने ब्राह्मणों का मुंह बन्द करना चाहा, और निम्न वर्ग के हृदय से हीनता की ग्रंथि मिटानी चाही। संतों का कथन था कि जब जन्म के समय सब एक से हैं, मुसलमान हिन्दू का अन्तर जन्म के समय नहीं होता,[१], सभी एक भाव से इस संसाररूपी महासागर में प्रविष्ट होते हैं तब इस प्रकार का भेद विभेद निरर्थक है। जन्म के समय ब्राह्मणों का भी कोई चिह्न नहीं होता। कबीर ने ब्राह्मणों को सम्बोधित करके कहा है कि यदि तुम सच्चे ब्राह्मण थे तो क्यों नहीं जन्म के समय ही माथे पर त्रिपुण्ड आदि धारण करके उत्पन्न हुए। इस प्रकार के कथनों से यही पता चलता है कि उस समय वर्ण व्यवस्था कठोर थी, खोखली ऊँच नीच की भावना का प्राबल्य था, जब कि वास्ताविकता यह है कि कोई भी मनुष्य जन्म से छोटा बड़ा नहीं होता। इस कठोर जाति व्यवस्था से लाभ कम थे, इससे उत्पन्न होनेवाली हानियाँ उस समय अधिक थीं। मिथ्या प्रभुता, मिथ्या हीनता की भावना से समाज ग्रसित था। समाज का संगठन सामुदायिक नहीं था। इस जाति व्यवस्था से उत्पन्न सामुदायिकता के अभाव ने हिन्दुओं को मुसलमानों के समक्ष पराजित होने में सहयोग दिया। वर्ण-व्यवस्था के नाम पर व्यर्थ का छुआछूत समाज में भर गया था।[२], इन झूठे तथ्यहीन आचारों के पीछे साधारण मानव समूह अपने समय व शक्ति के एक बड़े भाग का अपव्यय कर रहा था। सबसे अधिक निराशाजनक पक्ष यह था कि इस्लाम धर्म का देश में प्रवेश हो चुका था, उसमें इस प्रकार जाति, पांति, छुआछूत, ऊँच-नीच न होने के कारण हिन्दुओं की वर्णव्यवस्था से बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई। जिस निम्न वर्ग को समाज सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता था, वह इस्लाम धर्म को अपना लेता था। हिन्दुओं का जाति बन्धन इतना कठोर और अनुदार था कि एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति में प्रवेश नहीं कर सकता था, दूसरी जाति को नहीं अपना सकता था। मुसलमान इस विन्दु पर उदार थे। हिन्दुओं के जातिवाद के पाखण्ड से ऊबे व्यक्ति को इस्लाम धर्म में बड़ी सरलता से शरण मिल जाती थी, और समानता का व्यवहार और सम्मान मिलता था। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि ऐसे वर्ग, जिन्हें समाज सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता था, धर्म परिवर्तन कर लेते थे। यदि सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो दोनों ही बातें परस्पर आश्रित हैं। वर्णव्यवस्था जितनी ही रूढ़िबद्ध है, उतना ही असम्मानित वर्ग में विद्रोह आवश्यक था।

कितनी विचित्र बात है कि जिस वर्ण व्यवस्था को इसलिए समाज में लागू किया गया था

---

१. जौ पै करता बरण विचारे। तौ जनमत तीनि डांडि किन सारै॥
जे तू तुरक तुरकनी जाया, तौ भीतरि खतना क्यूं न कराया॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० १०२, पद सं० ४१।

२. "तत्कालीन भारतीय समाज का रूप विश्रंखलित समुदाय मात्र था। उसमें न तो सामूहिक एकता की भावना थी और न वह इसे आवश्यक मानता था। धार्मिक विश्वासों और साधनाओं का रूप भी यहाँ व्यक्तिगत ही था, सामुदायिक नहीं।"
भारतीय संस्कृति में सूफियों का योग, परशुराम चतुर्वेदी। (प्रसारिका—अक्तूबर दिसम्बर, १९५४)।

कि समाज के प्रत्येक क्षेत्र का कार्य सुचारू रूप से हो सके, उसी ने इतना विकृत रूप धारण कर लिया। कोई भी कार्य जब ऊँचा नीचा नहीं होता तब कार्य करने वाला कैसे ऊँचा नीचा हो जाता है। प्रत्येक के लिए अपने ही धर्म का पालन श्रेयस्कर है, व्यवहार सम्बन्धी गीता का यह महावाक्य प्रत्येक मनुष्य को अपने निर्दिष्ट कर्तव्य में लगे रह कर ही भक्ति में नियोजित करता है। जिस भारतीय संस्कृति में इतनी उच्च कर्त्तव्य भावना का विधान है उसमें वर्णव्यवस्था के क्षेत्र में इतनी विकृतियाँ कैसे समा गईं और समाज की नींव को खोखला करती चली गई, यह प्रश्न चित्य है।

इस स्थिति के दो स्पष्ट परिणाम थे, एक यह कि असम्भावित वर्ग में विद्रोह की भावना का प्रवेश, दूसरे यह कि जाति परिवर्तन करते हुए हिन्दुओं से धर्म और समाज की रक्षा की भावना। हिन्दू धर्माचार्य इस परिस्थिति के प्रति सजग हुए, उन्होंने नैतिक, धार्मिक, सामाजिक अनेक प्रकार की नई नियमावलियों का निर्माण किया, हिन्दू समाज की धर्म-परिवर्तन से रक्षा करनी चाही। एक ओर अंकुश था, दूसरी ओर विद्रोह।

मध्ययुगीन निर्गुण भक्त कवियों के आविर्भाव के समय ब्राह्मण व अन्य ऊँची जातियों का बोलबाला था इससे सम्बन्धित अनेक चित्र संतों की रचनाओं में मिलते हैं। इस प्रकार के चित्रण सामाजिक इतिहास के रूप में नहीं हैं, वरन सामाजिक व्यवस्था के प्रति संतों को असंतोष था, इस प्रसंग में हैं।

वर्णव्यवस्था से सम्बन्धित मध्ययुगीन भक्तों के विचार

कबीर का विचार था कि सभी मनुष्य एक ही ज्योति से उत्पन्न है, भला किसे ब्राह्मण कहा जाय और किसे शूद्र।[१], केवल इतना ही नहीं, वरन् हिन्दू तुर्क में भी कबीर की दृष्टि में कोई अन्तर नहीं है। संत रैदास जब अपनी जाति बताते हैं तो उसे ओछा कहते हैं,[२], जिससे स्पष्ट ही प्रकट होता है कि उनकी जाति को समाज में बड़ी नीची दृष्टि से देखा जाता था। पुनः उन्होंने अपनी जाति के लिए कमीनी शब्द का प्रयोग किया है। इन सब बातों से यही संकेत मिलता है

---

१. **एक जोति थे सब उतपनां, कौन बाम्हन कौन सूदा।**
माटी का प्यंड सहज उतपना, नाद रुव्यंद समानां।
विनसि गया थे का नाव धरिहौ, पढ़ि पुनि भ्रम जानां।
रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर, सत गुन हरि हैं सोई।
कहै कबीर एक राम जपहुरे, हिंदू तुरक न कोई।
कबीर ग्रंथावली, पृ० १०६।

२. **जाती ओछा पाती ओछा, ओछा जनमु हमारा।**
राजा राम की सेव न कीन्हीं, कहि रविदास चमारा।
संत काव्य, पृष्ठ २२१।

कि सबसे पहले उस समय मनुष्य की जात पांत की पूछ थी।[१] अन्य सन्तों ने भी मनुष्य मनुष्य की अभिन्नता की बात उठाई है। दादू दयाल का विचार था कि यह तो भ्रम की बात है कि हिन्दू तुर्क अलग अलग हैं। भ्रम छूटने पर कहीं कुछ भेद नहीं रह जाता। सब में एक ही ईश्वर का दर्शन होता है। जब वही प्राण, वही शरीर सबका है, वही रक्त और मांस है, एक से ही नैन और नासिका है तब यह भेद की भावना क्यों?[२] यह भावना 'चर्म दृष्टि' के कारण है, अप्रत्यक्ष रूप से, जो जाति पांति देखता है वह 'चर्म दृष्टि' युक्त है। आत्मा दृष्टि से देखने वाले के लिए सभी व्यक्ति एक समान हैं।[३],

वर्ण व्यवस्था का निर्गुण संतों ने १५वीं १६वीं शताब्दी में विरोध किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणों का वह आदर न रह गया। नीच वर्ग अपने को ब्राह्मणों के समकक्ष समझने लगा। संतों के लिए ठीक कथा उन्हें आत्म ज्ञान था, यदि वे स्वयं को ब्राह्मण पंडित या शेख के समक्ष आत्मसम्मान की दृष्टि से देखते थे, तो वह अनुचित इसलिए नहीं हो पाया था कि उन्हें शील का बराबर ध्यान रहता था, दूसरों की भलाई का हर क्षण लक्ष्य रहता था। शील को संतों ने नहीं छोड़ा था, इस सम्बन्ध में कबीर का एक दोहा उल्लेखनीय है :—

सीलवन्त सबसे बड़ा, सर्व रतन की खानि।
तीन लोक की संपदा, रही सील में आनि॥[४],

परन्तु हुआ यह कि जब व्यक्ति व्यक्ति की समानता की बात साधारण निम्नवर्ग के सम्मुख प्रकट हुई तब वह इस शील से अनभिज्ञ अनाचार में व्यस्त हो गए। उच्च जातियों का निरादर करने लगे। स्थिति इतनी बिगड़ गई कि समाज बड़ा अनुशासनहीन हो गया। कोई किसी का आदर नहीं करता था, छोटे बड़े का ध्यान नहीं करता था, ऐसी स्थिति १६वीं शताब्दी

---

१. **मेरी जाति कमीनी पांति कमीनी, ओछा जनमु हमारा।**
तुम सरना गति राजा राम, कहि रविदास चमारा।
संत काव्य, पृष्ठ २२३।

२. **अलह राम छूटा भ्रम मेरा।**
हिंदू तुरक भेद कछु नाहीं, देषो दरसन तोरा।
सोई प्राण प्यंड पुनि सोई, सोई लोही मासा।
सोई नैन नासिका सोई, सहजै कीन्ह तमासा।
संत काव्य, पृष्ठ २८७।

३. **चर्म दृष्टि देषै बहुत, आतम दृष्टी एक।**
ब्रह्म दृष्टि परचै भया, तब दादू बैठा देष॥९॥
संत काव्य, पृष्ठ २९३।

४. **संतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १०५।**

में खूब स्पष्ट रूप से प्रकट हो गई। सगुण भक्त कवियों के कथन इस बात के साक्षी हैं कि निम्नवर्ग में समानता के उपदेश ने एकाएक समाज में बड़ी अव्यवस्था फैला दी थी।

ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य तथा शूद्र चारों ही वर्ण मदान्ध हो रहे थे। धर्मान्धता, वर्णसंकरता, रूढ़िप्रियता आदि दोषों से समाज भर गया था। श्री व्यास जी और ध्रुवदास जी की वाणी में इस प्रकार के वर्णाश्रम विहीन समाज के चित्र मिलते हैं:—

धर्म दुर्‌यौ कलि दई दिखाई।
कीनौ प्रकट प्रताप आपनौ, सब विपरीत चलाई,
धन भयौ मीत, धर्म भयौ वैरी, पतितन सों हितवाई।
जोगी, जपी, तपी, सन्यासो, ब्रत छाड़ियौ अनुकलाई।
वर्णाश्रम की कौन चलावै, संतनि हू मैं आई।[१],

इसी प्रकार हित श्री वृन्दावन दास ने 'कलिचरित्र वेली' में क्षत्रियों के अपने धर्म को छोड़ देने का, वणिकों के कपट व्यवहार और छल का तथा शूद्रों के मदान्ध हो जाने का उल्लेख किया है।[२],

तुलसीदास के इस प्रकार कथन कि—
बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुमतें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आंखि देखावहिं डाटि।।[३],

ब्राह्मणों का पक्षपात करते जान पड़ते हैं, पर वास्तव में यह उस समय के शीलविहीन समाज के चित्र हैं। तुलसीदास को यह बात पुनः पुनः सालती थी कि समाज का पतन हो रहा है। लोक से मर्यादा, आश्रम, वर्ण सब उठ गए हैं। समस्त प्रजा अपने अपने पाखंड और पाप के रंग में डूबी हुई है। ब्राह्मण वेद विरोधी हो गए हैं, शासक केवल शासन करना चाहते हैं। सभी वेद विरोधी मार्ग पर चल रहे हैं।[४],

सामाजिक मर्यादा का निर्वाह करने का कृष्ण भक्तों ने उपदेश नहीं दिया था, ईश्वर

---

१. व्यास वाणी, पृ० २२४, पद सं० १२९।
२. कलि चरित्र वेली, पृष्ठ ७।
३. दोहावली, पृष्ठ १९०, दोहा सं० ५५३।
४. आश्रम बरन धरम बिरहित जग, लोक वेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पाप रत, अपने अपने रंग रई है।
विनय पत्रिका, पृ० २३०, पद सं० १३९।
बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी।
द्विज स्रुति बंचक भूप प्रजासन। कोइ नहिं मान निगम अनुसासन।
रामचरितमानस, डा० माता प्रसाद गुप्त, पृ० ५४२, पंक्ति सं० १७, १८।

प्रेम पर बल देते हुए लोक लाज, मर्यादा सभी की अवहेलना कृष्ण भक्ति धारा में थी। ईश्वर तो किसी की जाति पांति का ध्यान करके उद्धार अनुद्धार करते नहीं। सूरदास का कथन है :— गोत्र आदि का कुछ विचार नहीं करते। सूरदास का कथन है—

काहू के कुल तन न विचारत।
अविगत की गति कहिन परत है, व्याध अजामिल तारत।[१],

भगवान का तो एक ही बाना है भक्तवत्सलता का, इसके सम्मुख फिर वह जाति, कुल गोत्र आदि का कुछ विचार नहीं करते। सूरदास का कथन है—

रामभक्तवत्सल निज बानौ।
जाति, गीत, कुल, नाम, गनत नहिं, रंक होई कै रानौ।[२],

ऐसे कथन कृष्ण भक्ति साहित्य में अनेक मिलते हैं जिनमें कृष्ण प्रेम के लिए लोक लाज मर्यादा सब छोड़ देने के लिए कहा है। रसखान कहते हैं—

लोक बेद मरजाद सब,
लाज काज संदेह।
देत बहाये प्रेम करि,
बिधि निषेध को नेह॥७॥[३],

उपर्युक्त सभी बातों को देखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि १५वीं १६वीं शताब्दी की सामाजिक अवस्था सामाजिक नियमों की दृष्टि से असन्तोषजनक थी। इसके प्रति तत्कालीन भक्त कवि सजग थे। संतों ने ऊंच नीच को अधिक सहन किया था, उन्होंने इसे मिटाने के प्रयत्न किए, अपनी अपनी जाति के प्रति सम्मान की भावना रखते हुए अपने कर्त्तव्यों का पूर्णरूपेण पालन करते हुए हरिस्मरण में अनुरक्त रहना चाहिए, संतों का इस सम्बन्ध में यही विचार था। सूफियों के काव्य में इस सम्बन्ध में उल्लेख नहीं मिलते। सगुण भक्ति काव्य में रामभक्ति धारा और कृष्ण भक्ति धारा की भिन्न मान्यताएँ थीं। रामभक्ति धारा के एकमात्र प्रसिद्ध कवि तुलसीदास सामाजिक अमर्यादा से बहुत क्षुब्ध थे। उन्होंने वर्ण व्यवस्था के पक्ष में अपने विचार व्यक्त किए। कृष्ण भक्त इस अव्यवस्था को देख रहे थे, सुख शांतिविहीन , सामाजिक जीवन से पीड़ित थे, साथ ही कृष्ण भक्तों का ऐसा विचार जान पड़ता है कि वे समस्त मर्यादा के खोखलेपन को देख रहे थे। अतः कृष्णभक्त कवियों का विशेष संदेश यही था कि यह सब ऊपरी मर्यादा, लोकलज्जा छोड़ कर मनुष्य को ईश्वर में प्रेम करना चाहिए। किन्तु निर्गुण मार्गी और सगुणमार्गी सभी संतों

---

१. सूर-सागर, पहला खंड, पृ० ४।
२. सूर-सागर, पहला खंड, प्रथम स्कंध, विनय, पृ० ४।
३. प्रेमवाटिका, रसखान, पृ० २।

ने इस तथ्य को एक स्वर से घोषित किया है कि ईश्वर में लगे हुए व्यक्ति की जाति पांति का कोई महत्त्व नहीं। सभी भक्त एक ही जाति के हैं। दोनों ही धाराओं के कवियों ने समस्त वर्ण-व्यवस्था के ऊपर एक ही जाति को स्वीकार किया है, भक्तों की जाति, और भक्तों की पांति में ही बैठना उन्हें प्रेय था।

गृही, संन्यासी

बौद्ध धर्म, शंकराचार्य का मायावाद व संसार के मिथ्यात्व का सिद्धान्त तथा सिद्धों और नाथों का प्रभाव देश में इतना अधिक था कि जो भी घर से असंतुष्ट हुआ वह संन्यासी हो जाता था। लोगों का ऐसा विश्वास था कि अध्यात्म का मार्ग संन्यासियों के ही लिए है। मध्ययुगीन संतों ने इस बात का उन्मूलन किया। स्वयं अपने जीवन से और अपने साहित्य से मध्ययुगीन निर्गुण और सगुण दोनों मार्ग के भक्तों ने यह कभी नहीं कहा कि घर छोड़ कर वन में जाकर ईश्वर को खोजो। घर में ही रहते हुए, नित्य कर्मों में संलग्न रहते हुए भी वैराग्य की प्रवृत्ति रखी जा सकती है, एवं भक्ति भाव में निरन्तर स्थिति रखते हुए मनुष्य ईश्वर की ओर अभिमुख रह सकता है। डा० विजयेन्द्र स्नातक तत्कालीन संन्यासियों की बाढ का चित्र खींचते हुए स्वामी हित हरिवंश का उस काल में यह महत्त्व बतलाते हैं कि इन्होंने गृहस्थ धर्म का निर्वाह करते हुए ईश्वर प्रेम का प्रतिपादन किया था।[1],

---

१. "कुछ वैरागी साधुओं ने गृहस्थ धर्म की निंदा करके उसके प्रति विद्रोह का स्वर ऊंचा किया हुआ था। गृहस्थ-धर्म की उपेक्षा से तत्कालीन हिन्दू-समाज पर स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ा, प्रत्युत कुछ अकर्मण्य और निष्क्रिय जनसमुदाय साधु के रूप में समाज पर छा गया। सामाजिक मर्यादाओं के पालन में भी शिथिलता आ गई थी जिसके फलस्वरूप चारित्रिक दुर्बलताएँ भी दृष्टिगत होने लगी थीं। यदि सामाजिक दृष्टि से इस काल की परिस्थिति का पूरी तरह विवेचन किया जाय तो यही कहा जायगा कि यह काल सामाजिक मर्यादाओं की स्थापना का न होकर उन्मूलन का युग था जिसमें कुछ मनस्वी संतों ने अपनी ऊर्जस्वी वाणी द्वारा सामाजिक मान्यताओं की रक्षा का प्रयत्न किया। श्री हितहरिवंशजी ने सामाजिक मर्यादाओं की स्थापना के लिए किसी परम्परा का समर्थन नहीं किया वरन् अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से गृहस्थ धर्म को श्रेयस्कर बताते हुए गृहस्थाश्रम में ही भक्ति के पथ के अनुगमन का उपदेश दिया। वैराग्य के प्रति आपने किसी प्रकार की रुचि प्रदर्शित नहीं की। समाज की मर्यादा स्थिति आप गृहस्थ धर्म के पालन करने में ही मानते रहे, अतः बाह्य वैराग्य और कठोर तपस्या के मार्ग से आपने जनता को हटाया। वैराग्य-वाद के उस युग में गृहस्थ धर्म का उपदेश सचमुच बड़ा साहसिक कार्य था किन्तु गोस्वामी हित हरिवंश जी ने इस कार्य को बड़ी सफलता से निबाहा। यदि उस समय गृहस्थ धर्म का विधिवत् उपदेश देकर जनता का पथ प्रदर्शन न किया जाता तो अकर्मण्यता, कुंठा और निष्क्रिय भाग्यवादिता से देश और अधिक पतन की ओर चला जाता।

राधावल्लभ सम्प्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ८३, ८४।

झूठ-मूठ के वैराग्य से तुलसीदास को भी बड़ी खिन्नता होती थी। "मूँड़ मुंड़ाय भये संन्यासी" से उनकी यही खिन्नता व्यक्त होती है। कबीरदास इसी प्रकार जब कहते हैं कि केवल सिर मुंड़ा लेने से यदि मुक्ति का विधान होता तो असंख्य भेंड़ें प्रतिदिन ही मुक्त हो जातीं। इस प्रकार झूठे संन्यास का खंडन सभी भक्त कवियों ने किया है। वे सभी दिखावे के संन्यास के विपक्ष में थे। गृह में रहते हुए वैराग्य भाव अभीष्ट है।[१],

संदेश

समाज में रहते हुए मनुष्य को अपने व्यक्तिगत विकास में किन बातों की ओर सजग रहना चाहिए इस सम्बन्ध में मध्ययुगीन भक्ति साहित्य में बहुत उपादेय सामग्री उपलब्ध होती है।

कर्त्तव्य, संतोष

मनुष्य को अपने कर्तव्य नहीं छोड़ने चाहिए। परिश्रम का मानव जीवन में बहुत महत्व है। अपना व्यवसाय छोड़ कर दूसरों पर आश्रित रह कर भक्ति करने का उपदेश संतों ने नहीं दिया। कबीरदास आजीवन जुलाहे का व्यवसाय करते रहे, इसी प्रकार रैदास अपने को चमार कहने में ही सम्मानित समझते थे। इस सम्बन्ध में गीता के इस सिद्धान्त का कि स्वधर्म ही श्रेयस्कर है, संतों ने प्रतिपादन किया। यह अवश्य है कि उस समय देश की जनता आर्थिक दृष्टिकोण से सचमुच कष्ट में थी, जैसा कि डा० दीनदयाल गुप्त ने डा० ईश्वरी प्रसाद के इतिहास ग्रन्थ के आधार पर लिखा है कि "हिन्दू लोग निर्धनता, हीनता तथा कठिनता का जीवन व्यतीत करते थे।[२], सुन्दरदास, मलूकदास आदि कुछ सन्तों के कथन इस प्रकार के भी मिलते हैं कि जो ईश्वर छोटे से छोटे जीव का पेट भर रहा है, वही मनुष्य को भी भूखा नहीं रखेगा, परन्तु इस प्रकार के कथन परिश्रम छोड़ देने के लिए प्रेरणा देने के दृष्टिकोण से नहीं लिखे गए थे, वरन् अभाव में संतोष रखने और ईश्वर पर पूरा भरोसा रखने के लक्ष्य से कहे गए हैं। कबीरदास के सम्बन्ध में लिखते हुए आचार्य श्यामसुन्दरदास ने कहा है कि कबीरदास परिश्रम का महत्त्व जानते थे।[३], कर्म में संलग्न रहते हुए संतोष रखना मनुष्य का धर्म है। सूफी कवि भी इसी बात का समर्थन करते जान पड़ते हैं। लोक के परिप्रेक्ष्य में उनके पात्र लौकिक व्यवहारों से विमुख नहीं हैं।

---

१. ग्रिही तौ च्यंता घणी, वैरागी तौ भीष।
दुहुकात्यां बिचि जीव हैं, दोहनै संता सीष। संतकाव्य कबीरदास पृ० २०३।

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डा० दीन दयाल गुप्त, भाग १, पृ० ३०।

३. "अपने को जुलाहा कहने में भी उन्होंने कहीं संकोच नहीं किया और वे स्वयं आजीवन जुलाहे का व्यवसाय करते रहे। वे उन ज्ञानियों में से नहीं थे जो हाथ पांव समेटकर पेट भरने के लिए समाज के ऊपर भार बन कर रहते हैं। वे परिश्रम का महत्त्व जानते थे और अपनी आजीविका के लिए अपने ही हाथों का आसरा रखते थे।"

—कबीर ग्रंथावली, डा० श्याम सुंदर दास, प्रस्तावना, पृष्ठ ५३।

जब युद्ध कर्त्तव्य हो गया है, तब रत्नसेन युद्धक्षेत्र में जाने से नहीं झिझकता, प्रत्येक स्थिति में सूफी साहित्य के पात्र अपने कर्तव्यों के प्रति सजग दीख पड़ते हैं।

रामभक्ति काव्य में परिवार के प्रति लोक के प्रति कर्तव्यों का व्याख्यान प्रत्येक पात्र के माध्यम से किया गया मिलता है। तुलसीदास ने कर्तव्यनिष्ठा की बड़ी महिमा गाई है, यहां तक कि सीता जी भी अपने कार्य करने में प्रवृत्त रहती हैं, जब कि उनकी सास उनसे दिए की बत्ती भी नहीं हटवाना चाहतीं। भाई भाई की सेवा में संलग्न है, भक्त भगवान की सेवा में व्यस्त है, कोई भी औचित्य का अतिक्रमण नहीं करता।

कृष्ण भक्ति साहित्य के भी पात्र अपना काम छोड़ कर भगवद्भजन का उपदेश दिया जाय इस तथ्य में विश्वास नहीं करते, सभी अपने दैनिक कार्यों में पूर्णरूपेण संलग्न हैं। वे अपनी जाति, अपनी संस्कृति, अपनी दिनचर्या, अपने चारों ओर के जीवन का निर्वाह करते दीख पड़ते हैं, यद्यपि यह निर्वाह मात्र है, क्योंकि सचमुच भगवद्भजन में यह सब कर्तव्य अकर्तव्य यत्किंचित् बाधा अवश्य डालते हैं।

कर्तव्य पालन करना मनुष्य का धर्म अवश्य है, परन्तु कर्तव्य पालन लक्ष्य नहीं है। इसीलिए संतों की एक ही बात इस सम्बन्ध में है, कि शक्ति के अनुसार कार्य करने के पश्चात् और भाग्य के अनुसार पा लेने के बाद मनुष्य को संतोष धारण करना चाहिए। वास्तव में संतोष ही मनुष्य का सबसे बड़ा धन है।

संतों ने थोड़े ही में संतोष करने का उपदेश दिया है। कबीरदास का एक पद है—[1]

> **काहे कूँ भीत बनाउं हारी, का जाणू कहं परि है मारी।**
> **काहे कूँ मंदिर महल चिनाउ, मूवा पीछे घड़ी एक रहन न पाउ।**
> **काहे कूँ छाऊं ऊंच उंचेरा, साढ़े तीन हाथ घर मेरा।**
> **कहे कबीर नर गरब न कीजै, जेता तन तैती भुंइ लीजै।**[2]

विशेषता यह है कि संतों की यह संतोष की भावना आलस्य की द्योतक नहीं थी। जो भी मनुष्य पर आ पड़े उसे संतोष के साथ, ईश्वर की इच्छा समझ कर स्वीकार कर लेना चाहिए।[3]

---

१. अपनी आजीविका भर से वे मतलब रखते थे, धन संपत्ति जोड़ना वे उचित नहीं समझते थे। थोड़े ही में संतोष करने का उन्होंने उपदेश दिया है।

—कबीर ग्रंथावली, प्रस्तावना, पृष्ठ ५४।

२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २०८, पद सं० ३६१।

३. "निर्गुण मत का भाग्यवाद किसी आलस्यमय जीवन का द्योतक नहीं।...'कर्म' जिसका शब्दार्थ कार्य होता है भाग्य का एक दूसरा नाम है, "जो कुछ भी अपने ऊपर आ पड़े उसे साहस के साथ यह समझकर उठा लेना चाहिए कि वह अपने पूर्व जन्म के कर्मों का परिणाम है।

जो कुछ बदला नहीं जा सकता उसके लिए रोने की जगह किसी को इस बात का परम सन्तोष भी हो सकता है कि वह अन्ततः ईश्वर की ही इच्छा पूर्ति कर रहा है।"

हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृष्ठ ३३६।

अपने लिए और परिवार के लिए पर्याप्त सामग्री मिल जाने पर संतुष्ट रहना चाहिए। किसी कमी का अनुभव करना व्यर्थ है। जब चारों तरफ ईश्वर है, तो किसी भी अभाव के होने पर वह स्वयं पूर्ति करेगा।[1]

संतो के सम्बन्ध में रामभक्ति काव्य में भी विशेष रूप से कहा गया है। "बिना संतोष के मनुष्य को विश्राम नहीं मिलता, ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार कि कोई मनुष्य चाहे जितना प्रयत्न करे परन्तु बिना जल के नाव नहीं चल सकती।" तुलसीदास के उपर्युक्त कथन से यही सिद्ध होता है कि उनके विचार से मनुष्य के लिए जीवन की नैया बिना संतोष के खेना असंभव हैं। आगे फिर तुलसीदास ने कहा है कि संतोष के अभाव में काम का नाश नहीं होता, जब तक मनुष्य में संतोष का आविर्भाव नहीं होता, तब तक एक न एक इच्छा प्रबल होती रहती है, मनुष्य इस प्रकार की स्थिति में, कामनाओं के अभिलाषाओं के शासन में किस प्रकार सुख प्राप्त कर सकता है, संतोष के बिना स्वप्न में भी मनुष्य को सुख नहीं मिलता।[2]

अहं का त्याग, आत्मसमर्पण

संतों के विचार में भगवद्भक्ति में सबसे बड़ी बाधा अहंकार है। जब तक इस अहंता को मनुष्य नहीं छोड़ता तब तक उसे ईश्वर के दर्शन होना असंभव है, सच्चे भक्त में केवल ईश्वरीय भाव रह जाता है, अहंकार का सर्वथा विनाश हो जाता है।[3] इस अहंता के मैल में लिपटा हुआ मनुष्य बड़ा दुःख पाता है। सैकड़ों तीर्थ स्थानों में जाकर वहां नहा लेने से भी यह मैल नहीं उतरता।[4]

---

१. "निर्गुणी इस प्रकार उससे अधिक की इच्छा नहीं करते जितना उनके परिवार के तथा उनके अतिथियों के लिए पर्याप्त हो। वास्तव में वे किसी कमी का अनुभव क्यों करे? जब सब कुछ का देने वाला उनके साथ सदा बना रहता है। 'आगे पीछे हरि खड़ा जब मांगे तब देय' (संतबानी संग्रह, पृ० ५७)। "हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय,
—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृष्ठ ३३९।

२. कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचि पचि मरिअ।।८९।।
बिनु संतोष कि काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।
रामचरितमानस, उत्तर काण्ड, पृष्ठ ५३८।

३. जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहि।
सब अंधियारा मिट गया, जब दीपक देख्या माहि।।
संत काव्य, कबीरदास, पृष्ठ १९९।

४. जगि हउमै मैलु दुखु पाइआ, मलु लागी दूजै भाइ।
मलु हउमै धोती किवै न उतरै, जे सउ तीरथ नाइ।।
वही, गुरु अमरदास, पृष्ठ २५९।

इस अहंकार और ईश्वर के नाम से सीधा विरोध है, यह दोनों एक स्थान पर नहीं रह सकते।[१]

प्रश्न यह है कि इस अहंकार से मनुष्य किस प्रकार मुक्त हो ? गुरु अमरदास इसका उपाय बतलाते हैं, मेरे मन तू हरि को स्मरण कर, गुरु का शब्द अपना ले, गुरु की आज्ञानुसार चल, इसी से तेरा अहंकार जायगा।[२]

मनुष्य स्वभाव इतना विचित्र है कि स्वयं अनन्त दुर्गुणों की निधि होते हुए भी अपने गुण देखता है, ईश्वर के गुण नहीं देखता। अपने अभिमान में रत रहता है। परन्तु वास्तव में इस प्रकार का विचार ही कितना नादानी का है। जो उस ईश्वर के गुणों को एक बार जान लेता है वह अपना समस्त अहंभाव त्याग कर उसके हाथ बिक जाता है। क्योंकि मनुष्य में जो कुछ भी अच्छी विशेषताएं हैं वह ईश्वर की कृपा के ही फलस्वरूप हैं। कितने भी गुणों से सम्पन्न होने पर भी मनुष्य ईश्वर के सम्मुख अत्यन्त 'ओछा' है।[३] जिस मनुष्य को इस सत्य का बोध हो जाता है वह अपनी अतीव दीनता को देख लेता है और पूर्ण आत्मसमर्पण के भाव से ईश्वर के चरणों में न्योछावर हो जाता है। जो भक्त इस प्रकार सभी दिशाओं से अपने को पराजित समझ कर ईश्वर के समक्ष अपने को ही समर्पित कर देता है और इस बात की चिंता छोड़ देता है कि कौन मुझे भला कहेगा, कौन मेरी निन्दा करेगा, उसकी लज्जा का निर्वाह स्वयं ईश्वर करते हैं।[४]

---

१. हउमै नावै नालि विरोधु है, दुइ न वसहि इकठाई।
हउमै विचि सेवा न होवई, तामनु विरथा जाइ॥
संत काव्य, गुरु अमरदास, पृष्ठ २६१।

२. हरि चेति मन मेरे तू गुर का सबदु कमाइ।
हुकुमि मनहि ता हरि मिलै, ता विचहु हउमै जाइ॥
संत काव्य, गुरु अमरदास, पृष्ठ २६१।

३. मै निरगुनिया गुन नहिं जाना।
एक धनी के हाथ बिकाना॥१॥
सोइ प्रभु क्का मै अति कच्चा।
मैं झूठा मेरा साहब सच्चा॥२॥
मैं ओछा मेरा साहब पूरा।
मैं कायर मेरा साहब सूरा॥३॥
मैं मूरख मेरा प्रभु ज्ञाता।
मैं किरपिन मेरा साहब दाता॥४॥
संत काव्य, बाबा धरमीदास, पृष्ठ ४०२।

४. अब हम चली ठाकुर पहि हारि।
जब हम सरणि प्रभू का आई : राषु प्रभू भावै मारि। रहाऊ॥
लोकन की चतुराई उपमाते, वैसंतरि जारि॥

परन्तु इस समर्पण में अत्यन्त दैन्य, अतीव स्वामिभक्ति अपेक्षित है। ईश्वर की आज्ञा का अनुसरण प्रतिक्षण करना पड़ता है।[1] जायसी ने भी एक स्थान पर इस अहंभावना को त्यागने की ओर संकेत किया है।[2]

कृष्ण भक्तिभाव की गायिका मीरा ने स्वयं को भगवान् का 'चाकर' कहा है। और इस चाकरी के फलस्वरूप जो 'जागीर' उन्हें मिली है वह 'भाव भक्ति' की है। इस जागीर को पाने के लिए उनकी आत्मा कितने जन्मों से तरस रही थी।[3]

सूरदास ने बारम्बार भगवान् को पतितपावन कहा है, और उस ईश्वर की शरण ग्रहण करने की महिमा गाई है।[4] मनुष्य अज्ञानवश इस सत्य को नहीं समझता।[5]

तुलसीदास ने अभिमान को उस घोर अन्धकार के समान कहा है जिसका मूल मोह है, और जो सभी प्रकार शूलों का देने वाला है। इस अन्धकार रूपी अभिमान को त्यागना बहुत आवश्यक है।[6]

कोई लाभ कहउ भावै बुरा कहउ, हम तनु दी उहै ढारि॥१॥
जो आवत सरणि प्रभु तुमरी, तिसु राषहु किरपा धारि॥
जन नानक सरणि तुमारी हरिजीउ, राषहु लाज मुरारि॥२॥
संत काव्य, गुरु रामदास, पृष्ठ २७५।

१. कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउं॥१४॥
कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २०।

२. तुम्ह सों कोई न जीता, हारे बररुचि भोज।
पहिले आपु जो खोवै, करै तुम्हारा खोज॥९॥
जायसी ग्रंथावली, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पद्मावत, पृष्ठ ३७।

३. म्हाणे चाकर राखा जी, गिरधारी लाला चाकर राखां जी॥टेक॥
चाकर रहस्यूं बाग लगास्यूं नित उठ दरसण पास्यूं॥
बिन्द्रावन की कुंज गलिन मां, गोविन्द लीला गास्यूं॥
चाकरी में दरसण पास्यूं, सुमिरण पास्यूं खरची।
भाव भगत जागीरी पास्यूं, जणम जणम री तरसी॥
मीरा पदावली, पृष्ठ १४६।

४. पतितपावन जाति सरन आयौ॥ सूर-सागर, पहला खंड, पृ० ३९।

५. तुम्हरी कृपा गोपाल गुसाईं। हौं अपने अज्ञान न जानत।
सूर-सागर, पहला खंड, पृष्ठ ३७।

६. मोह मूल बहु सूल प्रद, त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक, कृपा सिंधु भगवान॥२३॥
रामचरितमानस, सुंदरकांड, पृष्ठ ३८३।

ईश्वर अत्यन्त 'प्रणतपाल' हैं, जो उनकी शरण में चला जाय उसके सभी अपराधों को वह भुला देते हैं, उसकी पूर्ण रूप से रक्षा करते हैं।[1]

इस प्रकार यह तथ्य प्रकट होता है कि निर्गुण सगुण दोनों भक्तिधाराओं में इस बात का उपदेश दिया गया है कि अहं भाव का त्याग कर ईश्वर के समक्ष सम्पूर्णभावेन आत्मसमर्पण मनुष्य के लिए अपेक्षित है। केवल सूफी कवि इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष रूप से नहीं कहते, यद्यपि उनके पात्रों की गतिविधि इस तथ्य का अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन करती है। स्वयं अपने को ही भगवान् को सौंप देने से मनुष्य सब चिंताओं से मुक्त हो जाता है। वास्तव में तो भगवान् ही सबका रखवाला है, जब वह स्वयं सबकी रक्षा करने को तत्पर है, तब व्यर्थ ही मनुष्य अपने अभिमान के मद में ईश्वर को भुला कर जागतिक त्रास से पीड़ित होकर अपना अमूल्य जीवन व्यर्थ गंवाता रहता है।

सत्संग : कुसंग

गुरु तेगबहादुर का कथन है कि मनुष्य को अहर्निश दुर्जनों की संगति से बच कर रहना चाहिए।[2] मनुष्य अपने अनुचित कर्मों के मैल से अपने को अपवित्र कर लेता है। संत रज्जब ने कहा है कि स्मरण का साबुन और सत्संग का जल लेकर अपने अंगों को पवित्र कर लो, ऐसा कर लेने से यह सांसारिक धूल उतर जायगी और आत्मा अपने मूल आकाश भाव को प्राप्त करके अनूप हो जायगा।[3] संत दरिया साहब का कथन है कि साधु संग और राम के भजन के बिना काल निरंतर लूटता रहता है।[4] यही कारण है कि कबीर ने पहले ही कह दिया था कि साधु की संगति जल्दी ही जाकर करो, वह तुम्हारी दुर्मति को दूर करके, सुबुद्धि देगा।[5]

---

१. प्रनतपाल रघुनायक, करुनासिंधु खरारि।
गए सरन प्रभु राखिहैं, तव अपराध बिसारि॥२२॥
रामचरित मानस, सुंदरकांड, पृष्ठ ३८३।

२. साधो मन का मानु तिआगउ।
कामु क्रोधु संगति दुरजन की, ताते अहनिसि भागउ॥रहाउ॥
संत काव्य, पृ० ३४५।

३. साबुण सुमिरण जल सतसंग, सुक्ल कृतकरि निर्मल अंग।
रज्जब रज उतरै इहि रूप, आतम अंबर होइ अनूप॥४१॥
वही, पृ० ३७८।

४. राम बिन भाव करम नहिं छूटे॥टेक॥
साधसंग औ राम भजन बिन, काल निरंतर लूटै॥१॥
—संत काव्य, पृ० ४४७।

५. कबीर संगति साध की, बेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूरि गँवाइसी, देसी सुमति बताइ॥२॥
—कबीर ग्रंथावली, पृ० ४९।

सत्संगति से सुबुद्धि और कुसंग से दुर्मति उत्पन्न होती है। इस सत्य के साथही वास्त-विकता यह है कि कुसंग अपने आप में बहुत कष्टदायक हैं। कुसंग से अधिक कष्टदायक संसार में कुछ और नहीं है। तुलसीदास इसी भाव को विभीषण के शब्दों में भगवान् राम के सम्मुख व्यक्त करते हैं—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देहु विधाता।।[1]

सबसे बड़ी बात यह कि बिना सत्संगति के मनुष्य को भक्ति नहीं मिलती, किन्तु बिना शुभ संचित कर्मों के साधु संग भी नहीं मिलता, एक बार यदि सत्संग भाग्य से मिल गया तब समस्त सांसारिक क्लेशों का अन्त हो जाता है। तुलसीदास ने सत्संग की महिमाका गान बहुत ऊंचे स्तर पर किया है।[2]

कृष्ण भक्ति काव्य में भी साधु संग को उत्तम बताते हुए कुसंग छोड़ देने के उपदेश कई स्थानों पर किए गए मिलते हैं। मनुष्य साधु संग में आलस्य दिखाता है, परनिंदामें रुचि रखता है।[3] साधु का संग ऐसा है जैसे लोहे के लिए पारस का स्पर्श।[4] परन्तु लोग ईश्वर भजन के अभाव में दुःखी होते रहते हैं। संसार के लोगों को साधु संगति अच्छी नहीं लगती, न स्वयं अच्छा साथ करते हैं, न दूसरों को करने देते हैं। मूर्खों की भांति जन्म गंवा देते हैं, भूल कर भी साधु संगति में नहीं जाते।[5] लोग कुछ भी कहें कृष्ण की भक्ति में मतवाली मीरा ने टेक पकड़ ली थी

---

१. रामचरितमानस, सुंदरकांड, पृ० ३९४, पंक्ति सं० १३।

२. भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सत्संग न पावहि प्रानी।
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सत संगति संसृति कर अंता।।
—राम चरित मानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ५१४, पंक्ति सं० ५, ६।

३. जहं सत्संग तहाँ अति आलस पर निंदा अति प्यारी।
—प्रियरसिकविनोद, पृ० १४३।

४. पुनि कह सब ते साधु संग उत्तम है भाई,
पारस परसे लौह तुरत कंचन ह्वै जाई।
गोपी प्रेम प्रसाद कौ हौ अब सीख्यौ आय,
ऊधव तैं मधुकर भये दुबिधा ग्यान मिटाय।
पाय रस प्रेम को।।
—भंवर गीत, पृ० २९, पद सं० ६६।

५. लेतां लेतां रामनाम रे, लोकड़ियां तो लाजो मरै छै।।टेक।।
हरि मंदिर जाता पांवलिया रे दूखे, फिर आवे सारो गाम रे।
झगड़ो थाय त्यां दौड़ी ने जाय रे मूकी ने घर ना काम रे।
मांड भवैया गणिका नित करतां, बेसी रहे चारे जाम रे।
—मीरा पदावली, पृ० १४७, पद सं० १५७।

साधु संगति और हरिगुण गान की, क्योंकि वे जानती थीं कि इसी के सहारे मनुष्य इस भवसमुद्र को पार कर सकता है।[1] इसीलिए मीरा बारम्बार मन को समझाते हुए कहती है कि कुसंग को छोड़ कर नित्य सत्संग कर।[2] किन्तु होता क्या है कि दुर्जन लोग किसी को साधुओंका साथ करते देख ले तो उसे चैन नहीं लेते देते। मीरा इस परिस्थिति से इतनी खीझ उठी थीं कि वे दुर्जनों को अपशब्द कह बैठीं, क्योंकि वह देखती थीं कि चारों ओर के लोग कूड़े के सदृश हैं।[3]

निश्चित रूप से मध्ययुग के संत जब साधु संग का उपदेश दे रहे थे तब उनके मस्तिष्क में यह स्पष्ट था कि केवल गेरुआ वस्त्र पहनने वाला साधु नहीं होता। साधु संगति से ऐसे मनुष्यों का साथ करने से तात्पर्य था जो वास्तव में वैराग्य वृत्ति से युक्त हैं और ईश्वर भजन में संलग्न हैं, भले ही वह गृहस्थ हों।

मानव शरीर दुर्लभ : इसका उपयोग

संतों का यह विश्वास था कि बड़ी मुश्किल से मानव तन मिलता है, इसका उचित उपयोग करना चाहिए। इस शरीर का कोई महत्त्व नहीं यदि इसमें रह कर ईश्वर प्राप्ति के हेतु साधना नहीं की गई। कबीर का कथन था कि जिस मनुष्य ने उस अलौकिक सत्ता का परिचय नहीं प्राप्त किया उसका शरीर कांच के समान निरर्थक है, परन्तु जिसने उससे परिचय कर लिया वह खरा

---

१. साधो संगति हरिगुण गास्या, और णा म्हारी लार।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, थे बल उतर्‌या पार॥
वही, पृ० १५९, पद सं० १९७।

२. राम नाम रस पीजै मनुवा राम नाम रस पीजै।
तज कुसंग सत्संग बैठ नित, हरि चरचा सुण लीजै।
—मीरा पदावली, पृ० १६०, पद सं० १९९।

३. नहिं भावै थारो देसतड़ो रंगरूड़ो॥टेक॥
थांरे देसा में राणा साध नहीं छै, लोग बसै सब कूड़ो।
गहणा गांठी राणा हम सब त्यागा, त्याग्यो कररो चूड़ो॥
—मीरा पदावली, पृ० ११, पद सं० ३२।
राणा जी म्हाने या बदनामी लगे मीठी॥टेक॥
कोई निन्दो कोई बिन्दो, मैं चलूंगी चाल अनूठी।
साकड़ली सेर्‌यां जन मिलिया क्यूं कर फिरूं अपूठी।
सत संगति मा ग्यान सुणैछी, दुरजन लोगों ने दीठी।
मीरां रो प्रभु गिरधर नागर, दुरजन जलो जा अंगीठी॥३३॥
वही, पृ० ११२।

सोना हो जाता है।[1] हरि की गति जान लेने पर शरीर का जितना भी कूड़ा है, जितने विकार है, जितनी दुर्भावनाएं हैं, सब निकल जाती हैं, काया निर्मल हो जाती है।[2] मनुष्य जन्म कितना अमूल्य है, वास्तव में जिसने मनुष्य शरीर प्राप्त करने के बाद भी ईश्वर को नहीं भजा उसने यह जन्म निरर्थक ही गंवा दिया। इसीलिए गुरु नानक सचेत करते हैं कि 'इस हीरे जैसे जन्म को कौड़ी के बदले मत जाने दो। अरे मूढ़ अभी तो राम का नाम नहीं जानना चाहते, फिर पीछे पछताते हो।'[3]

मनुष्य जन्म के अमोल और क्षणभंगुर होने के सम्बन्ध में हिन्दी सूफी काव्य भी मौन नहीं है। ऐसा नहीं था कि रत्न सेन पद्मावती की प्रेम कथा के प्रवाह में जायसी ऐसे बह गए हों कि उन्हें मानव जीवन के क्षण क्षण घटते जाने का बोध न रह गया हो। मनुष्य की आयु प्रतिपल क्षीण हो रही है। जायसी इस तथ्य के प्रति सचेत थे, कि यह मनुष्य जीवन बहुत अमूल्य है, इसका सच्चा उपयोग कर लेने में ही भलाई है। जन्म व्यतीत हो जाने पर कुछ नहीं हाथ आएगा। जो कुछ करना है इसी जन्म में कर लेना है। प्रतिपल की महत्ता बताते हुए अप्रत्यक्ष रूप में जायसी प्रतिपल इस तन को ईश्वर कार्य में ही लगा देने की ओर संकेत करते हैं।[4]

---

१. बिन परचै तन कांच कबीरा।
परचै कंचन भयो कबीरा।
संत काव्य, पृ० १७९, पद सं० ३२।

२. कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जांणी॥२॥
वही, पृ० १७९, पद सं० ३१।

३. रैणि गवाई सोइ कै, दिवसु गवाइआ खाइ।
हीरै जैसा जनमु है, कव्ड़ी बदले जाइ॥१॥
नामु न जानिआ राम का।
मूढे फिरि पाछै पछुताहिरे॥रहाउ॥
संतकाव्य, पृ० २४५।

४. नवौ पंवरी पर दसौं दुआरू। तेहि पर बाज राज घरिआरू।
घरी सो बैठि गनै घ रिआरी। पहर पहर सो आपनि बारी।
जबहिं घरी पूजी वह मारा। घरी घरी घ रिआर पुकारा।
परा जो डांड जगत सब डांडा। का निचिंत मांटी कर भांडा।
तुम्ह तेहि चाक चढ़े होइ कांचे। आएहु फिरै न थिर होइ बांचे।
घरी जो मरै घटै तुम आऊ। का निचिंत सोवहि रे बटाऊ।
पहरहिं पहर गजर नित होई। हिआ निसोगा जाग न सोई।
मुहमद जीवन जल भरन, रहटै घरी की रीति।
घरी सो आई ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति॥४२॥
जायसी ग्रंथावली, डा० मनमोहन गौतम, पद्मावत, पृ० ४७।

मनुष्य शरीर में ही रह कर जीवात्मा ईश्वर की भक्ति कर के अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। यह विलक्षण जन्म सरलता से नहीं मिल जाता, देवता भी इसके लिए तरसते हैं। इसको पाकर भी जो साधन नहीं करता, वह अत्यधिक पश्चात्ताप करता है। काल कर्म और ईश्वर को दोष लगाना वृथा है।[1] इस शरीर का वास्तविक धर्म विषय वासना नहीं है। जो व्यक्ति इस शरीर से विषय साधनों को भजते हैं वे मानो अमृत को देकर अपने लिए विष खरीद लेते हैं। ऐसे मनुष्य की कोई प्रशंसा नहीं करता जो पारस मणि जैसे अमूल्य रत्न के बदले गुंजा को लेता है। संक्षेप में, मानव तन को पाकर जिसने भक्ति भाव से ईश्वर का भजन नहीं किया, वह तुलसीदास के मत में आत्मघाती है।[2]

कृष्ण भक्ति साहित्य में भी ठीक इसी प्रकार मनुष्य जीवन को अमूल्य बना कर इसके उचित उपयोग पर बल दिया गया है। मीरा का कथन है कि मनुष्य इस अमूल्य जीवन को पाकर गंवा देता है, फिर भला प्रभु से मिलना किस प्रकार हो।[3] अतः मीरा ने इस चार दिन के जीवन को ईश्वर भक्ति में लगा देने के लिए स्पष्ट रूप से कहा है—

---

१. बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइन जेहि परलोक संवारा।
सो परत्र दुख पावै, सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाइ।
रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ८०, ८१।

२. एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गौ स्वल्प अंत दुखदाई।
नरतनु पाइ विषय मनु देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेही।
ताहि कबहुं भल कहै न कोई। गुंजा ग्रहै परस मति खोई।
आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भमत यह जिव अविनासी।
फिरत महा माया कर प्रेरा। काल कर्म स्वभाव गुनघेरा।
कबहुक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।
नरतन भव बारिधि कहुं बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो।
करनधार सद्गुरु दृढ़नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।
जो न तरै भव सागर, नर समाज अस पाइए।
सो कृतनिंदक मंदमति, आत्मा हन गति जाय॥४४॥
रामचरितमानस, पृ० ५१३, उत्तरकाण्ड।

३. प्रभु सो मिलन कैसे होय॥टेक॥
पांच पहर धन्धे में बीते, तीन पहर रहे सोय।
मानख जनम अमोलक पायो, सोतै डार्यो खोय।
मीरां के प्रभु गिरधर भजीये, होनी होय सो होय॥१५९॥
मीरा पदावली, पृ० १४८।

बन्दे बन्दिगी मति भूल ।टेक ।।
चार दिना की कर ले खूबी, ज्यूं दाड़िमदा फूल ।
आया ठा ए लोभ के कारण, मूल गमाया भूल ।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, रहना है बे हजूर ।।[१]

इस प्रकार निर्गुण और सगुण दोनों ही साहित्य धाराओं में इस संदेश की ज्योति यत्र तत्र झलकती दीख पड़ती है कि यह मनुष्य जन्म दुर्लभ है, इसे ईश्वर भक्ति में न लगा कर सांसारिक मोह एवं क्षणिक सुखों में लगाने वाले को उसी प्रकार निराश होना पड़ेगा जिस प्रकार कि सेमल के फूल पर बैठ कर सुआ निराश होता है, उसके हाथ कुछ भी तत्त्व नहीं आता केवल 'तांवरो तूल' हाथ आता है।[२] इस शरीर का निश्चय ही उपयोग करना है। तन की समस्त वृत्तियों को ईश्वर के चरणों में अर्पित कर के इस शरीर में रहते हुए ही साधना करनी है। साधना के लिए इससे सुन्दर और कोई अवसर नहीं मिलेगा। सभी भक्तों का विश्वास है कि चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद कहीं यह मनुष्य देह मिली है। एक बार इस अवसर को खो देने वाला फिर से उन चौरासी लाख भयंकर योनियों[३] में भटकेगा। यह सब जानते हुए भी मन विषयों से ही 'हेत' लगाता है। यह नहीं सोचता कि इस अवसर के निकल जाने पर फिर कभी अवसर नहीं मिलेगा।[४] भला कहीं पेड़ से गिरने के बाद दुबारा वही फल पेड़ में लग सकता है।[५] यह जीवन जा रहा है, यदि

---

१. मीरा पदावली, पृ० १५९, पद सं० १९८।

२. यह ऐसा संसार है जैसा सैंबल फूल।
कबीर ग्रंथावली, पृ० २१, दोहा १३।
यह संसार सुवा-सेमर ज्यों, सुंदर देखि लुभायो।
चाखन लाग्यौ रूई गई पुड़ि, हाथ कछु नहिं आयो।
कहा होत अब के पछिताएं, पहिलै पाप कमायौ।
कहत सूर भगवंत भजन बिनु, सिर धुनि-धुनि पछितायौ ।।२३५।।
सूर सागर, प्र० १११।

३. सूर अनेक देह धरि भूतल, नाना भाव दिखायौ।
नाच्यौ नाच लच्छ चौरासी, कबहुं न पूरो पायौ।
सूर सागर, पृ० ६८, पद सं० २०५।

४. औसर हारयौ रे, तैं हारयौ।
मानुष जनम पाइ नर बौरे, हरि कौ भजन बिसारयौ।
काल अवधि पूरन भई जा दिन, तनहूं त्यागि सिधार्‌यौ।
सूर सागर, पृ० १११, पद सं० ३३६।

५. मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार।
तरवर थैं फल झड़ि पड्या, बहुरि न लागै डार ।।३४।।
कबीर ग्रंथावली, पृ० २४।

जिसमें सामर्थ्य हो वह इसे रोक ले।[1] अब उचित यही है कि सब काम छोड़ कर ईश्वर का भजन करो।[2]

कनक, कामिनी

मध्ययुग में धन के प्रति समाज में अधिक लोभ था। धन ही लोगों का मित्र था, धर्म नहीं—

धन भयो मीत, धर्म भयो बैरी, पतितन सों हितवाई।[3]

आवश्यकता से अधिक धन के प्रति लोभ की वृत्ति अकल्याणकारी है। परन्तु मनुष्य की अपने परिश्रम से अधिकाधिक धन प्राप्त करने की वृत्ति होती है, काल व्याल के फंदे के लिए यही वृत्ति पर्याप्त है। मनुष्य अपना समझ कर अपार धन का संचय करता है परन्तु संत सुन्दरदास ने कहा है कि यह सब 'मेरा धन मेरी स्त्री' आदि की भावना निस्सार है।

सुन्दरदास के शब्द हैं—

मेरो देह मेरौ गेह मेरौ परिवार सब,
मेरौ धन माल मैं तो बहुविधि भारौ हौं।
सुन्दर कहत मेरौ मेरौ करि जाने सठ,
ऐसी नहीं जानै मैं तो काल ही कौ चेरौ हौं॥१॥[4]

धन के प्रति अतीव लालसा सदैव कष्ट का कारण है। संतों ने बारम्बार इस बात की ओर संकेत किया है कि धन के लोभ में मनुष्य अपना जीवन नष्ट कर लेता है। नामदेव इस तथ्य का सुन्दर चित्र खींचते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार मछली पानी में रहती है, वह यह नहीं देखती कि मैं जाल में फंस रही हूँ और उसका काल उपस्थित हो जाता है, इसी प्रकार मनुष्य कनक कामिनी के मोह में फंसा रह जाता है, वह इस बात को भूल जाता है कि उसका जीवन व्यर्थ व्यतीत हुआ जा रहा है, अन्त में सभी जोड़ी हुई 'धन धरती' धूल हो जायगी।[5]

---

१. कबीर यह तनु जात है, सकै तौ लेहु बहोड़ि।
वही, पृ० २४, दोहा ३७।

२. नरतनु को अब सुकृत यही है, भजौ श्याम सब काम
बिहारी—प्रियारसिक विनोद, पृ० १४२।

३. व्यास वाणी, पृ० २२४, पद सं० १२९।

४. संत काव्य, पृ० ३९२।

५. जैसे मीनु पानी महि रहै, काल जाल की सुधि नहीं लहै।
जिहवा सुआ दी लीलित लोह, ऐसे कनिक कामिनी बांधिउ मोह॥१॥
अति संचै समझै नहीं मूड़, धनु धरती तनु होइ गइउ धूड़ि॥३३॥
संत काव्य, पृ० १५२।

परन्तु दूसरी ओर संतों का यह भी कथन है कि जंगलों में व्यर्थ भटकने से अपने महल[1] में सुख से बैठ रहना अच्छा है, शर्त एक है कि व्यक्ति सुख में भी ईश्वर भजन करता रहे। संत कमाल ने इस तथ्य को बड़ी ही आकर्षक शैली में व्यक्त किया है—

इतना जोग कमाय के साधु, क्या तूने फल पाया।
जंगल जाके खाक़ लगाए, फेर चौरासी आया ॥१॥

× × ×

सुख से बैठो अपने महेल मों, राम भजन अच्छा है।
कछु काया छीजै नहीं खरचे, ध्यान धरो सोइ सच्चा है ॥४४॥
कहत कमाल सुनो भाई साधू, सबसे पंथ न्यारा है।
बेद शास्तर की बात येहीं, जम के माथा फत्तर है[2] ॥५॥

'यम के मस्तक पर पत्थर' मारने वाला यह न्यारा पंथ व्यर्थ के कष्ट उठाने का निषेध करता है। संत कमाल कहते हैं कि इसके अर्थ यह नहीं कि 'कांचन नारी' को अमृत समझ लिया जाय, जहां धन स्त्री देखी, पानी के समान पसर गए। यह दोनों ही जहर के समान है।[3] वास्तविक 'बादशाहत' 'कनक कान्ता' को त्यागने में ही है।[4]

आवश्यकता से अधिक धन, भले ही वह स्वपरिश्रम से प्राप्त हो, अवश्य दुःख का कारण बनता है। इसीलिए संतों को आश्चर्य होता था कि जब अपनी ही धन सम्पत्ति की मोह माया के इतने विकट परिणाम उपस्थित होते हैं तब भला ऐसे मनुष्यों की कौन सी गति होगी जो दूसरों के धन और स्त्री पर गृद्ध दृष्टि रखते हैं। पराया धन, परायी स्त्री का लोभ सदैव निन्दनीय है।[5] दूसरों का धन, दूसरे की स्त्री का तुरन्त त्याग कर देना चाहिए, जो ऐसा करता है उसके निकट स्वयं नरहरि निवास करते हैं।[6]

---

१. महल से सूक्ष्म अर्थ शरीर भी हो सकता है।
२. संत काव्य, पृ० २२६।
३. कांचन नारी जहर सम देखे, ना पसरे हवा पानी।
   संत काव्य, पृ० २२७, पद सं० ३।
४. कनक कान्ता तज कर बाबा, आपनी बादशाही ॥१॥
   संत काव्य, संत कमाल, पृ० २२७, पद सं० ४।
५. परदारा परधनु पर लोभा, हठ मै बिरखै विकार।
   संत काव्य, गुरुनानक, पृ० २४७, पद सं० १५।
६. परधन परदारा परहरी। ताकै निकटि बसै नरहरी।
   वही, पृ० १५३, पद सं० २३।

धन के सम्बन्ध में संतों ने बड़े व्यावहारिक स्तर पर उपदेश दिए हैं।[1] अपनी जीविका के लिए दूसरों का आश्रय लिया जाय इसका संतों ने सदैव विरोध किया है। कबीरदास ने निस्संकोच भाव से कहा है कि हे भगवान्, लो यह अपनी माला, मुझसे भूखे भक्ति नहीं होगी। मुझे किसी का कुछ देना नहीं है। तुम मुझे खाने भर को दे दो, नहीं तो ऐसे कैसे निभेगी।[2] भक्ति इसी शरीर से करनी है, शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति किए बिना कबीरदास ने भक्ति करने से साफ इन्कार कर दिया है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संतों के उपदेश के अनुसार जीविकोपार्जन मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। अपने शरीर और अपने परिवार की आवश्यकताओं से अधिक धन की वांछा करना अनुचित है। धन संपत्ति के संचय की प्रवृत्ति को संत अच्छा नहीं समझते थे। अधिकाधिक धन प्राप्ति के लिए उद्योग करना अवांछनीय है। दूसरों का धन लेने का लोभ अति गर्हित है, ऐसी निकृष्ट वृत्ति को त्याग देना चाहिए।

इस प्रकार के उपदेश सगुण भक्ति साहित्य में भी यत्र तत्र मिलते हैं सगुण भक्तों का यह विचार था कि निर्धन के समान दूसरा कोई कष्ट नहीं।[3] फिर भी जिस धन के लिए दुनिया पागल है वह धन ही सारे प्रपंच का मूल है। इस धन के साथ सदैव अनेक प्रकार की बाधाएँ हैं। सच्चे भक्त का एक ही धन है राम का नाम।[4] भगवद्भक्ति से समस्त संताप नष्ट हो जाते हैं।

---

१. "वे उन ज्ञानियों में से नहीं थे जो हाथ पांव समेट कर पेट भरने के लिए समाज के ऊपर भार बनकर रहते हैं। वे परिश्रम का महत्त्व जानते थे और अपनी आजीविका के लिए अपने ही हाथों का आसरा रखते थे।"
कबीर ग्रंथावली, प्रस्तावना, श्याम सुंदर दास, पृ० ५३।

२. भूखे भगति न कीजै, यह माला अपनी लीजै।
हौं मांगौ संतन रैना। मै नाहीं किसी का देना॥१॥
माधो, कैसी बनै तुम संगे। आपन देहु त लेबउ मंगे॥टेक॥
दुइ सेर मांगउ चूना। पाउ घीउ संगि लूना।
अध सेर मांगउ दाले। मोको दोनउ बखत जिवाले॥२॥
खाट मांगउ चउपाई। सिरहाना अवर तुलाई।
ऊपर कउ मांगउ खीधा। तेरी भगति करै जनु बीधा॥३॥
मैं नाहीं कीतालबो। इकु नाउ तेरा मै फबो।
कहि कबीर मनु मान्या। मन मान्या तौ हरि जान्या॥४॥
—संत काव्य, पृ० १९५, पद सं० ६२।

३. निर्धन ऐसा दुख नहीं, पर निंदा सम पाप।
प्रियादास बिन भजन के, नहिं छूटै संताप।
—अनुरागशतक, पृ० १५७, दोहा सं० ४४।

४. यह धन मति मोहि देव कन्हाई॥आस्ताई॥
या धन के बाधक बहुत दीखत विश्व चोर गृह लोग लुगाई।

परन्तु मनुष्य करता क्या है कि कनक कामिनी से मन को बांधे रखता है, गज की भांति होने पर भी श्वान का सा व्यवहार करता है।[1] कनक कामिनी के मोह का परिणाम मात्र पश्चात्ताप है।[2] परधन, परदारा की निन्दा भी कहीं कहीं मिलती हैं। जिसने कोटि यत्न कर के परधन परदारा का उपयोग करना चाहा उसने भी जब नाम उपासना की तो उसकी उपासना व्यर्थ नहीं गई। ईश्वर की कृपा निर्हेतुक है। जो भी उन्हें भजता है भगवान उसे अपना लेते हैं भले ही उसने कोटि पाप किए हों। प्रियादास ने इसी भाव को अपने एक पद में व्यक्त किया है।[3] ईश्वर का नाम ऐसा अमोघ अस्त्र है कि सभी पाप कट जाते हैं। भगवद्भक्ति को सच्चे मन से अपना लेने पर किसी भी कर्म का फल बाधक नहीं होता। भगवान् अपने प्रत्येक भक्त को अपना समझ कर अपना लेते हैं। भक्त को धन आदि की बहुत चिंता करनी उचित नहीं। सच्ची बात तो यह है कि जिसका एक बार ईश्वर में चित्त लग जाता है उसे फिर धन धाम में कोई आकर्षण ही नहीं रह

बैर भाव सबसे व्है जै है कहि हैं अधिक लराई।
धर्म कर्म सबही छुटि जैहैं जब ये धन गृह आई।
उर बिच शोक संताप अधिक अर्त रक्षा हित सौं कोटि उपाई।
नाम प्रभू को याद न ऐहैं बेम प्रेम सब जैहै भुलाई।
यह अपदा देख लागत बारबार मन मेरो डेराई।
ऐसे धन लै काह करौं प्रभु जामैं बहु संताप दिखाई।
प्रियादास धन नाम श्याम को बाधक नहिं कोउ चोर चवाई॥२४॥
—प्रियारसिक विनोद, पृ० १४५।

हमारे निर्धन के धन राम।
चोर न लेत, घटत नहिं कबहूं, आवत गाढ़े काम।
जल नहिं बूड़त, अगिनि न दाहत, है ऐसो हरिनाम।
बैकुंठनाथ सकल सुखदाता, सूरदास सुख धाम॥९२॥
—सूर सागर, पृ० २९।

१. कनक कामिनी सौं मन बांध्यौ, ह्वै गज चल्यौ स्वान की चालहिं।
—सूर सागर, पृ० २४, पद सं० ७४।

२. अंतर गहत कनक कामिनी कौ, हाथ रहैगौ पचिबौ।
सूर सागर, पृ० २०, पद सं० ५९।

३. याते मोहि राधा को नाम प्रिय भाई।
जप तप योग तीर्थ नहिं कीन्हें नाहिं समाधि लगाई।
दान पुण्य स्वप्नेव नहिं कीन्हो जागत की तो कौन चलाई।
पर निंदा परदारा ताकी परधन हर्यो करि कोटि उपाई।
ऐसेन पै निरहेतु कृपा करि लियौ हमें अपनाई।
—प्रियारसिक विनोद, पृ० १४९।

जाता।[1] यह सब उपदेश उन्हीं के लिए है जिन्होंने अभी ईश्वर के चरणों में अपना चित्त अर्पित नहीं किया है। परन्तु जिन्होंने इस बात को जान लिया है कि वास्तविक 'कनक मनि रतन आमोलक'[2] ईश्वर के चरण कमल नहीं हैं वे विपत्ति में भगवान् के नाम पर उसी प्रकार भरोसा रखते हैं जैसे कि वह उसका गड़ा हुआ धन हो।[3]

'कनक' की निन्दा करते हुए उसे विष, अग्नि आदि कहते हुए संतों ने 'कामिनी' की भी बराबर निन्दा की है।[4] निर्गुण धारा के संत उसे साधारण नागिनी ही नहीं काली नागिनी के सदृश बताते हैं।[5] इसका कारण यह है कि संतों का यह विचार था कि नारी स्वयं नरक की कुंड है अतः वह चाहे पराई हो, चाहे अपनी हो, जो उसका भोग करता है वह अवश्य नरक में जाता है।[6] जो मनुष्य नारी से स्नेह करता है उसकी बुद्धि, विवेक आदि समस्त सद्गुणों को वह हर लेती है।[7] पुरुष को भक्ति, मुक्ति और ज्ञान के मार्ग में कभी भी प्रवेश नहीं करने देती।[8] परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि यह तथ्य जानते हुए भी पुरुष नारी के प्रेम से नहीं बच पाता। उसी को अपने जीवन का काम्य समझ बैठता है। ईश्वर के भजन में चित्त नहीं लगाता। सूफी साहित्य में इस प्रकार नारी निन्दा सम्बन्धी कथन नहीं उपलब्ध होते। परन्तु तुलसीदास ने जब से 'ढोल' की पंक्ति में 'नारी' को रख कर 'ताड़ना' का ही 'अधिकारी' घोषित

---

१. अनुरागशतक, पृ० १५६, दोहा ३४।
२. सूर सागर, पृ० १०६, पद सं० ३२४।
३. ठाढी कृष्न कृष्न यौ बोले।
   जैसे कोऊ विपति परे तें, दूरिधर्यौ धन खोले।
   —सूर सागर, पृ० ८२, पद सं० २५६।
४. एक कनक अरु कामिनी दोउ अगनि की झाल।
   देखें ही तन प्रजलै, परस्या ह्वै पैमाल॥१२॥
   एक कनक अरु कामिनी, विष फल कीएउ पाइ।
   देखैं हीं थै विष चढ़ै, खांये सूं मरि जाइ॥११॥
   —कबीर ग्रंथावली, पृ० ४०।
५. कांमणि काली नागणीं, तीन्यूं लोक मंझारि।
   राम सनेही ऊबेर, विषई खाये झारि॥१॥ वही, पृ० ३९।
६. नारी कुंड नरक का...वही पृ० ४०।
   नारि पराई आपणी, भुगत्या नरकहिं जाइ। वही, पृ० ४१, दोह सं० २४।
७. नारी सेती नेह, बुधि बबेक सबहीं हरैं।
   काइ गमावै देह, कारिज कोई ना सरै॥८॥ वही, पृ० ३९।
८. नारि नसावै तीनि सुख, जा नर पासैं होई।
   भगति मुकति निज ग्यान मैं, पैसि न सकई कोइ॥१०॥ वही, पृ० ४०।

किया[1] और 'साहस' उसके आठ अवगुणों में सर्वप्रथम सिद्ध किया।[2] तब से राम भक्तों के अलावा अन्य लोगों के मुँह पर भी ये पंक्तियां स्त्री पर अंकुश रखने के लिए मंत्र के सदृश कार्य करने लगीं। परन्तु तुलसीदास का इन कथनों से वास्तविक आशय यह नहीं था कि साधारण स्त्री मात्र ताड़ना की अधिकारी हैं और प्रत्येक स्त्री अष्ट अवगुणों से परिपूरित निन्दा की पात्री है। इस सम्बन्ध में डा० रामकुमार वर्मा ने प्रकाश डालते हुए अपना उचित मन्तव्य प्रकट किया है कि 'नारी के प्रति भर्त्सना के ऐसे प्रमाण उसी समय उपस्थित किए गए हैं, जब नारी ने धर्म के विपरीत आचरण किया है, अथवा निन्दात्मक वाक्य कहने वाले व्यक्ति वस्तु स्थिति देखते हुए नीतिमय वाक्य कहते हैं। ऐसी स्थिति में वे कथन तुलसीदास के न हो कर परिस्थिति विशेष में पड़े हुए व्यक्तियों के समझने चाहिए।. . .पहली उक्ति सागर ने अपनी क्षुद्रता बतलाने के लिए राम से कही, और दूसरी रावण ने अपनी महत्ता बतलाने के लिए मन्दोदरी से कही।[3]

कृष्ण भक्त कवियों ने भी नारी-निन्दा अच्छी तरह की है। संतों के नागिनी वाले रूपक को कृष्णभक्ति काव्य में और भी तीक्ष्ण कर के प्रस्तुत किया गया है—

> नागिनि के काटै विष होई। नारी चितवन नर रहै मोइ।
> नारी सौं नर प्रीति लगावै। पै नारी तिहिं मन नहिं ल्यावै।
> नारी संग प्रीति जो करै। नारी ताहि तुरत परिहरै।[4]

---

१. ढोल गंवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।
 —रामचरितमानस, सुन्दरकांड, पृ० ४०१, पंक्ति सं० २।

२. नारि सुभाउ सत्य कवि कहहीं। अवगुण आठ सदा उर रहहीं।
 साहस अनृत चपलता माया। भय, अविवेक, असौच अदाया।
 रामचरित मानस, लंका कांड, पृ० ४११, पंक्ति सं० १२, १३।

३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६३०।

४. सूर सागर, पृ० १८०, पद सं० ४४६।

सूर के स्त्रियों के सम्बन्ध में विचार पर डा० ब्रजेश्वर वर्मा का कथन है 'नवम स्कंध में राजा पुरूरवा की कथा के अन्तर्गत शुकदेव परीक्षित से कहते हैं कि नारी और नागिन का एक ही स्वभाव होता है। नागिन के काटने से विष होता है, पर नारी की चितवन से ही नर 'मोह' जाता है।
नर नारी से प्रीति लगाता है, पर नारी उसे मन में नहीं लाती। नारी के साथ जो प्रीति करता है, नारी उसे तुरंत त्याग देती है। इसी विचार को पुरूरवा और उर्वशी की कथा द्वारा पुष्ट किया गया है। भागवत के कथा प्रसंग में होने के कारण यद्यपि य विचार स्वतंत्र रूप से कवि के विचार नहीं कहे जा सकते, पर इनके सत्य होने में उसे किसी प्रकार का संदेह था, ऐसा अनुमान करने के लिए कोई आधार नहीं है।'' सूरदास, डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ३८१।

नारी के लिए अग्नि के रूपक का भी कृष्णभक्ति काव्य में अभाव नहीं है। प्रियादास का कथन है कि स्त्री के पास पहुँचते ही मनुष्य का शान्त मन गर्म पानी की तरह खौलने लगता है।[१]

निर्गुण भक्त कवियों की भाँति सगुण भक्त कवियों ने भी नारी को निन्दनीय समझा है। इस भयंकर भाव से जो निर्गुण भक्ति धारा के सन्त नारी की निन्दा करते हैं उसके सम्बन्ध में डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल खेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि "केवल स्त्री जाति को ही इन संतों द्वारा हानि पहुँचती है। सभी युगों व देशों के निवृत्तिमार्गियों का यह नियम रहा है कि वे स्त्री व धन की निन्दा करते आए हैं और इस प्रकार वैराग्य की उस भावना को जागृत करते रहे हैं जो निर्गुणियों को भी स्वीकार है। कबीर ने स्त्रियों को नरक का कुण्ड बतलाया है। पलटू को अस्सी वर्ष की भी स्त्री का विश्वास नहीं और यह बात खटकती है। दुःख की बात है कि स्त्रियों में इन लोगों ने केवल भोले भाव को ही देखा है, उनके आध्यात्मिक आदर्श की ओर से आँखें मूंद ली हैं जिसे उन्होंने उस शाश्वत प्रेमी की भार्याएं बन कर स्वयं अपनाने का विचार किया है। इसमें सन्देह नहीं कि स्त्रियों के केवल यौन भाव वाले अंश को ही उन्होंने गर्हित माना है, किन्तु स्त्रियों में केवल यही भाव सब कुछ नहीं है और न पुरुष ही इस भाव से रहित है।[२]

इस तथ्य में संदेह नहीं कि नारी की चाहे जितनी निन्दा संतों ने की हो उनकी स्त्री पुरुष के लिए समदृष्टि भी रही है ऐसा जान पड़ता है। कबीरदास स्त्रियों की निन्दा करते करते यह भी कहते हैं कि पुरुष और नारी सभी नरक हैं, जब तक कि देह में सकाम भाव रहता है तब तक दोनों ही निन्दनीय हैं। निष्काम ईश्वर स्मरण से सभी राम के हो जाते हैं।[३]

स्त्री से सम्बन्धित अधिकांश कथन इस तथ्य के द्योतक हैं कि भक्तों का मन्तव्य इतना ही था कि पुरुष इस अनावश्यक आसक्ति से अपना चित्त हटा कर ईश्वर में लगा दे। इसलिए जब निर्गुण भक्त कबीर कहते हैं कि 'जोरू जूठण जगत की'[४] तो उनका तात्पर्य वही है जो कृष्ण भक्त प्रियादास का है कि जिस प्रकार तुम सुन्दर स्त्री को देख कर ललचाते हो उसी प्रकार की प्रीति हरिभजन में क्यों नहीं दिखाते।[५] क्योंकि इस बात का कबीरदास को भी भान था कि

---

१. नीर ठंढ बन्ही निकट, यथा गरम ह्वै जात।
प्रियादास त्यौं शांतमन, तिरिया तीर नशात ॥६५॥ अनुरागशतक, पृ० १५८।

२. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय , डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ३२७।

३. नर नारी सब नरक है, जब लग देह सकाम।
कहै कबीर ते राम के, जे सुमिरैं निहकाम ॥७॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० ३९।

४. कबीर ग्रंथावली, पृ० ४०।

५. रूपवंत त्रिय लखत ही, ज्यौं तू मन ललचात।
प्रियादास त्यौं भजन में, कबहूं न प्रीति दिखात ॥४५॥
अनुरागशतक, पृ० १५७।

कामी पुरुष को भूख, प्यास नींद किसी की चिन्ता नहीं रह जाती।[1] तात्पर्य इतना ही है कि जिस प्रकार पुरुष की स्त्री में एकनिष्ट आसक्ति होती है उसी प्रकार यदि ईश्वर में हो जाय तो मानव-जन्म सफल हो जाय।

संतों के व भक्तों के अनेक कथन इस बात की साक्षी देते हैं कि मध्ययुग में पुरुषवर्ग पराई स्त्री में अधिक अनुरक्ति रखता था। निर्गुण व सगुण दोनों ही साहित्य धाराओं में इस अवांछित कृत्य के विरुद्ध बलवती वाणी में उपदेश दिए गए हैं। कबीरदास का एक दोहा इस बात का उदाहरण है कि लगभग सभी लोग इस परनारी आसक्ति के दोष से बिंधे थे। कोई विरला ही मनुष्य इस भयंकर पाप से बचता है। पराई नारी में अनुरक्ति-खाते समय खांड़ सी मीठी परन्तु अन्त में काल विष के सदृश प्राण हर लेने वाली होती है।[2] इससे भली तो शूली ही है।[3]

सूरदास का निम्नलिखित पद इस बात का समर्थन करता है कि जो स्थिति कबीर की १५वीं शताब्दी में थी वही १६वीं शताब्दी में भी चल रही थी—

> **जनम गंवायौ ऊआबाई।**
> **भजे न चरन कमल जदुपति के, रह्यौ बिलोकत छाई।**
> **धन जोबन मद ऐंड़ो, ताकत नारि पराई।**
> **लालच लुब्ध स्वान जूठनि ज्यौं, सोऊ हाथ न आई।**[4]

परन्तु यह 'परतिय मोह' असीम क्लेश का कारण है।[5] इस बात को समझाने के लिए इंद्र से अधिक सटीक उदाहरण दूसरा नहीं है। कबीर का कहना था कि पर स्त्री रति उसी प्रकार बहुत छिपाने से भी नहीं छिपती जिस प्रकार की 'लहसुन की खान' चाहे जितनी भी छिपाई जायगी अपनी दुर्गन्ध के कारण नहीं छिपेगी।[6]

---

१. कांमी लज्या ना करै, मन मांहै अहिलाद।
   नींद न मांगे सांथरा, भूष न मांगे स्वाद॥२३॥
   कबीर ग्रंथावली, पृ० ४१।
२. पर नारी पर सुंदरी, बिरला बंचै कोइ।
   खातां मीठी खांड सी, अंति कालि विष होई॥४॥
   —कबीर ग्रंथावली, पृ० ३९।
३. सुंदरि थैं सूली भली। वही, पृ० ४०।
४. सूर सागर, पृ० १०९, पद सं० ३२८।
५. परतिय मोह इन्द्र दुख पायौ। सो नृप मैं तोहिं कहि समुझायौ।
   परतिय मोह करै जों कोइ। जीवत नरक परत है सोइ।
   वही, पृ० १६१, पद सं० ४१९।
६. परनारी को राचणौं, जिसी ल्हसण की षानि।
   पूणें बैसि रषाइए, परगट होइ दिवानि॥६॥ —कबीर ग्रंथावली, पृ० ३९।

इस प्रकार अनेक ढंगों से समझाते हुए निर्गुण व सगुण दोनों साहित्य इस बात का उपदेश देते हैं कि नारी से अनावश्यक मोह अनुचित है। मनुष्य को चाहिए कि वह स्त्री में भी उसी प्रकार ईश्वर के दर्शन करे जिस प्रकार कि स्वयं अपने में करता है। ईश्वर तो घट घट व्यापी है। वह नर और नारी में समान रूप से स्थित है।[१]

भगवान के हृदयमें स्त्री पुरुष जैसा कोई भेद भाव नहीं है। वे शबरी के जूठे बेर प्रेम से खाकर उसको मुक्ति दे देते हैं।[२] कूबरी जैसी अनोखी रूप गुणशील समाविष्ट से विवाह कर लेते हैं।[३] भगवान के इस प्रकार के अशोभन कृत्य उनके भक्तों को चिंतित कर देते हैं, परन्तु भगवान को किसी के कहने सुनने की चिन्ता नहीं है उन्हें न सच्चे झूठे का विचार है, न लोक-लज्जा का। जो उनका भजन करे उसे ही अपना लेते हैं। जिस भाव से भजन करे उसी भाव से उसको संतुष्ट करते हैं। भक्ति के क्षेत्र में स्त्री पुरुष का भेद भाव मिट जाता है।

स्त्रियों के लिए एक ही सन्मार्ग भक्तों ने प्रतिपादित किया है, पतिव्रत धर्म। जो स्त्रियां इस धर्म का अनुसरण करती हैं वह स्त्रियों में शिरोमणि हैं। जो इस पथ से विचलित होती हैं उनके समान निन्दनीय जगत् में दूसरा कुछ नहीं। सूफ़ी साहित्य स्त्रियों के पतिव्रत धर्म के सम्बन्ध में मुखर है। पति की आज्ञा की अवहेलना कर के स्त्री चाहे कि वह सुख से अपने घर में बैठी रहे, यह असंभव है। ऐसी कौन सी स्त्री है जिसने पति की आज्ञा मेटी हो, और उसका अकाज न हुआ हो? इसीलिए जायसी स्त्रियों को शिक्षा देते हुए कहते हैं कि जो पति के आदेशानुसार व्यवहार करती हैं और अनेक प्रकार के कष्ट सहन कर के भी पति का आदेश नहीं टालती हैं—वे चन्द्रमा के सदृश सदैव निर्मल रहती हैं, जन्म भर मलिन नहीं होतीं।[४] सूरदास भी इसी प्रकार कहते हैं

---

१. नरनारी में देखिले, सब घट में एक तार।
—संत काव्य, संत सिंगाजी, पृ० २७१, साखी सं० १।

२. सूर सागर, पहला खंड, नवम् स्कंध, पृ० २०८, पद सं० ६७।
रामचरित मानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ३४६, दोहा सं० ३६।

३. कहा कूबरी सीस रूप गुन? बस भए स्याम त्रिभंगी।
—सूर सागर, पृ० ७, पद सं० २१।
कोउ कहै रे मधुप तुम्हें लज्जा नाहिं आवै,
सखा तुम्हारो स्याम कूबरी नाथ कहावै।
यह नीची पदवी हुती गोपीनाथ कहाय,
अब जदुकुल पालन भयो दासी जूठन खाय।
भरत कह बोल को ॥५६॥
——नन्ददास, भंवर गीत, पृ० २५।

४. जनि जानहु कै औगुन, मंदिर होइ सुख साज।
आएसु मेटि कंत कर, काकर भा न अकाज ॥८८॥

कि जो स्त्री पतिव्रत धर्म पालन करती हैं वही शोभा को प्राप्त होती हैं, जो अन्य पुरुष का नाम लेती हैं वह पतिव्रत को लज्जित करती हैं।[1]

स्त्रियों के सम्बन्ध में मध्ययुग में विशेष बात यह हुई कि इन भक्तों ने स्त्रियों को भी भक्ति के क्षेत्र में बराबरी का स्थान दिया। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का कथन है कि निर्गुण भावधारा के संतों को स्त्रियों से कोई द्वेष नहीं था, वरन् उन्होंने स्त्रियों को अपनी शिष्याओं के रूप में स्वीकार किया था। सहजोबाई दयाबाई निर्गुण भक्तिधारा की स्त्री-भक्तों का उदाहरण हैं।[2]

हिन्दी के सूफी काव्य में परमेश्वर को स्त्री रूप में मान कर ही आत्मा रूपी पुरुष उसे पाने का साधन करता है। इस विचारधारा के साथ स्त्री सम्बन्धी उस प्रकार के कथन हो ही नहीं सकते जिस प्रकार कि अन्य भक्ति शाखाओं के संत कवियों ने किए हैं। राम भक्त कवियों ने एक ओर स्त्री को ताड़ना का अधिकारी माना है परन्तु दूसरी ओर अहल्या, पार्वती, सीता, कौशल्या के बड़े उदात्त स्त्री चरित्र प्रस्तुत किए हैं।[3] कृष्ण भक्त कवि गोपी भाव से ही ईश्वर भक्ति को आदर्श मानते हैं। अतएव साधारण उपदेश सम्बन्धी कथन जो स्त्रियों से सम्बन्ध

रहै जो पिय के आएसु, और बरतै होई मलीन।
सोई चांद अस निरमरि, जरम न होइ मलीन ॥९०॥
जायसी ग्रंथावली, डा० मनमोहन गौतम, पदमांवत, पु० ९८, पृ० १००।

१. पति को व्रत जो धरे तिय, सो सोभा पावै।
आन पुरुष को नाम लै, पतिव्रतहिं लजावै।
—सूर सागर, पृ० ११७, पद सं० ३५२।

२. "निर्गुणियों ने स्वयं माना है कि पुरुष भी स्त्री के लिए उसी प्रकार बन्धन स्वरूप है जिस प्रकार स्त्री पुरुष के लिए हो सकती है। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि उन्हें स्त्रियों के व्यक्तित्व से कोई दोष न था क्योंकि उनके अनुसार वह भी पुरुष की ही भांति ईश्वर की सृष्टि है। इसके विपरीत स्त्रियों को इस बात के लिए उनका ऋणी होना चाहिए कि उन्होंने उनके लिए भी भक्ति का द्वार खोल दिया है। निर्गुणियों ने स्त्रियों को अपने शिष्य रूप में भी स्वीकार किया था। दादू की कुछ स्त्री शिष्याएं थीं जो उच्च परिवारों की थीं। चरणदास की शिष्याएं सहजोबाई व दयाबाई निर्गुण पंथ के परमोच्च रत्नों में से हैं। कबीर की स्त्री जिसका जो भी नाम रहा हो एक पूर्ण शिष्य का उदाहरण स्वरूप थी।"

हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० ३२८।

३. "तुलसी ने नारी जगत के प्रति बहुत आदर भाव प्रकट किया है। पार्वती, अनुसुइया, कौशल्या, सीता, ग्राम-वधू आदि की चरित्र रेखा पवित्र और धर्म पूर्ण विचारों से निर्मित की गई है।"

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६३१।

रखते हैं कृष्ण भक्ति साहित्य में बहुत कम हैं, जो हैं भी, वे कथा प्रसंग पर अधिक आश्रित हैं। भक्तों में मीराबाई ने स्त्री भक्त का इतना ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत कि उसके समक्ष इस प्रकार की समस्त संकुचित विचारधाराएं छिन्न हो जाती हैं। स्त्रियों के समक्ष एक नया आदर्श सामने आता है, जो समस्त संकुचित मान्यताओं का एक साथ ही खंडन कर देता है, किन्तु उस भक्तवत्सल गिरिधर गोपाल की ही क्रोड़ में।

विषय विकार का त्याग, भक्ति

मध्ययुगीन संत देख रहे थे कि चारों ओर लोग विषय विकारों में उलझे हुए हैं। जैसे कोई 'ठगमूरी' खा ले और भ्रमित हो जाए उसी प्रकार यह विषयों का वन है जहाँ मन जाता है और भटकता फिरता है।[१] जब तक मन इन विकारों को नहीं त्याग देगा तब तक किस प्रकार इस संसार समुद्र से पार जायगा। जब मणि समस्त कुटिलता को छोड़ देगा तभी राजा राम आ कर मिलेंगे।[२] परन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंक ईश्वर का प्रिय कोई एकाध ही संसार में हो सकता है। हरिपद को पहचानने के लिए आवश्यक है कि काम क्रोध लोभ मोह आदि विकारों से रहित मन शुद्ध हो। ईश्वर का वास्तविक दास वही हो सकता है जिसमें तृष्णा नहीं है, जो स्तुति निन्दा में समान रहता है, जिसके लिए कंचन और लोहे में कोई भेद नहीं है।[३] इसलिए संतों का यह संदेश था कि हरि का भजन मन से करना चाहिए, विषय विकार जो कूड़े के समान हैं इनसे 'हेत' करना व्यर्थ है।[४]

सूफ़ी कवि जायसी, सुआ खण्ड में अप्रत्यक्ष रूप से लालसाओं के त्याग का उपदेश देते

---

१. काएं रे मन विषियाबन जाइ। भूलै रे ठगमूरी षाइ ॥रहाउ॥
संत काव्य, नामदेव, पृ० १५२।

२. जे मन नहीं तजै बिकारा, तो क्या तिरियै भौ पारा।
जबमन छाड़े कुटिलाई, तब आइ मिलै रामराई॥१॥
संत काव्य, कबीर, पृ० १७४।

३. तेरा जन एकाध है कोई।
काम क्रोध और लोभ विवर्जित, हरिपद चीन्हे सोई ॥टेक॥
असतुति निन्दा आसा छाड़ै, तज मान अभिमाना।
लोहा कंचन समि करि देखै, ते मूरति भगवाना॥२॥
च्यंत तो माधौ च्यंतामणि, हरिपद रमै उदासा।
त्रिस्ना अरु अभिमान रहित है, कहत कबीर सो दासा॥३॥
संत काव्य, कबीर, पृ० १८७।

४. कबीर हरि सूं हेत करि, कूडै चित न लाव।
बांध्या वार षटीक के, ता पसु किती एक आव॥७८॥
वही, पृ० २०६।

हैं। सुआ अपने साथी पक्षियों को उपदेश देते हुए कहता है कि तृष्णा ही व्याधि है। कालरूपी व्याध का कुछ दोष नहीं, हम स्वयं ही अपने मन की इच्छाओं के अनुसार प्राप्त अस्थायी भोगों में लिप्त हो जाते हैं। भोग का भाव ही मन को सूझता है, यह नहीं दिखाई देता कि इस भोग के पीछे काल रूपी व्याध छिपा बैठा है। हममें लोभ का भाव वर्तमान है यह देख कर ही काल रूपी व्याध ऐसे अस्थायी सुख साधनों को हमारे सम्मुख रखता है जिन्हें हम अपने सन्तोष का माध्यम समझने की भूल करते हैं।[१]

रामभक्त तुलसीदास भी इसी प्रकार तत्कालीन समाज की इस विषयाक्त स्थिति को व्यक्त करते हैं। ऐसा भला कौन मनुष्य है जो घोर क्रोध के निशान्धकार में जागा। जिसके गले में लोभ का पाश नहीं है वह साक्षात् राम के ही सदृश है। यह गुण साधन से मिल भी नहीं सकता। ईश्वर की जब कृपा होती है तभी किसी बिरले मनुष्य को यह क्रोध लोभ आदि के पाश छोड़ते हैं।[२] तुलसीदास का संदेश यही है कि काम क्रोध लोभ मद सब नरक के पंथ हैं। इन सब को त्याग कर उसी ईश्वर को भजो जिसका भजन संत जन करते हैं।[३]

उपर्युक्त तीनों भक्ति शाखाओं के समान कृष्ण भक्ति साहित्य भी यही संदेश देता है कि समस्त विषय विकार अवांछनीय हैं, इनका परित्याग कर ईश भजन करना मनुष्य का अभीष्ट लक्ष्य है। जब तक मन का मैल नहीं छूटेगा तब तक हरि की भक्ति असंभव है। क्रोध कसाई की तरह इस शरीर के अन्दर निवास करता है, मनुष्य करता क्या है कि लालची विषयों की उदरपूर्ति करता है, स्वयं सदैव क्षुधित रहता है, क्योंकि मानव क्षुधापूर्ति का एक मात्र साधन है राम भजन, और उससे मनुष्य भागता रहता है।[४] मनुष्य के लिए अभीष्ट यही

---

१. मैं बिआधि तिस्ना संग साधू। सूझै भुगुति, न सूझ बिआधू।
हर्मांहि लोग ओइँ मेला चारा। हर्मांहि गरब वह चाहै मारा।
हम निंचित वह आउ छपाना। कौन बिआधहि दोख अपाना।
सो औगुन कत कीज, जिउ दीजै वेहि काज।
अब कहना कछु नाहीं, मस्त भली पंछिराज।।७२।।
जायसी ग्रंथावली, डा० मनमोहन गौतम, पदमावत, पृ० ८३।

२. नारि नयन सर जाहि न लागा, घोर क्रोध तम निसि जो जागा।।
लोभ पास जेहि गरन बंधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया।
यह गुन साधन ते नहिं कोई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई।
रामचरितमानस, किष्किधा कांड, पृ० ३६४, ३६५, पंक्ति सं० २३, २४, १।

३. काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुवीरहिं, भजहु भजहिं जेहि संत।।३८।।
—रामचरित मानस, सुन्दरकांड, पृ० ३९१।

४. यहि विधि भक्ति कसे होय।।टेक।।
मन की मैल हिय ते न छूटी, दियो तिलक सिर धोय।

है कि वह काम क्रोध मद लोभ मोह को अपने चित्त से निकाल दे, और ईश्वर के रंग में अपने चित्त को भिगो दे।[१] विषय विकार ग्राह के समान मनुष्य को घसीट लेते हैं, ईश्वर में ही वह सामर्थ्य है कि इस प्रकार के अकाल विनाश से, हाथ पकड़ कर उद्धार कर ले।[२] मन की ऐसी आदत पड़ जाती है कि उसे खान पान विषय कार्य में ही रुचि होती है, भगवान का भजन अच्छा नहीं लगता, जब कि तथ्य यह है कि यह प्रिय जैसे आभासित होने वाले पदार्थ वास्तविक रूप में शत्रु हैं।[३] यह मन कपट से भरा रहता है, ऊपर से बड़ा निर्मल जान पड़ता है, परन्तु अन्दर से देखने पर पता लगता है कि यह विषय के प्रगाढ़ रक्तवर्ण से रंगा है। अन्दर से मनुष्य का मन विषयानुरक्त है इसलिए वह स्वभाविक रूप में विषयों को देखते ही उनसे ऐसे दौड़ कर मिलता है जैसे कि अपनी ही सगी स्त्री हो।[४] रात दिन मनुष्य विषयों के वश में रहता है[५] और इतना मूर्ख

काम कूकर लोभ डोरी, बांधि मोहि चण्डाल।
क्रोध कसाई रहत घट में, कैसे मिले गोपाल।
बिलार विषया लालची रे, ताहि भोजन देत।
दीन हीन ह्वै क्षुधा रत से, राम नाम न लेत।
—मीरा पदावली, पृ० १४८, पद सं० १५८।

१. काम क्रोध मद लोभ मोह कूं बहा चित्त से दीजै।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, ताहि के रंग में भीजै।
वही, पृ० १६०, पद सं० १९९।

२. प्रियारसिक विनोद, पृ० १४०।

३. मन तू बौरा क्यों बन्यो कहा परी तेरी बान।
कृष्णभजन भावे नहीं, अतिप्रिय खान औ पान।
अतिप्रिय खान और पान मोह अभिमान बढ़ायो।
महाकष्ट की बात तनक हरियश नहिं गायो।
ताके भजन काज विषय में चित्त रमायो।।४।।
—प्रियारसिक विनोद, पृ० ३।

४. विषयन सों यों धाय मिलतु है जैसे सगी लुगाई।
परनिंदा तोहि अति प्रिय लागत जैसे दूध मलाई।
लीला चरित्र श्यामश्यामा को सुनत महाकरुआई।
वही, प० १४४, पद सं० २३।

५. निशि बासर विषयावश भरमत, होत लोभ के चेरे।
वही, पृ० १४८।

है[1] कि तब भी अपनी भलाई की कामना करता है, क्या जिस घर में सर्प रहते हैं। वह घर सुरक्षित समझा जा सकता है?[2]

इसलिए अन्य भक्ति साहित्य शाखाओं के समान कृष्णभक्ति साहित्य का भी यही संदेश है कि मनुष्य को काम क्रोध लोभ मोह का परित्याग कर देना चाहिए।[3] विषयी पुरुषों के पास भी नहीं बैठना चाहिए अन्यथा उनकी आंच से व्यक्ति स्वयं भी विनाश को प्राप्त होगा।[4] मान, बड़ाई ईर्षा आदि समस्त विकार छोड़ कर ईश्वर का भजन करना चाहिए ऐसा करने से जिस मकड़ी के से संसार जाल में मनुष्य फंसा है वह एकदम से छिन्न हो जायगा।[5]

---

१. प्रियादास कलिकाल के, कौतुक कहे न जात।
मूढ़ भजनरस छांड़ि कै, विषही में लिपटात।
अनुरागशतक, पृ० १५७, पद सं० ४२।

२. जो उर अंतर के बिषे, करत विषय नित बास।
प्रियादास कब कुशल है, निजगृह सर्प निवास।
वही, पृ० १५६, पद सं० ३९।

३. काम क्रोध मद लोभ मोह तजि
हरि के चरण चित लाई।
प्रियारसिकविनोद, पृ० १४२, पद सं० १९।

४. प्रियादास विषयी पुरुष, भूल न बैठो तीर,
ज्यों लुहार की आग तै, जरत आपनो चीर।।४७।।
अनुरागशतक, पृ० १५७।

५. प्रियादास हरिभजन करु, नहिं संसार में सार।
प्रगट नाश यक छिनक में, ज्यों मकरी को जार।
अनुरागशतक, पृ० १५६, पद सं० ४०।

पंचम अध्याय

काव्य रूप

(क) मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के प्रमुख काव्य रूप

(अ) प्रबन्ध

प्रबन्ध काव्य की संस्कृत में अनेक परिभाषाएं मिलती हैं। प्रबन्ध काव्य की परिभाषा करते समय ध्वन्यालोककार ने प्रबन्ध कथा में रस के समुचित परिपाक को ही सब से अधिक महत्त्व दिया है। आनन्दवर्द्धन का मत है कि कथा का प्रकथन, प्रवाह एवं विन्यास सब कुछ रस को दृष्टि में रख कर किया जाना चाहिए।[१] रामचंद्र शुक्ल का कथन है "प्रबन्ध काव्य में मानव जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की संबद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक ठीक निर्वाह के साथ साथ हृदय को स्पर्श करने वाले उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश होना चाहिए। इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता। उसके लिए घटनाचक्र के अंतर्गत ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रति-बिंबवत् चित्रण होना चाहिए जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरंगें उठाने में समर्थ हों। अतः कवि को कहीं तो घटना का संकोच करना पड़ता है और कहीं विस्तार।"[२]

इतिवृत्त मात्र ही प्रबन्धकाव्य नहीं। इतिवृत्त के माध्यम से श्रोता या पाठक को रसा-नुभव किस प्रकार हो सकता है इसका उदाहरण देते हुए रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं "वनवासी राम स्वर्ण मृग को मार कर जब कुटी पर लौटे तब देखा कि सीता नहीं हैं। यह इतिवृत्त है, पर यह सहृदयों के हृदय को उस दुखानुभव की ओर प्रवृत्त कर देता है जिसकी व्यंजना राम ने अपने विरह काव्यों में की। इसी बात को ध्यान में रख कर विश्वनाथ ने कहा है कि रस से नीरस पद्यों में भी रसवत्ता मानी जाती है—

रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबंधरसेनैव तेषां रसाक्तांगीकारात्।"[३]

प्रबन्ध काव्य के दो भेद माने गए हैं-- महाकाव्य और खंडकाव्य। काव्य के किसी भी

---

१. इतिवृत्त शायतां त्यक्त्वानुगणां स्थितम्।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचित्तकथोन्नयः॥

सफल प्रबन्धकार ऐतिहासिक कथा के उन अंशों को जिनसे रस परिपाक में कोई सहा-यता नहीं मिलती, काट छांट कर रस के पोषण करने वाले अंशों की कल्पना करता है। इस प्रकार कथा का संस्कार भी बड़ा आवश्यक होता है।

शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, गोविन्द त्रिगुणायत, भाग २, पृ० ३८।

२. जायसी ग्रंथावली, भूमिका, आ० रामचंद्र शुक्ल, पृ० ६८।

३. जायसी ग्रंथावली, भूमिका, आ० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६८।

रूप में रसनिष्पत्ति आवश्यक है किन्तु महाकाव्य होने के लिए विशेष रूप से रसनिष्पत्ति की आवश्यकता मानी जाती है। महाकाव्य की अनेक प्रकार की व्याख्याएं संस्कृत आचार्यों के ग्रंथों में उपलब्ध होती हैं। महाकाव्य के विषय में भामह का कथन है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थं च सालंकारं सदाश्रयम्॥
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयं च यत्।
पंचभिः सन्धिभियुक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्॥

काव्यालंकार सूत्र नामक ग्रन्थ में महाकाव्य की परिभाषा देते हुए रुद्रट लिखते हैं—

सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये।
उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोपि। . . .आदि

काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में दण्डी का कथन है—

सर्गबन्धो महाकाव्यमच्येत तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मखम्॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्॥. . .आदि।

साहित्य दर्पण में विश्वनाथ ने लिखा है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोपि वा।
श्रृंगारवीरशांतानामेको रस इष्यते॥

प्रबंध काव्य का दूसरा भेद खण्डकाव्य है। खण्डकाव्य का क्षेत्र महाकाव्य की अपेक्षा सीमित होता है। "उसमें जीवन की वह अनेकरूपता नहीं रहती जो कि महाकाव्य में होती है। उसमें कहानी और एकांकी की भाँति घटना के लिए सामग्री जुटाई जाती है।"[1] खण्डकाव्य में एक प्रधान घटना का वर्णन रहता है। साहित्य दर्पणकार ने खण्डकाव्य की व्याख्या इस प्रकार की है—"खण्ड काव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।"

(आ) मुक्तक

मुक्तक काव्य दो प्रकार का होता है। पहले रूप को पाठ्य, दूसरे को गेय कहा जा सकता है। पाठ्य मुक्तक में दोहे, कवित्त, सवैया आदि में लिखा साहित्य आता है, जिसमें पूर्वापरक्रम की अपेक्षा नहीं रहती। गेय मुक्तक में वह साहित्य आता है जो पदों के रूप में लिखा गया है। दोनों प्रकार के मुक्तकों में विषय का भी वैभिन्न्य रहता है। पाठ्य मुक्तक में आत्माभिव्यंजन की अपेक्षा कथ्य विषय का प्राधान्य रहता है।

---

१. काव्य के रूप, डा० गुलाब राय, पृ० १११।

(ख) काव्य रूपों के निर्माण की पीठिका तथा मध्ययुगीन काव्यरूपों के निर्माण में इसका योग :

किसी विशिष्ट कार्य के द्वारा किसी विशिष्ट कथा विषय को लेकर किसी विशिष्ट काव्य रूप में साहित्य का सृजन होता है। साहित्य के अन्तर्गत जब कवि अपने भावों की अभिव्यक्ति किसी विशिष्ट काव्य रूप के माध्यम से करता है तब उसके मूल में कुछ तत्त्व रहते हैं। मध्ययुग के काव्य रूपों के निर्माण की पीठिका में निम्नलिखित तत्त्व कार्यशील रहे हैं—(अ) परम्परा विहित प्रतिमान। (आ) संस्कृति दर्शन तथा धर्म का अचेतन प्रभाव। (इ) युगीन चेतना की मांग। (ई) विषय वस्तु (कथ्य) की अभिव्यक्ति के लिए समर्थतम शिल्प की आवश्यकता। (क) कवि का रुचि वैशिष्ट्य, व्यक्तित्व की ग्रहणशीला शक्ति।

मध्ययुग के सगुण और निर्गुण हिन्दी काव्य के विभिन्न रूपों के पीछे उपयुक्त तत्त्व बराबर कार्यशील रहे हैं। दोहा चौपाई में लिखे प्रबन्ध काव्य, दोहों में या सोरठों में लिखे मुक्तक काव्य, पदों में अभिव्यक्त गीत साहित्य, इन सब की पीठिका में परम्परा रही है। निर्गुण भक्ति धारा के कवियों के समक्ष सिद्धों और नाथों के स्थापित किए हुए मुक्तक के प्रतिमान थे। सूफ़ी प्रेमगाथाकारों के समक्ष मसनवी की शैली थी। रामभक्ति को लेकर प्रबन्ध काव्य व नाटक के रूप में वाल्मीकि रामायण और हनुमन्नाटक के आदर्श थे। कृष्णभक्ति के कीर्त्तन और पदों के मूल में आड़वार गायकों की, चण्डीदास जयदेव और विद्यापति की परम्परा थी। इस प्रकार इस तथ्य में कोई संदेह नहीं कि सगुण और निर्गुण दोनों भक्ति धाराओं के किसी भी कवि ने किसी नितान्त नई अभिव्यक्ति प्रणाली का सृजन नहीं किया। परम्परा विहित प्रतिमानों के अधार पर ही इन्होंने अपनी रचनाएं की।

जहां तक संस्कृति, धर्म और दर्शन का सम्बन्ध है, मध्ययुग में स्थिति बड़ी जटिल थी। भारतीय संस्कृति और इस्लाम संस्कृति के मिलन काल में यह स्वाभाविक था कि दोनों कवि ग्रहण करते। इस्लामी संस्कृति का जितना प्रभाव निर्गुण काव्य धारा पर था उतना सगुण धारा पर नहीं। निर्गुण धरा की सूफ़ी प्रेमाख्यानक शाखा तो इस्लाम धर्म और संस्कृति का ही हिन्दी रूपान्तर थी। संतों ने इस्लाम धर्म और संस्कृति की रूढ़ियों का खंडन किया था, ऐसा अवश्य था कि संतों की दृष्टि अपेक्षाकृत बहुत व्यापक थी, वे हिन्दू मुसलमान को समभाव से देखते थे, फलस्वरूप निरर्थक संकुचित वृत्ति को लेकर इस विरोधी धर्म और संस्कृति पर दृष्टिपात नहीं करते थे, वरन् विशुद्ध निष्पक्ष दृष्टि से इस्लाम धर्म की अच्छी बातों का समर्थन भी करते थे। सगुण धारा में इस्लामी प्रभाव नगण्य था। इसका कारण यही हो सकता है कि ईश्वर के सगुण अधिदैवत रूप को मानने के परिणामस्वरूप सगुण भक्तिधारा में किंचित् संकुचित प्रवृत्ति बनी रही। परन्तु निर्गुण भक्ति धारा में ज्ञान पर बल दिया गया। ज्ञान का जहां प्राधान्य होगा वहां चारों ओर व्याप्त उस एकमात्र सत्य पर ही बल दिया जायगा। एकमात्र व्याप्त सत्य पर जब बल दिया जायगा तब यह भी स्वाभाविक है कि विभिन्न संस्कृतियों का भेद विलीन हो जायगा। निर्गुण भक्ति काव्य में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का मिलन काव्य रूपों में लक्षित होता है। प्रेमगाथाकार कवियों ने विशेष रूप से दोनों संस्कृतियों को अपने काव्य रूपों में अभिव्यक्ति दी।

दर्शन के व्यावहारिक रूप को ही धर्म की संज्ञा दी जाती है। मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति काव्य मूल रूप से वेदान्त दर्शन से प्रभावित था। परन्तु वेदान्तिक दर्शन ने मध्ययुग में विभिन्न धर्मों का रूप ग्रहण कर लिया था। इन विभिन्न धार्मिक मान्यताओं का प्रभाव सगुण निर्गुण साहित्य के काव्य रूपों में दृष्टिगत होता है। राम के उपासकों में अन्य देवताओं के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए राम की कथा को कहने और सुनने में विश्वास रखने की प्रणाली थी। इस विश्वास को रामभक्तिधारा के कवियों ने उसी के अनुसार काव्य रूप दिया। प्रारम्भ में अन्य देवताओं की वन्दना करते हुए राम कथा की भव्यता के साथ वर्णन करने के लिए मुक्तक का सांचा नितान्त अनुपयुक्त था। फलस्वरूप रामभक्ति साहित्य के गेय पद साहित्य को भी प्रबंध रूप में लिखा गया। जहां प्रबन्ध काव्य का आश्रय नहीं लिया गया, वहां नाटक का रूप अपनाया गया है। यह भी रामभक्ति के धार्मिक रूप का सच्चा चित्र है। राम की कथा को ले कर रामलीला की प्रणाली का इसे साहित्यिक रूपान्तर कहा जा सकता है।

कृष्ण भक्ति धारा में जो यह पद लिखे गए उनका वास्तविक स्वरूप भक्तों के कंठ से उनके गेयत्व में निहित है। मीरा के पद उनके स्वयं गाए गए रूप में ही अधिक प्रसिद्ध है। जिस प्रकार राम के उपासक ग्रन्थ को पढ़ सुन कर अथवा राम की लीला को नेत्रों से देख कर आत्मविभोर हो उठते हैं उसी प्रकार कृष्ण भक्त एकतारा या तानपूरा, मंजीरे और करताल के साथ भजन गाकर अथवा कृष्ण का कीर्त्तन करके अपने हृद्गत उद्गारों को अभिव्यक्त करते हैं। धर्म के इस मूल रूप का ही कृष्णभक्ति धारा के रूप में साहित्यिक संस्करण हुआ है।

धार्मिक दृष्टिकोण से निर्गुण भक्तिसाधना की स्थिति भिन्न थी। निर्गुण ईश्वर को मानने-वाले संतों के पास ईश्वर की किसी अवतार को लेकर कहानी नहीं है, न ईश्वर के ऐसे गुणों को वे मानते हैं जिनका बारम्बार वर्णन कर सकें। उनके पास कथ्य विषय एक ही है कि 'वह' अलौकिक ही एकमात्र सत्य है। मनुष्य के अन्तर में तथा बहिर्भूत जगत में जो व्यापक है वही ईश्वर है, वही सत्य है, सत्पुरुष है। चाहे जिस नाम से उसे कहा जाय—राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, वास्तविकता यह है कि वह सत्य एक ही है। कोई भी नाम उसे यथार्थ रूप में अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। कारण यह है कि नाम रूपी शब्द अपनी अर्थ रूपी सीमाओं में बंधा है, किन्तु वह ईश्वर किसी सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जो सत्य चारों ओर व्याप्त है, जो गुणों के परे हैं, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, उसे किसी भी मूर्त्तिमान प्रतीक में मानना भूल है। निर्गुण भक्ति के इस धार्मिक रूप को स्वभावतः इसी के अनुकूल संतों के उपदेशों में वाणी मिली। कभी गाकर, कभी सीधे कह कर, कभी किसी उपमा द्वारा, कभी किसी रूपक द्वारा यह समझाने का प्रयत्न करना कि ईश्वर मात्र एक है, व्यापक है, सूक्ष्म है, अपने ही अन्दर स्थित है, बहिर्जगत् में उसकी खोज करना निरर्थक है।जो अपने अन्दर स्थित उस ईशवर के दर्शन कर लेता है वही इस सत्य को हृदयंगम कर सकता है कि ईश्वर घट घट में व्यापी है, जड़ में भी है, एवं चेतन में तो प्रत्यक्ष आभासित है। इस प्रकार की मान्यता को प्रबन्ध रूप देने का कोई प्रश्न नहीं उठता। जो तत्व अनुभति का विषय है उसे संतगण या तो अनुभव करके उसके आनन्द में केवल लीन रह सकते हैं, अथवा यदि जनसाधारण या अपने अनुयायी या शिष्यों के सामने अपनी अनुभूति के अभिव्यक्तीकरण का

प्रयत्न करते हैं तब स्वाभाविक रूप से वह अपनी अनुभूति को दूसरे के लिए अनुभवगम्य बनाने के लक्ष्य से किसी विशिष्ट उक्ति का प्रयोग करते हैं। उस उक्ति को अपूर्ण पाकर दूसरे ढंग से कहना चाहते हैं। अभिव्यक्ति के किसी भी प्रयास से संत अपने अनुभूत सत्य को प्रकट कर सकने में अपने को असमर्थ पाते हैं। कोई भी अभिव्यक्ति उनको संतोष नहीं दे पाती। कारण स्पष्ट रूप से एक ही है कि जो मात्र अनभूति का विषय है वह स्थूल शब्दों का विषय किस प्रकार हो सकता है। शरीर, मन और बुद्धि की पहुंच से परे जो केवल आत्मा के द्वारा द्रष्टव्य है वह शब्दों के घेरे में कैसे बंध सकता है? परिणाम स्वरूप संतों की वाणी मुक्तक रूप में, छोटे से छोटे छन्द दोहे से लेकर लम्बे लम्बे पदों में है।

काव्य रूप के निर्धारण में तीसरा क्रियमाण तत्त्व युगीन चेतना की मांग है। मध्ययुग में राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक तीनों क्षेत्रों में जटिल वैभिन्न्य के आविर्भाव ने साहित्य के क्षेत्र में समृद्धि लाने में सहायता दी। परन्तु कथ्य विषय की ओर से ध्यान हटा कर जब काव्य रूपों की दृष्टि से अध्ययन किया जाता है तब दृष्टिगोचर होता है कि युगीन चेतना की मांग यह थी कि साहित्य ऐसे रूपों में अभिव्यक्त हो जिनका जनसाधारण में विशेष रूप से प्रचार हो सके। अपढ़ व पिछड़ी जनता को जागृत करने के लिए यदि शिक्षा के माध्यम से जागरण का आन्दोलन किया जाता तब उसका इतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना इस भक्ति साहित्य का पड़ा। राजनीति का दण्ड विदेशी धनलोलुप स्वार्थी सत्ता के हाथ में होने के फलस्वरूप जनसाधारण को अपनी संस्कृति के ज्ञान का, अपने धर्म के पालन करने का, अशिक्षित स्थिति में अपने शास्त्रों के ज्ञान का कोई अवसर न था। विपन्नता के कारण अपनी स्थिति को सोचने समझने के लिए भी समयाभाव था। ऐसे युग में चेतना का बीज शीघ्र फलवान हो सके इसके लिए ऐसे काव्य रूपों की नितान्त आवश्यकता थी। जिनके माध्यम से थकी, विक्षिप्त एवं अज्ञान भारतीय जनता को अपनी स्थिति का, अपने गौरव का, अपने आत्माभिमान का ज्ञान हो सके। तथा इन सब के अनन्तर इस तथ्य का ज्ञान हो सके कि ईश्वर की सत्ता ही एकमात्र सत्ता है, उसके राज्य में भेद भाव नहीं। उसके ऊपर विश्वास करने वाले के लिए सब जीव एक समान है। इन सब बातों का ज्ञान जनता को कराने के लिए आवश्यकता इस बात की थी कि जो तत्त्व सर्वयुगीन है, सर्वव्यापी है, कालापेक्षित नहीं हैं, वे इस ढंग से जनता के सामने रखे जाएं कि वह सरलता से उन्हें ग्रहण कर सके। भक्ति साहित्य में प्रयुक्त समस्त काव्य रूपों में इस बात का स्पष्ट रूप से प्रयास किया गया है।

चौथा कार्यशील तत्व है विषय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए समर्थतम शिल्प की आवश्यकता। सगण निर्गुण धाराओं का काव्य विषय एक होते हुए भी भिन्न था। जिस प्रकार परमात्मा एक होते हुए भी नाना जीवों में स्थित अनेक प्रकार का भासमान होता है उसी प्रकार अन्ततः कथ्य विषय के एक होने पर भी निर्गुण धारा के कवियों को बहुत कुछ ऐसा कहना था जिसे सगुण धारा के कवियों ने नहीं कहा। इसी प्रकार सगुण भक्ति धारा की लीलाओं का निर्गुण भक्ति धारा में कोई स्थान नहीं था। राम की कथा इतनी समृद्ध थी कि प्रबंध काव्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी छोटे कलेवर में उसको सीमित करना असंभव था। इसी प्रकार कृष्ण की रसिक रासलीला और उनके मनोहारी बाल्य सौंदर्य के वैभव को अभिव्यक्तीकरण देने के हेतु गीति काव्य की शैली को

अपनाना नितान्त न्यायसंगत था। संतों के अनुभूतिगत सत्य के लिए प्रबंध का क्षेत्र पूर्णरूप से अनुपयुक्त था। सन्त काव्य की विषय वस्तु व अभिव्यक्ति प्रणाली के सम्बन्ध में डा० दीनदयाल गुप्त ने लिखा है कि "सन्त काव्य के विषय, वैराग्य, संसार की असारता, गुरुमहिमा, नाममहिमा, मानसिक परिष्कार के उपाय, उदाचार, मन के प्रति प्रबोध, ज्ञान और योग की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ, इन रहस्यात्मक अनुभूतियों का रतिभाव की अन्योक्तियों में व्यक्तीकरण आदि है। इस काव्य का मुख्य रस शान्त है। यह मुक्तक शैली और छन्द तथा पद, दोनों साहित्यिक रूपों में लिखा गया है।"[1] इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं कि यह दोनों काव्यरूप 'छन्द तथा पद' विषयानुकूलता की दृष्टि से बड़े उपयुक्त सिद्ध हुए हैं।

किसी भी विशिष्ट काव्य रूप को अपनाने के लिए उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त जो बात सबसे महत्त्वपूर्ण है वह है कवि का रुचि वैशिष्ट्य। अपने व्यक्तित्व की ग्रहणशीला शक्ति के अनुसार ही कवि काव्यरूप का चयन करता है। ऐसे प्रतिभाशाली कवि भी मध्ययुग में हुए जिन्होंने अनेक प्रकार के काव्य-रूपों में अपने कथ्य विषय को समान योग्यता के साथ व्यक्त किया। तुलसीदास इसका समर्थ उदाहरण है। फिर भी यह बराबर देखने में आता है कि किसी व्यक्ति की अनेक प्रकार की रचनाओं में कोई विशेष ही अधिक सफल होती हैं। ऐसी रचना का काव्य रूप की दृष्टि से कवि की रुचि व उसके कथ्य विषय से सामंजस्य रहता है। कबीर, दादू, दरिया, धरनीदास आदि कवियों के व्यक्तित्व के यह नितान्त विपरीत था कि वे सुचारु रूप से शास्त्रीय नियमों के अनुसार काव्य की रचना करते। उदाहरणस्वरूप सुन्दरदास को लिया जा सकता है। सुन्दरदास एक ऐसे निर्गुणिया संत थे जिन्होंने शास्त्रीय शैलियों को स्वीकार करके अपनी रचनाएं कीं। परन्तु प्रत्यक्ष है कि कथ्य विषय के तीखेपन के साथ शास्त्रीय शैलियों का सामंजस्य नहीं हो सका। फलस्वरूप काव्य की दष्टि से सुंदरदास की रचनाएं व्यवस्थित भले ही हों किन्तु उनमें मर्म को स्पर्श करने की वैसी शक्ति नहीं है जैसी कबीर आदि अन्य कवियों की रचनाओं में है।

(ग) मध्ययुगीन काव्य रूपों में अनेक रूपता का अभाव और उसके कारण

एक विशेष बात जो मध्ययगीन साहित्य में विशेष रूप से लक्षित होती है वह यह कि इतने विपुल साहित्य में काव्य रूपों में जितनी अनेकरूपता हो सकती थी उतनी नहीं है। इस तथ्य के निम्नलिखित कारण हैं:—

अ. हिन्दी की अभिव्यक्ति शक्ति सीमित थी। आ. परम्परा से कुछ सीमित काव्य रूपों का ही प्रचार था। इ. उत्कृष्ट मौलिक प्रतिभा एवं उद्भावना शक्ति के अभाव के परिणामस्वरूप कवि की ग्रहणशीला प्रवत्ति परम्परा विहित काव्य रूपों तक ही सीमित थी। ई. कथ्य में एकरसता के कारण काव्य रूपों में भी एकस्वरता और एकरूपता का प्रादुर्भाव हो गया।

उपर्युक्त कारणों में से अन्तिम कारण विशेष महत्त्वपूर्ण है। भक्ति साहित्य का कथ्य विषय रूप से एक ही था, सर्वव्यापी ईश्वर को भक्ति के माध्यम से ही अनुभवगम्य बनाया जा

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, दीनदयाल गुप्त, भाग १, पृ० १८।

सकता है। किसी भी भक्त कवि को महान् साहित्यकार बनने की लालसा नहीं थी। काव्य रचने का उद्देश्य अप्रधान होने के फलस्वरूप किसी भी मध्ययुगीन भक्त कवि ने काव्य रूपों के क्षेत्र में नए प्रयोग नहीं किए। रामभक्ति को लेकर रामायण लिखी गई थी। इसी परम्परा को स्वीकार कर के तुलसीदास ने रामचरितमानस लिखी। कृष्ण भक्ति को लेकर आलवारों में भजन गाने की प्रथा थी, इसी परम्परा को ग्रहण करते हुए कृष्ण भक्तों ने पदों में लीलागान किया। पूर्व भारत की, जयदेव चण्डीदास विद्यापति की परम्परा से भी कृष्ण भक्ति के क्षेत्र को भजन और कीर्तन की प्रणाली ही मिली। गोरख, कण्हपा आदि नाथों और सिद्धों ने वाणी और साखी के माध्यम से अपने अनुयायियों को उपदेश दिया था, इसी परम्परा को स्वीकार करते हुए निर्गुणमार्गी संतों ने भी दोहों या साखियों और पदों के रूप में अपने अनुभूतिगत सत्य को बारम्बार आकार देने का प्रयास किया।

मध्ययुगीन भक्ति साहित्य के कथ्य विषय के अन्तर्गत एक ही रस था, भक्ति रस। आरम्भ से अन्त तक समस्त सगुण और निर्गुण साहित्य में यही भक्ति रस विद्यमान है। इस भक्ति रस के पवित्र जल पर नीला, पीला, हरा प्रकाश, अध्यात्म भाव, शान्त भाव एवं श्रृंगार भाव का अवश्य ऊर्म्मित है। यही कारण है कि समस्त भक्ति साहित्य अन्ततः गेय हो गया है। रामचरित-मानस दोहा चौपाई में होते हुए भी गेय है। कबीरदास आदि निर्गुणिया संतों के पद निश्चित रूप से गेय हैं, जिनका नाम ही 'निर्गुन' पड़ गया है। यथा 'एक निर्गुन सुनाओ' से अर्थ यही ग्रहण किया जाता है कि निर्गुण भक्ति सम्बन्धी पद सुनाओ। इस परम्परा के दोहे व सोरठें भी भक्ति भाव से पढ़ने वालों के लिये गेय है। इसी प्रकार कृष्ण भक्ति साहित्य में प्रत्येक छन्द का इस प्रकार से प्रयोग ही किया गया है कि वह गेय बन जाय। दोहा जैसे छोटे छन्द में कुछ मात्राओं के दो तीन शब्द जोड़ कर छन्दों को गेय बना देने की प्रवत्ति बराबर कृष्ण भक्ति साहित्य में मिलती है।

भेद उपस्थित होता है प्रेमगाथाओं के सम्बन्ध में। इन ग्रन्थों को गेय नहीं कहा जा सकता। मूल अन्तर सांस्कृतिक दृष्टिकोण के कारण उपस्थित हो गया है। इस्लाम भाव से लिखने वाले मुसलमान प्रेमाख्यानककारों की रचनाओं में वैसा भक्तिरस का प्रवाह नहीं मिलता जैसा कृष्ण भक्ति, रामभक्ति व रामभक्ति की शाखाओं में उपलब्ध होता है।

(घ) भाषा सम्बन्धी विशेषताओं का काव्य रूपों के निर्माण में योग

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त सीमित काव्य रूपों के मूल में भाषा भी एक बड़ा कारण है। ब्रजभाषा में लिखा गया पद साहित्य जितना सफल है उतना मक्तक साहित्य नहीं। इसी प्रकार अवधी में लिखा दोहा चौपाई बद्ध प्रबन्धकाव्य रूप जितना खिल उठा है,उतना अवधी में लिखा पद साहित्य नहीं।

निर्गुण धारा की ज्ञानमार्गी शाखा के संतों के काव्य में काव्य रूप का कोई निश्चित ढांचा नहीं है। मुक्तक काव्य के अन्तर्गत लिखा गया यह साहित्य मुक्तक की परम्परा के ढंग पर भी किसी विशेष प्रणाली को लेकर नहीं लिखा गया है। कहीं दोहे, कहीं पद, कहीं अन्य अनेक छन्दों का समावेश इनकी रचनाओं में है। वास्तविकता यह है कि जिस प्रकार संतों की काव्यभाषा का

कोई निश्चित रूप नहीं था,[1] उसी प्रकार उनके काव्य रूपों का भी कोई निश्चित रूप नहीं था। मिश्रित व अनिश्चित भाषा के साथ मुक्तक शली में छन्द और पद यही दो विशेष साहित्यिक रूप सन्तों की रचनाओं में हैं। यह दोनों ही रूप संतों की भाषा के अनुकूल संमिश्रित रूप में ही हैं।

अवधी भाषा के काव्य में दोहा चौपाई की शैली विशेष रूप से स्वीकृत हुई। कवित्त, सवये जैसे छन्द में तुलसीदास ने ब्रज भाषा को ग्रहण कर के कवितावली की रचना की। इसी प्रकार पदों में रचना अवधी के अनुकूल न थी। अतः 'विनयपत्रिका' में तुलसीदास ने ब्रजभाषा को माध्यम बनाया।

पूर्वी हिन्दी में दोहे-चौपाइयों में ग्रन्थ, मुसलमान कवियों द्वारा प्रारम्भ में लिखे गए। पश्चिमी हिन्दी में दोहे-चौपाई का प्रयोग उपयुक्त नहीं समझा गया।[2]

कृष्ण भक्ति काव्य में ब्रजभाषा के माध्यम से भक्तों के हृदयोद्‌गार पदों के विभिन्न प्रकार के सांचों में बड़ी सुन्दरता से ढले हैं। परन्तु जहां चौपाई आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं वहां शैली में शिथिलता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

(ङ) प्रबन्ध काव्य

सगुण व निर्गुण दोनों धाराओं में प्रबन्ध काव्य को अपनाया गया। सगुण धारा की राम-भक्ति शाखा में इसका चरम विकास हुआ। निर्गुण भक्ति धारा की प्रेमभक्ति शाखा में इसे बहुलता से स्वीकार किया गया। भक्तिकाव्य में प्रबन्ध काव्य के दोनों रूप-महाकाव्य और खण्ड-काव्य के रूप में साहित्य का सृजन हुआ। महाकाव्य के उदाहरण पद्मावत और रामचरितमानस जैसे अमर ग्रन्थ हैं। खंडकाव्य के उदाहरण में अखरावट, मधुमालती और भंवरगीत तथा रासग पंचाध्यायी आदि ग्रन्थ विशेष रूप से रंगमंच पर दृष्टिगोचर होते हैं। महाकाव्य के क्षेत्र में शिल्पगत स्वरूप की दृष्टि से दोहा चौपाई की ही एकछत्रता मिलती है। दोहा चौपाई के ही शिल्प में महाकाव्य का प्रासाद क्यों खड़ा किया गया, इसके दो कारण थेः—

अ. परम्परा विहित शैली।

आ. विषय का आधार फलक विस्तृत होने के कारण उसके उपयुक्त शिल्प का ग्रहण।

---

१. "सन्त साहित्य की भाषा का रूप एक अनिश्चित तथा मिश्रित भाषा का रूप था। इसमें पूर्वी, अवधी, भोजपुरी, खड़ी बोली, ब्रजभाषा और पंजाबी का मिश्रण मिलता है।"
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय डा० दीनदयाल गुप्त, भाग १, पृ० १८।

२. "दोहा चौपाई की सृष्टि महाकवि चन्द के समय में या उससे पहिले ही हो चुकी थी। दोहा और चौपाई के रासो के अन्य ग्रंथों में भी यथास्थान इतस्ततः लिखने की प्रथा देखी जाती है, पर पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व का एक भी ग्रन्थ ऐसा नहीं मिलता जो विशुद्ध दोहे और चौपाई में हो। इससे अनुमान होता है दोहा और चौपाई का छन्द पश्चिमीय कवियों और पश्चिमी हिन्दी के लिए उपयुक्त न था।"
चित्रावली, भूमिका, जगन्मोहन वर्मा, पृ० २।

(अ) परम्परा विहित शैली

दोहा चौपाई का प्रयोग हिन्दी साहित्य के आदिकाल से महाकाव्य के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। चन्दबरदाई के रासों में दोहे और चौपाई भी हैं। चन्द बरदाई ने चौपाई को 'विअक्खरी' कहा है। उदाहरण स्वरूप—

चरित लक्ख साहाब पर, गए पास सुरतान।
सजी सेन सामंतपति, आयो योजन थान॥
सुनि चरित्त साहाब तास पर, बोलि मीर उमराव महाभर।
दिय निरघात घाव नीसानं, चल्यो सेन सज्जै सब्बान॥
वाजित्र वीर अनेक सुबज्जे, घर पडिहाय सु गोमह गज्जे।
उग्यो सूर चढ्यो सुरतानं, बज्जि निहाब नाल गिरि बानं।

इसी प्रकार दोहा चौपाई का प्रयोग अन्य रासो ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। अतः कहा जा सकता है कि दोहा चौपाई की सृष्टि चन्द के समय में ही अथवा उससे भी पूर्व हो चुकी थी।[१] प्रबन्ध काव्य की रचना में दोहा चौपाई प्रारम्भ से ही प्रयुक्त होते रहे हैं। परन्तु यह सत्य है कि पन्द्रहवीं शताब्दी से पूर्व एक भी ग्रन्थ विशुद्ध दोहा चौपाई में नहीं लिखा गया।

पूर्वी हिन्दी में सर्वप्रथम दोहे चौपाई की भांति का प्रयोग मीर खुसरो के काव्य में उपलब्ध होता है—

गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डालै केस।
चल खसरो घर आपने, सांझ भई चहुं देस॥
मोर परोसिन कूटै धान, ओखरि सबद परा मोरै कान।
अ...मोहि ऐसन हरी। मोरे हाथन छाला परी।
दही परोसन गैहौ भोर। अंगुरिन गही दही कै कोर।
ए सखी मैं ऐसी मरी। दिन दस रही पीर से परी।

मुसलमान कवियों ने सर्वप्रथम दोहा चौपाई में प्रबन्ध रचना की स्थापना की। जायसी ने अपने ग्रन्थ में पद्मावत से पूर्व के लिखे मिरगावति, मधमालती आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनमें से जो भी उपलब्ध हुए हैं वे दोहा चौपाई शैली में लिखे प्रबन्ध बद्ध काव्य हैं।

(आ) विषय का आधार फलक विस्तृत

प्रबंध का शिल्प रामभक्ति शाखा और प्रेमभक्ति शाखा में ही सांगोपांग रूप में स्वीकार किया गया। कारण स्पष्ट रूप से यह था कि उपर्युक्त उल्लिखित इन दोनों शाखाओं के कवियों ने अपने कथ्य विषय का आधार फलक विस्तृत देख कर उपयुक्त शिल्प को ग्रहण किया। प्रेमभक्ति

---

१. चित्रावली, भूमिका, जगन्मोहन वर्मा, पृ० २।

शाखा के कवियों को अपने नायक व नायिका की प्रेमकथा उनके परिवार, राजपाट, गरु, सखियां, आनन्द, उपभोग, कठिनाइयां, युद्ध आदि के साथ सांगोपांग ढंग से कहनी थीं। अतः प्रबन्ध का शिल्प इन प्रेम कथाओं के लिए उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

इसी प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्र के समान पुरुषोत्तम पात्र के चरित्र के अंकन के लिए विशाल आधार फलक की नितान्त आवश्यकता थी। एक तो राम की कथा महान्, दूसरे उसको और अधिक महिमामयी बनाने के लिए रामभक्ति साहित्य में विस्तृत वर्णनों तथा प्रसंगेतर कथाओं का आश्रय लिया गया है। इस प्रकार राम कथा के साथ अवान्तर कथाएं बड़े कौशल के साथ पिरोई गई हैं। इस प्रकार इस वर्णन बहुला रामकथा के लिए दोहा चौपाई से उपयुक्त अन्य कोई शिल्प नहीं था। प्रबन्ध के क्षेत्र में दोहा चौपाई से अधिक अन्य कोई शिल्प उपयुक्त नहीं सिद्ध हुआ।

एक सजग पाठक के सम्मुख यह तथ्य स्पष्ट है कि सूरसागर के पद शिल्प में लम्बे वर्णनों का समावेश एकाएक रसाभाव का कारण बन जाता है। दोहा चौपाई के शिल्प में यही विशेषता है कि वर्णनों की एकरसता उसमें कुछ इस ढंग से घुलमिल जाती है कि असामंजस्य का आभास तक नहीं होता। पाठक वर्णनात्मक स्थलों को प्रेमपूर्वक पढ़ता जाता है, वे वर्णनात्मक स्थल क्रमशः भावपूर्ण स्थलों में परिवर्तित हो जाते हैं, पाठक स्वतः भावविभोर हो गद्गद् हो जाता है, उसके भावों के क्रम में निरोध नहीं आता। स्वतः क्रमिक रूप से उसके भाव वर्णित विषय के अनुसार परिवर्तित होते जाते हैं। इसका कारण यही दृष्टिगोचर होता है कि दोहा चौपाई का शिल्प जब सफल रूप से भक्त कवियों ने अपनाया है तब उसमें एक सहज स्वाभाविक गति है, इस गति में चरम आवेग के बाद एकाएक झटके से रुकावट नहीं है। सर्वत्र एक सहज रस है, इसे कथा रस कह सकते हैं।इस कथा रस में कहीं कहीं अर्द्ध विराम अवश्य लगा है। कथा के अनायास प्रवाह में अचानक किसी रत्न की चमक के सदृश सिद्धान्त वाक्य भक्त पाठक के हृदय को अधिक श्रद्धा-न्वित कर जाते हैं, दार्शनिक अध्येता को विचारों के गहरे आवर्त्त में उलझा देते हैं, परन्तु कथा प्रेमी के सम्मुख यह रसाभास के कारण बन जाते हैं।

मुक्तक काव्य और प्रबन्ध काव्य, दोनों के अंतर्गत आने वाला विशेष ग्रन्थ है। सूरसागर के अनोखे परिवेश में मुक्तक काव्य व प्रबन्ध काव्य दोनों के तत्वों का समावेश है। सूरसागर का प्रत्येक पद एक मुक्तक पद है। उसको समझने के लिए उसमें भावविभोर हो जाने के लिए किसी पूर्वापर पद की आवश्यकता नहीं। परन्तु दूसरी ओर जब सूरसागर का सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाता है तब स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि जितने भी प्रसंग सूरसागर में आए हैं उनमें पूर्वापर क्रम निश्चित रूप से हैं। आरम्भ में भक्त अपनी विनय भावना ईश्वर के समक्ष प्रस्तुत करता है। तत्पश्चात् ईश्वर की अनुकम्पा का सौभाग्य पात्र होने के अनन्तर कृष्ण जन्म से कथा आरंभ करता है। कृष्ण की बचपन की किलकारियों भरी लीला में रचयिता एक बार खो जाता है, उसे पता ही नहीं चलता कि कितनी बार वह अपने आराध्य की एक एक क्रीड़ा के एक एक भाव में डूब जाता है, बारम्बार उसे अभिव्यक्त करते हुए कवि के नित नवीन आनन्द का अन्त नहीं। यवावस्था के मनोरम रूप सौन्दर्य एवं भावविभोर कर देने वाली लीलाएं फिर उसे

अपने अन्दर समाविष्ट कर लेती है। वह इस अलौकिक रस सागर की गहराइयों में खोया हुआ कुशल साधक, अनगिनत भाव रूपी मुक्ताओं की आभा से पाठकों की दृष्टि सार्थक करता है।

(च) मुक्तक काव्य

मुक्तक शैली अपने विशुद्ध रूप में निर्गुण धारा के ज्ञानभक्ति शाखा के संतों द्वारा ग्रहण की गई। इस शैली को कृष्णभक्ति शाखा के सगणोपासकों ने भी स्वीकार किया। कृष्णभक्ति काव्य में यद्यपि मक्तक का रूप है, फिर भी कृष्ण के जीवन की लीला अपने विविध रूप में भक्तों के समक्ष थीं। अतः मुक्तक के कलेवर में ही छोटे छोटे प्रसंगों का बराबर अवतरण है।

मुक्तक काव्य रूप को सम्पूर्ण भक्तियुगीन साहित्य में विशेष रूप से अपनाया गया है। किसी विशिष्ट विषय को चन कर उस पर कुछ छन्द लिखे गए हैं, उस विषय पर कुछ दोहे, कुछ सोरठे या कवित्त अथवा सवैये अथवा कुंडलिया लिखने के अनन्तर विषय परिवर्तित कर दिया गया है। कहीं कहीं विषय परिवर्तन के साथ ही छन्द भी परिवर्तित कर दिया गया है। उदाहरण स्वरूप कबीर के गरु सम्बन्धी, विरह सम्बन्धी, प्रेम सम्बन्धी, ज्ञान सम्बन्धी आदि दोहे लिए जा सकते हैं। विशिष्ट विषय के अंतर्गत लिखे जाने वाले सभी दोहों का भाव एक ही है।[१] परन्तु

---

१. संतों के साखी संग्रह विविध अंगों मे विभाजित पाए जाते जिनके नाम अधिकतर 'गुरुदेव वो अंग' 'सुमिरण को अंग', 'परचा को अंग', 'विरह को अंग', 'सूरातन को अंग', 'आदि रूपों में दीख पड़ते हैं। 'अंग' शब्द का अर्थ साधारणतः शरीर अथवा उसका कोई न कोई भाग समझा जाता है, जिस कारण उक्त प्रत्येक अंग को हम साखी व साक्षी पुरुष की देह अथवा उसके अवयव विशेष का बोधक साक्षी मान सकते हैं। इस प्रकार अंग शब्द से अभिप्राय यहां पर साखी संग्रह के किसी खंड से होगा। परन्तु कबीर साहब ने इस शब्द का प्रयोग एक स्थल पर 'लक्षण' के अर्थ में किया है।

(निर वैरी निहकामता, साईसेती नेह।
विषिया सू न्यारा रहै, संतनि का अंग एह॥१॥
—'कबीर ग्रंथावली', पृ० ५०।

जिससे सूचित होता है कि साखियों के रचयिताओं ने उक्त शीर्षकों द्वारा कतिपय विषयों का परिचय देने का प्रयत्न किया होगा। इस कथन के लिए अभी तक कोई भी आधार उपलब्ध नहीं कि कबीर साहब की साखियां आरंभ से ही इस प्रकार विभाजित थीं। इस बात के कुछ उल्लेख अवश्य मिलते है कि दादूदयाल की साखियों में पहले इस प्रकार का क्रम नहीं लगा था। उन्हें सर्वप्रथम ऐसे अंगों में विभाजित करने वाले उनके शिष्य रज्जब जी थे। रज्जब जी ने न केवल उनकी साखियों को ही इस प्रकार क्रमबद्ध किया, अपितु उन्होंने उनके पदों के भी भिन्न भिन्न शीर्षक लगा दिए और उनकी सारी रचनाओं के संग्रह को 'अंगबधू' के नाम से तैयार कर दिया। अंगों की चर्चा आदिग्रन्थ में भी नहीं है। दादूदयाल की साखियां केवल ३७ अंगों में ही विभाजित

साथ ही प्रत्येक दोहा स्वतन्त्र रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है। भाव की पूर्णता के दष्टिकोण से कोई भी दोहा अधूरा नहीं है।

प्रबन्ध और मुक्तक काव्य रूपों के अन्तर्गत छन्द प्रयोग

दोहा-चौपाई

दोहा चौपाई का प्रयोग ज्ञानभक्ति, प्रेमभक्ति, रामभक्ति एवं कृष्णभक्ति चारों शाखाओं में किया गया है। परन्तु चारों शाखाओं में इस शैली का प्रयोग भिन्न रूप में है।

ज्ञानभक्ति शाखा :

ज्ञानभक्ति शाखा में कबीरदास की रमैणी के अन्तर्गत चौपाई दोहे का प्रयोग है। चौपाई की मात्राओं में घटाने बढ़ाने की प्रवत्ति नहीं है, परन्तु दोहे में अक्सर मात्राएँ, विशेषकर द्वितीय पंक्ति में, बढ़ गई हैं। थोड़ा सा ध्यान रखने पर दोहे मात्रा की दृष्टि से सटीक हो सकते थे परन्तु इसका प्रयत्न नहीं है—

करि बिसतार जग धंधै लाया, अंध काया थे पुरिष उपाया।
जिहि जैसी मनसा तिहि तैसा भावा, ताकूं तैसा कीन्ह उपावा ।।
तेतौ माया मोह भुलाना, खसम राम सो किनहूं न जाना।
जिनि जांन्या ते निरमल अंगा, नहीं जांन्यां ते भये भुजंगा।
ता मुखि बिष आवै बिष जाई, ते बिष ही बिष मैं रहै समाई।
माता जगत भूतसुधि नांही, भ्रमि भूले नर आवैं जाहीं।
जानि बूझि चेतै नहीं अंधा, करम जठर करम के कंधा।
करम का बाध्या जीयरा, अह निसि आवै जाइ।
मनसा देही पाइ करि, हरि बिसरै तो फिर पीछे पछिताई।

उपर्युक्त उद्धरण में कई स्थलों पर अकारण मात्राएँ बढ़ गई हैं। दोहे में 'फिर पीछे, को हटा देने से अर्थ में कोई भिन्नता भी नहीं उपस्थित होती। परन्तु इस प्रकार सम्भव है संतों ने साहित्य शास्त्र का खंडन करने में भी एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव किया हो। मात्राओं की सीमा में अपनी अभिव्यक्ति को ज्ञानाश्रयी शाखा के संत नहीं बाँध सके हैं।

संत कमाल का लिखा 'कमाल बोध' चौपाई दोहा छन्द में है। दोहा को कहीं-कहीं साखी

है जहाँ रज्जब जी की साखियों के १९२ अंग दीख पड़ते हैं। पीछे के संतों के सवैये, झूलने अरिल्ल एवं अन्य कई रचनाएँ भी अंगों में विभाजित पाई जाती हैं।"

—सन्त काव्य, भूमिका, पृ० ३७, ३८।

१. कबीर ग्रन्थावली, रमैणी, पृ० २२७, २२८।

और दोहरा भी कह दिया गया है। संत गरीबदास की रमैनी चौपाई छंद में है।[1] संत दरियादास (बिहार वाले) के भी चौपाई के उदाहरण मिलते हैं।[2]

ज्ञानभक्ति शाखा में चौपाई दोहे का कोई निश्चित क्रम नहीं है। अनेक चौपाइयों के बाद भी दोहा आ गया है। और कहीं दो या तीन चौपाई की पंक्तियों के बाद भी अनेक दोहे आ गए हैं।

प्रेम भक्ति शाखा

प्रेमाख्यानक काव्य मधुमालती, मिरगावती, चित्रावती, पद्मावली में चौपाई दोहे में ही रचना है। चौपाई को चार चरणों का न मानकर सम्भवतः दो ही चरणों का मान लिया गया है। फलस्वरूप मधमालती में पाँच पाँच चौपाइयों के अनन्तर एवं पद्मावत में सात सात चौपाइयों के अनन्तर दोहा है। चित्रावली में सात चौपाई के बाद दोहा है। चौपाई को चार चरणों की न मानकर दो चरणों की मान लेने के अतिरिक्त अन्य मात्रा सम्बन्धी दोष प्रेमाख्यानक काव्यों में लगभग नहीं हैं।

रामभक्ति शाखा

तुलसीदास का रामचरित मानस दोहा चौपाई की शैली में लिखा गया। इस शैली का यह आदर्श ग्रन्थ माना जा सकता है। दोहा चौपाई के साथ प्रत्येक सोपान के मंगलाचरण में संस्कृत के लोक एवं बीच-बीच में दोहे के साथ सोरठे भी सम्मिलित हैं। कहीं कहीं अन्य छंदों का भी उपयोग हुआ है। इतर छंदों के प्रयोग ने भावानकल गति परिवर्तन में सहायता दी है।

कृष्णभक्ति शाखा

कृष्णभक्ति शाखा के साहित्य को मुख्य रूप से पदों में ही रचना हुआ समझा जाता है। परन्तु अन्य अनेक छन्द इस शाखा के साहित्य में मिलते हैं। दोहा चौपाई का प्रयोग इस शाखा के पकवियों ने वर्णनात्मक स्थलों के लिए स्वीकार किया है। सूरसागर के दशम स्कंध में 'दूसरी चीर-हरन लीला' शुद्ध चौपाइयों में वर्णित है।[3] बीच बीच में दोहे नहीं रखे गए हैं। इसके अतिरिक्त 'यज्ञ पत्नी लीला'[4] तथा 'यमलार्जुन उद्धार की दूसरी लीला'[5] भी चौपाइयों में लिखी गई है। प्रारम्भिक स्कंधों में चौपाई का प्रयोग सूरदास ने यत्र तत्र किया है। परन्तु वह दोहा चौपाई की शैली में न होकर, चौपाई, चौबोला, चौपाई की शैली में है।

---

१. संत काव्य, संत गरीबदास, पृ० ४५९।
२. संतकाव्य, पृ० ४६९।
३. सूरसागर, पहला खंड, दशम स्कंध, पृ० ५३४-५३८।
४. सूरसागर, पहला खंड, दशमस्कंध, पृ० ५३८-५३९।
५. सूरसागर, पहला खंड, दशम स्कंध, पृ० ३९०-३९३।

इस शाखा में ध्रुवदास ने दोहा चौपाई को अपनी कुछ लीलाओं में स्वीकार किया है। मुक्तावली लीला'[१] 'हीरावली लीला'[२] 'रहस्यमंजरी लीला',[३] 'रतिमंजरी लीला'[४] एवं 'नेह मंजरी 'लीला'[५] दोहा चौपाई की शैली में लिखी गई हैं।

सूरदास ने क्योंकि दोहा बीच में नहीं रखा है अतः चौपाइयों की पंक्तियों के संबंध में सम अथवा रूढ़ संख्या का भेद नहीं उत्पन्न होता। परन्तु ध्रुवदास की रचित लीलाओं में ११, ९, ५ ३, २, ४ आदि सम[६] तथा रूढ़ दोनों प्रकार की पंक्ति संख्या उपलब्ध होती है। पूरी 'मुक्तावली लीला' के बीच में एक सवैया रखा गया है।[७] 'हीरावली लीला' में सवैये का प्रचुर प्रयोग किया गया है। 'रहस्यमंजरी लीला' और 'रतिमंजरी लीला' विशुद्ध दोहा चौपाई में लिखी गई हैं।[८] 'नेह मंजरी लीला' में दोहा चौपाई के साथ सोरठे का प्रयोग किया गया है।[९]

श्री चतुर्भुजदास (राधावल्लभी) ने अपनी कुछ रचनाएँ चौपाई छंद में की हैं। 'शिक्षा सकल समाज यश',[१०] 'हितोपदेश यश',[११] 'शिक्षा सार यश',[१२] एवं 'अनस्य भजन यश',[१३] इसी शैली में लिखे गए हैं। दोहे नहीं रखे हैं।

नंददास ने अपना ग्रन्थ 'दशम स्कंध' दोहा चौपाई शैली में लिखा है। सूरदास की भांति चौपाई की पंक्तियां विशुद्ध नहीं हैं। चौपाई का मेल प्रचुर है।

निष्कर्ष

ज्ञानभक्ति शाखा में दोहा चौपाई का सर्वप्रथम प्रयोग हुआ। संतों ने जिन रचनाओं को दोहा चौपाई में लिखा वे वर्णनात्मक हैं। "संतों ने इसका प्रयोग या तो सृष्टि रचना संबंधी वर्णनों में किया है अथवा आगे चलकर अपनी पौराणिक रचनाओं एवं प्रेम गाथाओं में दिखलाया

---

१. ब्यालीस लीला, पृ० १४७-१५८।
२. ब्यालीस लीला, पृ० १५८-१६७।
३. ब्यालीस लीला, पृ० १८४-१८९।
४. ब्यालीस लीला, प० १९२-१९६।
५. ब्यालीस लीला, पृ० १९६-२०४।
६. ब्यालीस लीला, मुक्तावली लीला, पृ० १४९-१५०।
७. ,, ,, वही, पृ० १४७, १४८, १५१।
८. ,, ,, वही, पृ० १५४।
९. नेह मंजरी लीला, पृ० २००, २०४।
१०. द्वादश यश, शिक्षा सकल समाज यश, पृ० १-६।
११. वही, हितोपदेश यश, पृ० २४-२८।
१२. वही, शिक्षा सार यश पृ० २०-२४।
१३. वही, अनन्य भजन यश, पृ० ३४-३७।

है।"[१] दोहा चौपाई की किंचित् भिन्न रूप में परम्परा अपभ्रंश प्राकृत काव्यों में मिलती हैं।[२] कबीरदास के ग्रंथ 'ग्रंथ बावनी' में भी यही शैली अपनाई गई है। संत कमाल के 'कमालबोध' को भी इसी शैली का उदाहरण कहा जा सकता है। प्रेमभक्ति शाखा का अधिकांश साहित्य इसी शैली में लिखा गया है। रामाश्रयी शाखा के सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामचरितमानस' में यह शैली अपने आदर्श रूप में स्थित है। कृष्णभक्ति शाखा में ध्रुवदास, नंददास, और चतुर्भुजदास की कुछ रचनाओं में दोहा चौपाई, व केवल चौपाई शैली स्वीकृत की गई है।

ज्ञान भक्ति शाखा में दोहा चौपाई के मात्रा बन्धन का उल्लंघन निस्संकोच किया गया है। प्रेमभक्ति शाखा के साहित्य में मात्राएँ ठीक रखने का प्रयास है। रामभक्ति शाखा के साहित्य में भी दोहा चौपाई की मात्राओं का ध्यान रखा गया है। कृष्णभक्ति शाखा के साहित्य के अन्तर्गत भी मात्राओं का बंधन स्वीकार किया गया है।

ज्ञानभक्ति शाखा में चौपाइयों की पंक्ति-संख्या के विषय में कोई भी निश्चित क्रम नहीं है। प्रेमभक्ति शाखा में भिन्न ग्रन्थों में भिन्न क्रम है। किसी में ५ अर्द्धालियों के पश्चात् एवं किसी ग्रंथ में ७ अर्द्धालियों के अनन्तर दोहे का क्रम है। यह अवश्य है कि जो क्रम ग्रन्थ के आरम्भ में स्वीकार कर लिया गया है वह अन्त तक निभाया गया है। रामभक्ति शाखा में साधारण रूप से आठ अर्द्धालियों के बाद अर्थात चार चौपाइयों के अनन्तर दोहे का क्रम रखा गया है। कृष्ण-भक्ति शाखा में पुनः इस क्रम का कोई निश्चित रूप स्वीकृत नहीं है।

ज्ञानभक्ति शाखा में दोहा चौपाई के साथ अन्य छंदों का समावेश नहीं है। प्रेमभक्ति-शाखा में प्रेमगाथाओं की रचना में विशुद्ध रूप से दोहा-चौपाई को ही ग्रहण किया गया है। राम-

---

१. सन्त काव्य, भूमिका, आ० परशु राम चतुर्वेदी, पृ० ३९।

२. 'दोहों चौपाइयों का एक साथ किया गया इस प्रकार का प्रयोग बहुत पहले नहीं दीख पड़ता किन्तु जिस प्रकार कबीर साहब ने अपनी 'रमैनी' में कतिपय चौपाइयों के अनंतर दोहे का क्रम बांधा है उस प्रकार का प्रयोग स्वयंभू कवि की अपभ्रंश 'रामायण' में भी किया गया मिलता है जो सं० ८०० के लगभग रची गई थी और जिसमें किसी छंद की पंक्तियाँ 'धत्ता' छंद के साथ प्रायः वैसे ही क्रम में पायी जाती है। 'धत्ता' छंद का प्रयोग वहाँ दोहे के स्थान पर किया गया जान पड़ता है, जहाँ दूसरे छंद की पंक्तियां बीच बीच में चौपाइयों का काम देती हैं। किसी वस्तु व घटना का किसी एक छंद द्वारा वर्णन करते समय बीचबीच में एक अन्य छंद के प्रयोग द्वारा विश्राम करते चलना दोनों की विशेषता है। चौपाई छंद का प्रयोग गुरु गोरखनाथ की समझी जानेवाली कृति 'प्राण संकली' में भी पाया जाता है, किन्तु उसमें दोहों का अभाव है। कबीर साहब की रमैनी में भी दोहे और चौपाइयों का उक्त क्रम, सर्वप्रथम दीख पड़ता है। यह रचना अपनी वर्णन-शैली की दृष्टि से 'प्राणसंकली' से बहुत भिन्न नहीं कही जा सकती। यह रचना शैली प्रबंध काव्यों के लिए अधिक उपयुक्त जान पड़ती है।'

—सन्त काव्य, भूमिका, आ० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३८।

भक्ति शाखा में दोहा चौपाई के बीच में अन्य छंदों का यत्र तत्र समावेश है। कृष्णभक्ति शाखा में भी अन्य छंदों को बीच बीच में, दोहा चौपाई के साथ रखा गया है।

चौपाई, चौपई, चौबोला

अमीर खसरो ने तेरहवीं शताब्दी में ही चौपाई चौबोला के मिश्रण के साथ कुछ काव्य की रचना की थी।[1] ज्ञानभक्ति शाखा के कवियों ने भी इसी प्रकार के मिश्रण किए हैं। कबीरदास की रमैणियों में चौपाइयों के बीच में कहीं कहीं चौपई भी झलक गई है—

एक बिनांनी रच्या बिनान, सब अपांन जो आपै जांन ।।चौपई ।।
सत रज तम थैं कीन्हीं माया, चारि खानि बिस्तार उपाया। चौपाई ।।[2]

संत बाबालाल ने भी चौपाई और चौपई को मिला दिया है।[3] गुरु गोविन्द सिंह ने भी इस प्रकार का मिश्रण किया है—

गुरु घर जन्म तुम्हरो होय। पिछले जाति बरन सब खोय । चौपई ।।
चार बरन के एको भाई। धरम खालसा पदवी पाई। चौपाई ।।
हिन्दू तुरुक ते आहि निआरा। सिंह मजब अब तुमने धारा। चौपाई ।।
राखहु कच्छ केस किरपान। सिंह नाम को यही निशान । चौपई ।।[4]

कृष्णभक्ति शाखा

इस शाखा के काव्य में सूरदास ने अपने पौराणिक वर्णनों के नीरस प्रसंगों को त्रिभंगी गति देने के लक्ष्य से संभवतः इन तीनों छंदों का मिश्रण किया है—

आतम अजन्म सदा अबिनासी। ताकौं देह मोह बड़ फांसी।—चौपाई ।।
रिषभ सुपुत्र, भरत मम नाम। राज छांडि, लियौ बन बिस्राम।—चौपई ।।
तहं मृगछौना सो हित भयो, नर तन तजि कै मृग तन लियो।—चौबोला ।।[5]

इस मिश्रित शैली में सूरसागर के पंचम, षष्ठ, सप्तम स्कंध लिखे गए हैं।

---

१. मोर परोसिन कूटै धान। ओखरि का सबद परा मोरै कान।—चौपई
ऊ. . .मोहि ऐसन छरी। मोरे हाथन छाला परी।—चौबोला
दही परोसन गैहौ मोर। अंगुरिन गड़ी दही के कोर।—चौपई
ए सखी मैं ऐसी मरी। दिन दस रही पोर से परी।—चौबोला।
२. कबीर ग्रन्थावली, रमैणी, पृ० २२९।
३. सन्त काव्य, पृ० ३६६।
४. वही, पृ० ४१७।
५. सूरसागर, पहला खंड, पंचम स्कंध, पृ० १५४।

कृष्णभक्ति शाखा के एक अन्य कवि गोविन्दस्वामी ने 'गोवर्द्धन धारण' प्रसंग में इस प्रकार का मिश्रण किया है।[१]

नंददास ने 'दशम स्कंध' में इसी मिश्रित शैली का प्रयोग किया है—

अब सुनि मित्र नवम अध्याह, जामैं अद्भुत अद्भुत भाइ।—चौपई॥
जोगीजन मन ढूंढत जाकौं, बांधेगी हठि जसुमति ताकौं॥—चौपाई॥

× × × ×

और जु नंदमहर घर दह्यौ, कितक आहि कछु परत न कह्यौ।—चौबोला॥[२]

प्रेमभक्ति व रामभक्ति शाखा के काव्य में इस प्रकार के छंद मिश्रण का प्रयास नहीं है।

दोहा, सोरठा, ज्ञानभक्ति शाखा

निर्गुण धारा की ज्ञानभक्ति शाखा की अधिकांश काव्य रचना दोहा छंद में है। साखी के अंतर्गत लिखी संतों की रचनाओं में अधिकांश दोहे हैं। 'दोहे को कभी कभी दोहरा भी कहा जाता है और उसके अंतर्गत, सामान्यतः सोरठे को भी सम्मिलित कर लिया जाता है।[३] दोहरा[४] के साथ दोहे को समय भी कहा गया है।[५] दोहे को सलोक भी कहने की प्रथा थी।[६]

ज्ञानभक्ति शाखा के सर्वप्रसिद्ध कवि कबीर का लगभग आधे से कुछ ही कम साहित्य दोहों में है।[७] दादूदयाल की बहुत सी बानी दोहों में है।[८] इस शाखा के सभी सन्तों ने अपनी रचना के लिए दोहा छन्द को अवश्य चुना है। निश्चयात्मक रूप में प्रभावित करने वाला कोई विशिष्ट संदेश कहने के लिए यह छन्द बहुत सटीक सिद्ध हुआ है।

---

१. गोविंद स्वामी, पद संग्रह, पृ० ३३-३६, पद सं० ७०।
२. नंददास, द्वितीय भाग, दशम स्कंध, नवम् अध्याय, पृ० २३५।
३. सन्त काव्य, भूमिका, आ० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३६।
४. साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखाना। तुलसीदास।
   बोध सागर, कमाल बोध, पृ० १६।
५. वही, श्वासगुंजार, पृ० २, ३ आदि।
६. सन्त काव्य, शेख फरीद, पृ० २५३।
   वही गुरु तेगबहादुर, पृ० ३५०।

"आदिग्रन्थ में इन साखियों को ही 'सलोक' नाम दिया गया है जो संभवतः श्लोक वा अनष्टुप छंद का स्मरण दिलाता है।"

—सन्त काव्य, भूमिका, पृ० ३७।

७. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १-८६।
८. श्री दादूदयाल की बानी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित।

प्रेमभक्तिशाखा

जायसी ने अखरावट में एक दोहा, एक सोरठा, सात अर्द्धालियों का क्रम निर्वाह किया है।

रामभक्ति शाखा

रामभक्ति शाखा में स्वतन्त्र रूप से दोहे सोरठे में तुलसीदास ने दोहावली की रचना की। दोहों के बीच में कुछ सोरठों का भी इस ग्रन्थ में प्रयोग किया गया है। 'दोहावली' के प्रमुख 'छन्द दोहे पर ही इस ग्रन्थ का नाम है। कुछ स्थलों पर क्रमिक रूप में तीन चार दोहों की संख्या तक किसी विशिष्ट विषय का निर्वाह है।

कृष्णभक्ति शाखा

कृष्णभक्ति साहित्य में पर्याप्त साहित्य रचना दोहा तथा सोरठा छन्द के माध्यम से हुई है। रसखान का छोटा सा ग्रन्थ 'प्रेम वाटिका' पूर्ण रूप से दोहा छन्द में रचित है।[१] हित सेवक जी द्वारा रचित 'हित अबोलनो सिद्धान्त राम षोडश प्रकरण' दोहों में लिखा गया है। ध्रुवदास की अनेक लाएँ दोहों में हैं। 'वृन्दावन लीला',[२] 'वृहदबावनपुराण की भाषा लीला,[३] 'आनंदाष्टक लीला',[४] 'भजनाष्टक लीला',[५] 'रस रतनावली लीला',[६] एवं 'वन विहार लीला'[७] सपूर्ण रूप से दोहों में लिखी हुई है। 'मन शिक्षा लीला'[८] एवं 'ख्याल हुल्लास लीला'[९] में समस्त रचना दोहों में है। किन्तु बीच में एक सोरठा माला की मध्य मक्ता के सदृश रख दिया गया है। 'भक्त नामावली लीला'[१०] के प्रारम्भ में दोहों के बीच बीच में अरिल्ल रखे गए हैं। 'प्रीति चौवनी लीला' में दोहों के बीच में एक कुंडलिय छन्द रखा गया है।[११] 'भजन सत् लीला' के दोहों के बीच-बीच एक सोरठे

---

१. श्री हितसुधासागर, श्री सेवकवाणी जी, पृ० ३१०।
२. ब्यालीस लीला, वृन्दावन लीला, पृ० १२-२२।
३. वही, वृहदबावन पुराण की भाषा लीला, पृ० ३७-४३।
४. वही, आनंदाष्टक लीला, पृ० ६२-६३।
५. वही, भजनाष्टक लीला, पृ० ६३-६४।
६. वही, रस रत्नावली लीला, प० १६७-१७१।
७. वही, वन बिहार लीला, पृ० २०४-२०९।
८. वही, मन शिक्षा लीला, पृ० ७-१२।
९. वही, ख्याल हुल्लास लीला, पृ० २२-२७।
१०. वही, भक्त नामावली लीला, पृ० २७-३७।
११. ब्यालीस लीला, प्रीति चौवनी लीला, पृ० ६१।

का प्रयोग किया गया है।[१] एक कुंडलिय भी बीच में रख दी गई है।[२] 'मन श्रृंगार लीला'[३] में दोहों के बीच में एक अरिल्ल है।[४] 'सभामंडल लीला'[५] में मख्य छंद दोहा है, बीच बीच में सोरठे व एक कवित्त का प्रयोग किया गया है। 'प्रेमावली लीला'[६] के दोहों के बीच में एक कुंडलियाँ रखी गई हैं।[७] 'सुख मंजरी लीला'[८] के दोहों के बीच में एक सोरठा मिलता है।[९] 'रंग बिहार लीला'[१०] के दोहों के बीच कुंडलियाँ[११] और सोरठे[१२] मिलते हैं।

हित वृन्दावनदास ने 'कलि चरित्र वेली' नामक छोटा सा ग्रन्थ सोरठे छन्द में लिखा। प्रत्येक सोरठे का अन्तिम चरण' 'कलि प्रताप हरि कृपा विनु' है। यह पुनरावृत्ति १०२ सोरठे तक है।[१३] उसके पश्चात् के सोरठे संतों के चरित्र आदि से सम्बन्धित हैं।

श्री सेवक जी ने 'अथ श्री अकृपा कृपा नवम प्रकरण' सोरठों में लिखा।[१४]

प्रियादास शुक्ल ने 'अनुराग शतक' की रचना दोहों में की थी। नन्ददास ने रोले की दो पंक्तियों में दोहा जोड़कर एक नया प्रयोग किया। इस प्रकार का प्रयोग सूरदास ने भी किया था। परन्तु सूरदास ने अपने पद साहित्य के अन्तर्गत यह प्रयोग किया था। नन्ददास ने अपने खण्ड-काव्य 'स्याम सगाई' तथा 'भँवरगीत' को इस नई शैली में लिखा, प्रत्येक छंद के अन्त में दस मात्राओं की पंक्ति के योग ने काव्य शैली को अत्यधिक श्रुति मधुर बना दिया है। स्याम सगाई से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

जो मांगौ सो लेउं, सांवरे कुंवर कन्हैया।
बिन माँगै ही देहि, तुम्हें राधा की मैया। रोला॥

---

१. ब्यालीस लीला, भजन सत लीला, पृ० ६८-७७।
२. ब्यालीस लीला, वही, पृ० ७६।
३. ब्यालीस लीला, मन श्रृंगार लीला, पृ० १११-११९।
४. ब्यालीस लीला, वही, पृ० ११६।
५. व्यालीस लीला, सभामंडल लीला, पृ० १२८-१४७।
६. व्यालीस लीला, प्रेमावली लीला, पृ० १७२-१८३।
७. व्यालीस लीला, वही, पृ० १८२।
८. व्यालीस लीला, सुखमंजरी लीला, पृ० १८९-१९१।
९. व्यालीस लीला, वही, पृ० १९०।
१०. व्यालीस लीला, रंग बिहार लीला, पृ० २०९-२१४।
११. व्यालीस लीला, वही, पृ० २११।
१२. व्यालीस लीला, वही, पृ० २१३।
१३. श्री कलि चरित्र वेली, चाचा जी श्री हितवृन्दावनदास जी, पृ० १२।
१४. श्री हित सुधासागर, श्री सेवक वाणी जी, प० २७६-२८०।

यह सुनि सुंदर सांवरे, लीने सखा बुलाइ।
सिध पौरि वषभान की, ततछन पहुंचे जाइ। दोहा॥
लगन है नेह की।

इस छन्द के कारण भंवरगीत इतना प्रख्यात हुआ कि इस छन्द का शीर्षक 'भ्रमर गीत' रख दिया गया।[१]

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट है कि दोहा छन्द केवल ज्ञानभक्ति शाखा में ही नहीं प्रचलित था, वरन् इसका प्रचुर प्रयोग सगुण भक्ति धारा की भी दोनों शाखाओं के साहित्य के अन्तर्गत हुआ। सिद्धान्त कथन की दृष्टि से यह छंद बहुत उपयुक्त था। संक्षिप्त, सरल और स्मरण रह जाने वाला।

कवित्त सवैया

भक्तियुग में प्रधान छन्द दोहा चौपाई और दोहे सोरठे थे। परन्तु अन्य अनेक छन्दों का प्रयोग भक्ति काव्य की दोनों धाराओं के कवियों ने किया। इन छंदों में सबसे प्रमुख कवित्त सवैया है।

ज्ञानभक्ति शाखा

संत सुन्दरदास (छोटे) साहित्य शास्त्र के ज्ञाता थे। इन्होंने कवित्त व सवैया दोनों छन्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया।[२] संत बूला तथा बीरू साहब ने कवित्त को अपने काव्य में स्वीकार किया।[३] गरू गोविन्द सिंह ने भी कवित्त का प्रयोग किया।[४] गुरू गोविन्दसिंह, बाबा धरनीदास एवं संत बावरी साहिबा ने सवैया अपने काव्य में प्रयोग किया।[५] मलूक दास की रचनाओं में भी कवित्त सवैया मिलते हैं।[६]

---

१. भमरगीत-मात्रिक विषम छन्द, इसमें चार पद दो छन्दों को मिलाकर रखे जाते हैं। रोला या उल्लाल और दो पद दोहे के होते हैं। अन्त में दस मात्राओं की टेक होती है।
—हिन्दी काव्ब शास्त्र, पिंगल प्रकाश, पृ० १९३।

२. सन्त काव्य, पृ० ३९२-३९४ (कवित्त)।
वही पृ० ३८९-३९१ (सवैया)।

३. वही पृ० ४१२, बूला साहब कवित्त।
वही पृ० ३१६, बीरू साहब, कवित्त।

४. वही पृ० ४१५ गुरु गोविंद सिंह, कवित्त।

५. वही पृ० ४१६ गुरु गोविन्द सिंह, सवैया।
वही पृ० ४०६ बाबा धरनीदास सवैया।
वही पृ० ३१४, ३१५ संत बावरी साहिबा, सवैया।

६. वही पृ० ३५७, ३५८ मलूकदास, कवित्त।
वही पृ० ३५८ मलूकदास, सवैया।

रामभक्ति शाखा

तुलसीदास ने 'कवितावली' नामक ग्रन्थ मुख्य रूप से कवित्त व सवैया छन्द में लिखा है। इसके अतिरिक्त हृदयराम का हनमन्नाटक, जो रामभक्ति शाखा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ समझा जाता है, कवित्त सवैया शैली में लिखा गया है।[१] सेनापति के कवित्त रत्नाकर की चौथी तरंग में राम-भक्ति से सम्बन्धित कवित्त हैं। 'रामचन्द्रिका' में केशव ने अन्य अनेकानेक छन्दों के साथ सवैया का भी प्रयोग किया है।[२]

कृष्णभक्ति शाखा

मख्य रूप से इस शाखा में रसखान ने इन छन्दों में अपनी रचना की। 'सुजान रसखान' में प्राधान्य सवैया छन्द का है। बीच बीच में कवित्त हैं, यद्यपि इस ग्रन्थ में दोहे सोरठे भी प्रयुक्त हैं।[३]

ध्रुवदास ने 'भजन शृंगार सत लीला' की तीनों शृंखलाओं में कवित्त सवैया छन्द का प्रयोग किया है।[४] आरम्भ में व कहीं कहीं मध्य में दोहे भी हैं।

श्री सेवक जी ने 'श्री हितअनन्यटेक' सवैया छन्द में लिखा।[५] इस के अतिरिक्त सेवक जी ने 'श्री हित पाके धर्मी धर्म' और 'श्री हित काचे धर्मी धर्म' में भी सवैया छन्द का प्रयोग किया है।[६] बीच में एक रोला[७] और अन्त में घनाक्षरी और छप्पय रखे हैं।[८] कवित्त का प्रयोग रागों की संख्या गिनाने के हेतु सेवक जी ने किया है।[९] एक स्थल पर सूरदास ने भी कवित्त का प्रयोग किया है।[१०]

---

१. 'तुलसीदास के प्रभाव से राम-भक्ति सम्बन्धी रचनाओं में 'हनुमन्नाटक' की रचना महत्वपूर्ण है। यह रचना कवित्त और सवैयों में है।'

—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६७९।

२. रामचन्द्रिका, पृ० २४, २७, छन्द सं० १११, १२८।

३. रसखान और घनानंद, सुजान रसखान, पृ० १३-३३।

४. ब्यालीस लीला, अथ भजन शृंगार सत लीला, पृ० ७८-१०९।

५. श्री हित सुधा सागर, श्री सेवक वाणी जी, अथ श्री हित अनन्यटेक प्रकर, पृ० २७०-२७५।

६. वही, पृ० २९५-३०७।

७. वही, पृ० ३०५।

८. श्री हित सुधा सागर, श्री सेवकवाणी जी, पृ० ३०७।

९. वही, पृ० २२६।

१०. सूर सागर, अष्टम स्कंध, पृ० १७१, पद सं० ४३२।

कुंडलिया : ज्ञानभक्ति शाखा

संत हरिदास निरंजनी ने अपनी काव्य रचना कुंडलिया छंद में की है।[1] दीन दरवेश की कुंडलियाँ प्रसिद्ध हैं।

हिन्दू कहे सो हम बड़े, मुसलमान कहे हम्म।
एक मूंग दो झाड़ हैं, कुण ज्यादा कुण कम्म॥
कुण ज्यादा कुण कम्म, कभी करना नहीं कजिया।
एक भगत हो राम, दूजा रहिमान सो रजिया।
कहै दीन दरवेश, दोय सरिता मिल सिन्धू।,
सब का साहब एक, एक मुसलिम एक हिन्दू॥१॥[2]

रामभक्ति शाखा

एक पूरा ग्रन्थ कुंडलिया छन्द में लिखा गया मिलता है। इस ग्रंथ का नाम है कुंडलिया रामायण। इस ग्रंथ में कुंडलिया छन्द इतना सफल हुआ है कि इस पुस्तक का नाम 'हितोपदेश उपाख्यान बावरी' प्रसिद्ध न होकर 'कुंडलिया रामायण' नाम प्रसिद्ध हुआ।[3]

कृष्णभक्ति शाखा

ध्रुवदास ने इस छन्द का प्रयोग 'भजन कुंडलिया लीला' में किया है।[4] प्रत्येक कुंडलिया के बाद ध्रुवदास ने एक दोहा रखा है। उदाहरण स्वरूप—

कुंडलिया— हंस सुता तट बिहरिवो करि वृन्दावन बास।
कुंज केलि मृदु मधुर रस, प्रेम विलास उपास॥
प्रेम बिलास उपास रहै, इक रस मन माहीं।
तेहि सुख को सुख कहा कहौं, मेरी मति नाहीं॥
हित ध्रुव यह रस अति सरस, रसिकन कियो प्रशंस।
मुकतन छांडै चुगत नहि, मानसरोवर हंस॥

दोहा— रस भीज्यो रस में फिरै, रसनिधि जमुना तीर।
चितत रस में सने दोउ, श्यामल गौर शरीर॥[5]

---

१. संत काव्य, पृ० ३२६, ३२७।
२. वही, पृ० ४३६, ४३७।
३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६७६।
४. ब्यालीस लीला, भजन कुंडलिया लीला, पृ० ६४-६८।
५. वही, पृ० ६४।

श्री सेवक जी ने 'श्रीहित भजन दशम प्रकरण' इसी कुंडलिया छन्द में लिखा है। इस इस प्रकरण में २२ कुंडलिया छन्द हैं, प्रथम ११ सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं बाद के ११ रस से सम्बन्ध रखते हैं।[१] प्रियादास शुक्ल के 'प्रियारसिकविनोद' में भी कुछ कुंडलिया मिलती हैं।[२]

छप्पय

ज्ञानभक्ति शाखा के दादूपंथी भीषन जी की 'सर्वंगी बावनी' छप्पय छंद में लिखी गई है।[३]

तुलसीदास ने अपनी 'कवितावली' में वीर रस की उद्भावना के हेतु इस छन्द का प्रयोग किया है। एक उदाहरण—

डिगति उर्वि अति गर्बि, सर्ब पब्बै समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर।
दिग्गयन्द लरखरत, परत दसकंठ मुक्खभर।
सुरबिमान, हिमभानु, भानु संघटित परस्पर।
चौके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि, जबहिं राम सिवधनु दल्यौ ।।११।।[४]

वीर रस और सिद्धान्त कथन के अतिरिक्त कृष्णभक्ति शाखा में स्तुति के लिए इस छन्द का प्रयोग किया गया है। सेवक जी ने अपने गुरु श्री हित हरिवंश की स्तुति छप्पय छन्द में की है।[५] धर्मी धर्म निरूपण के हेतु भी यह छन्द प्रयोग में आया है।[६] राधावल्लभी चतुर्भुज दास जी ने 'विमुख मुख भंजन यश' की रचना छप्पय छंद में की है।[७] इसके अन्तर्गत ३४ छप्पय

अरिल्ल

इस छन्द का प्रयोग ज्ञानभक्ति शाखा के कवियों ने अपनी रचनाओं में प्रचुर रूप में किया है। संत वाजिद जी की अरिल्ल छंद में रचनाएँ प्रसिद्ध हैं।[८] अरिल्ल के चतुर्थ चरण में वाजिद जी 'हरि हाँ वाजिन्द' जोड़ देते हैं—

---

१. श्री हित सुधा सागर, श्री सेवक वाणी जी, पृ० २८१-२८८।
२. प्रियारसिकविनोद, पृ० ३, पद सं० ४।
३. 'सर्वंगी बावनी में इनके ५४ छप्पय संगृहीत हैं।'
सन्त काव्य, पृ० ३३४, आ० परशुराम चतुर्वेदी।
४. कवितावली, बालकाण्ड, पृ० ११-१२, छन्द सं० ११।
५. श्री हित सुधा सागर, सेवक वाणी, पृ० ३११, २६२, २६६,२५७ ।
६. वही, पृ० २९९।
७. द्वादश यश, विमुख मुख भंजन यश, पृ० ४८-५६।
८. सन्त काव्य, संत बाजिद जी (दादू पंथी), पृ० ३३७।

बड़ा भयो तो कहा बरस सो साठ का।
घणा पढ्या तो कहा चतुर्विध पाठ का॥
छापा तिलक बनाय कमंडल काठ का।
हरि हां, वाजिन्द एक न आया हाथ पंसेरी आठ का।[1]

संत बूला साहब ने इस छंद में बिना मात्राओं में परिवर्तन किए रचना की—

क्या भयो ध्यान के किए हाथ मन ना हुआ।
माला तिलक बनाय देत सब को दुआ॥
आसा लागी डोरी कहत भला हुआ।
बूला कहत बिचारि झूठ से मर घुआ॥[2]

संत गरीबदास ने भी अरिल्ल लिखे।[3]

कृष्णभक्ति शाखा में ध्रुवदास की 'मानलीला' में एक स्थल पर इसका प्रयोग हुआ है, परन्तु अन्तिम चरण में मात्राएँ बढ़ गई हैं—

कहति हिये की बात सुनो जो कान दे।
बढ्यो सरस अनुराग प्रान प्रिय दान दे॥
इती समुझि के बात बिलंब न कीजिये।
पुनि हां हंसि के प्यारो लाल भुजनि भरि लीजिये॥२०॥[4]

उपर्युक्त छन्दों के अतिरिक्त अन्य अनेक छन्दों का प्रयोग भक्ति साहित्य में हुआ है, जिनमें मात्रिक छन्दों का ही आधिक्य है। बरवै और झूलना दो[5] छन्द ऐसे थे जो प्रेम भक्ति शाखा के अतिरिक्त अन्य तीनों शाखाओं में मिलते हैं। सार, सरसी वीर आदि छन्द भी भक्ति साहित्य की दोनों धाराओं में प्रचलित थे, जिनका प्रयोग पद साहित्य में अधिक हुआ है।

(२) पद शैली, गीति काव्य

(क) गीति काव्य की परम्परा तथा स्वरूप :

गीति काव्य की परम्परा भक्ति युग के बहुत पूर्वकाल से विद्यमान थी। हिन्दी भाषी

---

१. सन्त काव्य, संत वाजिद जी (दादूपंथी), पृ० ३३९।
२. वही, संत बूला साहब, पृ० ४११।
३. संत काव्य, संत गरीब दास, पृ० ४५७, ४५८।
४. ब्यालीस लीला, मान लीला, पृ० २७१।
५. झूलना, ७, ७, ७ एवं ५ के विश्राम से २६ मात्राएं।
ज्ञानभक्ति शाखा, यारी साहब, सन्त काव्य, पृ० ३९८।
रामभक्ति शाखा, तुलसीदास, कवितावली, लंकाकाण्ड, पृ० ६७-६८, छंद सं० ४।

पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही प्रदेशों में गीति काव्य की शैली किसी न किसी रूप में अवश्य प्रचलित थी। ज्ञानभक्तिशाखा के संतों की पदशैली की आधारशिला के रूप में बौद्धों की चर्यागीतियों की चर्चा की जाती है।[1] हिन्दी साहित्य में पदशैली का आविर्भाव लोक गीतों का विकसित रूप है।[2] ऐसी मान्यता रही है लोक गीतों की परम्परा के साथ बंगाल और मिथिला के जयदेव और विद्यापति रचित गीत लहरी के प्रभावस्वरूप कृष्णभक्तों ने अपनी अभिव्यंजना पदशैली में की, ऐसा भी विद्वानों का मत रहा है। इस बात के प्रमाण स्वरूप जयदेव के 'मेघर्मेदुरम्बरं वनभुव: श्यामास्तमालद्रुमै:" का छायानुवाद स्वरूप सूरदास का 'गगन घहराइ जुरी घटा कारी" पद प्रस्तुत किया जाता है।[3] रामभक्ति शाखा में भी पदशैली में तुलसीदास की तीन रचनाएँ—गीतावली, कृष्ण गीतावली तथा विनयपत्रिका, हैं। इस शाखा के पद साहित्य पर ब्रजभाषा की पद शैली का प्रभाव स्वीकार किया जाता है।यद्यपि काव्य का गीतात्मक रूप ऋग्वेद की ऋचाओं से ही आरम्भ हो जाता है किन्तु यह निश्चित है कि हिन्दी भाषा में सर्वप्रथम पदों में रचा हुआ साहित्य ज्ञानभक्ति शाखा के संतों का ही दृष्टिगोचर होता है। डा० गुलाब राय का कथन है कि "हिन्दी में गीति काव्य के प्रथम दर्शन सन्त कवियों की वाणियों में होते हैं।[4]; डा० रामकुमार वर्मा ने संत साहित्य में प्रयुक्त "साखी" व "शब्द" शैली पर विचार करते हुए लिखा है कि 'पदों का हिन्दी साहित्य में यह प्रयोग प्रथम बार ही समुचित रूप में किया गया।[5]

गीति काव्य के अन्तर्गत आने वाला पद साहित्य गेय है तथा राग रागिनियों में बद्ध है। प्रत्येक पद अपने आप में पूर्ण है, भाव की पूर्णता के लिए किसी अन्य पद की अपेक्षा आवश्यक नहीं। कदाचित इसीलिए डा० गुलाबराय ने मुक्तक काव्य के दो भेद पाठ्य और गेय करते हुए कहा है कि 'इन दोनों के बीच की रेखा बड़ी सूक्ष्म और अस्थिर है।[6] सच पूछा जाय तो हिन्दी साहित्य के अध्येताओं के लिए भक्ति साहित्य के समस्त पद गेय होते हुए भी पाठ्य ही हैं। ऐसा नहीं है कि पठन के क्षेत्र में इन पदों के रस में कोई अन्तर उपस्थित हुआ हो। तात्पर्य यह है कि ऐसी शैली में

---

१. "पदों की रचना, वस्तुतः हिन्दी भाषा के आदियुग वा अपभ्रंशकाल से ही होती चली आई है और उनका प्रारंभिक रूप हमें बौद्धों की चर्यागीतियों में मिलता है। कहा जाता है कि इन चर्यागीतियों या चर्यापदों के पहले से भी कतिपय बज्रगीतियों की रचना होती आ रही थी।"
—सन्त काव्य, आ० परशुराम चतुर्वेदी, भूमिका, पृ० ३२, ३३।

२. "लोक गीत भी इन साहित्यिक गीतों और गीतियों का अविकसित रूप है। इन लोक गीतों ने इस प्रकार जहां महाकाव्यों में वैयक्तिकता एवं अन्तदर्शन का आवेश दिया वहां स्वतन्त्र गीति काव्यों का रचना को उन्मेष भी।" —गीति काव्य, रामखेलावन पांडेय, पृ० ५।

३. काव्य के रूप, डा० गुलाबराय, पृ० १२४।

४. वही, पृ० १२३।

५. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ४२५।

६. काव्य के रूप, डा० गुलाबराय, पृ० ११३।

लिखा जाकर जो विशेष रूप से गेय है[1] भक्तियुग का पद साहित्य गेय होते हुए भी पाठ्य अधिक हो गया है, परन्तु इससे उन पदों में अन्तर्निहित गेय गुण का अभाव नहीं हो जायगा। श्री राम-खेलावन पांडेय के मत में गीति काव्य मुक्तक से भिन्न अपने आपमें एक स्वतंत्र काव्य रूप में हैं।[2] इसका कारण यह है कि मुक्तक काव्य में अनुभूति की अन्विति—उतनी आवश्यक नहीं जितनी गीति काव्य में। गीति काव्य प्रारम्भ में मुक्तक काव्य से विशेष पृथक नहीं था। संस्कृत के मुक्तक स्वतः गीति तत्वों से युक्त होते हैं। हिन्दी काव्य के विकास में यह तथ्य विशेष 'रूप से दृष्टिगोचर होता है कि मुक्तक काव्य क्रमशः गीति काव्य से दूर पड़ता गया है। स्पष्ट रूप से आज यह तथ्य उभर कर सामने प्रकट है कि आज के साहित्य में गीति काव्य और अन्य काव्य रूपों में एक प्रत्यक्ष पार्थक्य रेखा है। आज का प्रत्येक काव्य गेय काव्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

(ख) मध्ययग में गीति साहित्य :

मध्ययुग के ऐसे साहित्य को गीति काव्य की श्रेणी में रखा जाता है। जो पदों के रूप में प्राप्त है। यद्यपि केवल गेयता देखी जाय तो व्यावहारिक दृष्टि यह कहती है कि पद साहित्य से अधिक गेय तुलसीकृत रामचरितमानस है। पदों में लिखा साहित्य निर्गुण भक्तिधारा और सगुण भक्ति धारा दोनों में ही विपुल मात्रा में मिलता है। निर्गुण भक्ति धारा की ज्ञानभक्ति शाखा के कबीर, दादू, पीपा, रैदास, सिंगा, भीषन आदि के पद जो 'सब्द' के नाम से रचे गए थे, हिन्दी साहित्य में गीति काव्य के सुन्दर उदाहरण है। प्रेममार्गी शाखा में शैलियों की विविधता अपेक्षाकृत कम है और इस प्रकार के पद साहित्य का अभाव है। सगुण भक्तिधारा में रामभक्ति शाखा व कृष्णभक्ति शाखा दोनों में ही पद शैली का प्रयोग किया गया।

ज्ञानभक्ति शाखा का लगभग आधा साहित्य पद शैली में लिखा गया। 'सबद' और 'साखी' दो ही मुख्य रूप इस शाखा के साहित्य में मिलते हैं। दोनों ही रूप प्रत्येक कवि की रचना प्रधान हैं। यह पद साहित्य किसी विशिष्ट विषय को लेकर नहीं लिखा गया है। मन का स्वभाव, मन को चेतावनी, संसार की रीति, माया, पश्चाताप, आत्मनिवेदन, ज्ञान की स्थिति, आत्मानभूति,

---

१. "...कुछ पद या छन्द ऐसे होते हैं जो विशेष रूप से गेय होते हैं।"

—डा० गुलाब राय, पृ० ११३।

२. "निरपेक्ष छन्दोबद्ध रचना को मुक्तक कहते हैं। वस्तुतः गीति काव्य और मुक्तक काव्य में भारी अन्तर है। गीति काव्य अनुभूति की अन्विति उपस्थित करता है, ऐसी अवस्था में उसके पद्य अपने ही अन्य पद्यों की आकांक्षा अवश्य रखते हैं। मुक्तक, छन्द की इकाई मात्र प्रस्तुत करते हैं। संस्कृत साहित्य शास्त्रकारों ने इस प्रकार गीति काव्य नाम का कोई भेद नहीं माना है।"

—गीति काव्य, श्री रामखेलावन पांडेय, पृ० ६।

गुरुमहिमा, शरणागति, साधना तथा सिद्धान्त सम्बन्धी अनेक विषयों पर शब्द साहित्य अथवा पद शैली में संतों ने रचना की। सिद्धान्त सम्बन्धी विषय पर पद बहुत कम हैं। अनुभूति को प्रकट करने हेतु जहाँ कवियों ने श्रृंगारिक प्रतीकों का माध्यम ग्रहण किया है वहाँ पद बहुत भावपूर्ण हो गए हैं। कर्मकाण्ड के विरोध से सम्बन्धित भी कुछ पद उपलब्ध होते हैं। कुछ उल्टबासियाँ भी कबीर ने पदों में लिखी।

रामभक्तिशाखा में तुलसीदास ने पद शैली में तीन ग्रन्थों की रचना की; विनयपत्रिका, गीतावली, कृष्ण गीतावली। विनय पत्रिका के प्रारम्भिक पद स्तोत्र शैली में हैं। जो बहुत गम्भीर और उदात्त गुण से पूर्ण हैं। गीतावली में श्री रामचन्द्र जी की कथा आरम्भ से लेकर अन्त तक पद शैली में लिखी गई है। कृष्ण गीतावली में श्री कृष्ण की लीला को पदों में अभिव्यक्त किया गया है।

कृष्णभक्ति शाखा का लगभग समस्त साहित्य पद-शैली में लिखा गया है। अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध कवियों का समस्त साहित्य, मीरा की पदावली, श्री हितहरिवंश जी और उनके सम्प्रदाय में लिखा अधिकांश साहित्य पदों में लिखा हुआ मिलता है। यह समस्त साहित्य गीति काव्य के गौरव वर्द्धन के लिए पर्याप्त से कहीं अधिक है।

(ग) हिन्दी भक्ति गीति काव्य में प्रबन्धबद्धता :

भक्ति साहित्य के अन्तर्गत लिखा गया गीति काव्य प्रबंध और स्फूट दोनों रूपों में है। संत काव्य के पद निश्चित रूप से स्फूट है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में 'उत्तरी भारत के संतों ने अधिकतर फुटकर पदो की रचना की जो बानियों के नाम से प्रसिद्ध हैं।'[1] ज्ञानभक्ति शाखा के पद-साहित्य में कोई क्रम या कोई श्रृंखला नहीं मिलती। प्रत्येक पद स्वतंत्र हैं, अपने आप में पूर्ण है।

सगुण भक्ति धारा के समस्त पद साहित्य को स्फुट अथवा फुटकर पद काव्य नहीं कहा जा सकता। विनय सम्बन्धी पद अवश्य फुटकर रूप में लिखे गये हैं। तुलसीदास की विनयपत्रिका तथा सूरदास के सूरसागर के अन्तर्गत संग्रहीत विनय के पदों में आपस में कोई निश्चित श्रृंखला होने का प्रश्न नहीं उठता। यद्यपि इस प्रकार के पदों में भी कई कई पदों में एक अनभूति की अन्विति प्रवहमान दष्टिगत होती है। कारण यही दृष्टिगोचर होता है। कि कवि के अन्तः-करण में उस भाव विशेष की अतिरेक अनभूति कवि के मानस को इतना व्याकुल कर देती थी कि उसका वह भाव एक ही पद में नहीं बँधा रह गया है, अनेक पदों में निर्झर की भांति स्वतः प्रवाहित होता चला गया है। ऐसे स्थलों पर एक ही घनीभूत भाव अपने शतशः कोणों की चमक से पाठक का अनुरंजन करने में समर्थ है। विशेषता यह है कि इस प्रकार एक ही भाव से सम्बन्धित पदों में पुनरावृत्ति की नीरसता बहुत अल्प मात्रा में है। भक्ति काव्य में इसी विशेषता के कारण

---

१. उत्तरी भारत की संत परंपरा, आ. परशुराम चतुर्वेदी, भूमिका. प्रथम संस्करण, पृ० ८।

श्री रामखेलावन पांडेय ने यह वाक्य लिखा होगा कि 'गीतिकाव्य अनुभूति की अन्विति उपस्थित करता है, ऐसी अवस्था में उसके पद्य अपने ही अन्य पद्यों की आकांक्षा अवश्य रखते हैं।[1]

ज्ञानभक्ति शाखा के संतों के 'सवदों' में सूक्ष्म सूत्र मिलें यह सम्भव है परन्तु अवश्यम्भावी नहीं। परन्तु सगुण धारा के रामभक्ति शाखा के गीतावली ग्रन्थ में राम की कथा शृंखलाबद्ध रूप में पदों में वर्णित है, इसी प्रकार कृष्ण गीतावली में कृष्ण की लीला पदों में प्रबंध पद्धति के अनुसार लिखी गई है। कृष्णभक्ति शाखा में कृष्ण की लीला के आधार पर जितना भी पद साहित्य है उसमें लीलावर्णन प्रबन्ध पद्धति के अनुसार ही मिलता है। सूरसागर में लीलाओं का वर्णन निश्चित रूप से क्रमानुसार है। कृष्ण जन्म से लेकर कृष्ण के मथुरा गमन और राज्यारोहण तक की लीलाओं में कहीं भी क्रम विपर्यय नहीं है।यह अवश्य है कि अनेक स्थलों पर एक ही प्रसंग की एक ही घटना का कई पदों में वर्णन किया गया है। कहीं कहीं यह पुनरावत्ति मात्र है, परन्तु कहीं कहीं इस पुनरावत्ति में एक अनोखा प्रभावात्मक सौंदर्य निखर उठा है।

(घ) भक्ति साहित्य में गीति काव्य का प्राधान्य:

विदेशी आलोचक शेरान का कथन है कि धार्मिक भावना की अभिव्यंजना के लिए साहित्य का गीति रूप सबसे अधिक सफलता के साथ ग्रहण किया गया है।[2] जो भी साहित्य भक्ति युग के पदों के रूप में सृजित है उसमें मूल भाव भक्ति है। भक्ति भावना के आवेग से जिस काव्य का सृजन भक्त कवियों ने किया उसने मानों गेय पदों का रूप स्वतः धारण कर लिया है। ज्ञानभक्ति शाखा के सिद्धान्त सम्बन्धी कथन के लिए साहित्य की अन्य विधाएँ स्वीकार की गईं; किन्तु शुद्ध भक्ति भाव की आकुलता अपने अनेक रूपों में 'सबदों' में ही व्यक्त हुई। छन्द में बद्ध हो अथवा छन्द रहित हो जो भी पंक्तियाँ भक्ति की व्याकुल भावना की प्रेरणा से स्वतः स्फूर्त्त हो फूट पड़ी हैं उन्होंने पदों का रूप ले लिया है। प्रयास रहित पदों में कहीं कहीं शाब्दिक लय का बहिर्दृष्टि से अभाव है, किन्तु भक्ति के गूढ़ भाव के गांभीर्य की लय समस्त पदों में अन्तर्व्याप्त है।

सन्तों के अनेक पद ऐसे हैं जो शृंगारिक भाव से भरपूर है। परन्तु सन्तों के इन शृंगारिक पदों के सम्बन्ध में, सभी विद्वानों का एक स्वर से मतैक्य है कि वे प्रतीक पद्धति के अनुसार हैं। निर्गुण साहित्य की ज्ञानभक्ति शाखा के पद साहित्य में शृंगारिकता पारदर्शक आवरण के सदश है। इस शृंगारिकता की झीनी बीनी चदरिया के आवरण में गूढ़ आध्यात्मिक भाव बराबर झलकता है।[3] स्वानभूति से प्रेरित, असीम व सर्वव्यापी ईश्वर के प्रति भक्ति की भावना सहज निजीपन के साथ ज्ञानभक्ति शाखा के पदों में अभिव्यंजित है।

---

१. गीति काव्य, श्री रामखेलावन पांडेय, पृ० ६।

२. "The from of literary art best adapted to religious feeling is the lyric."

—A Handbook of Lite rary Criticism, W. H. Sharan. P. 71

३. काव्य के रूप, डा० गुलाब राय, पृ० १२३।

रामभक्ति शाखा के कवियों में सच्ची भक्ति भावना से आद्यन्त आप्लावित एक ही भक्त थे तुलसीदास। फलस्वरूप सगुण भक्तिधारा की रामभक्ति शाखा के साहित्य में तुलसीदास का ही ऐसा पद साहित्य उपलब्ध होता है जो उनकी अपनी निजी भक्ति भावना से स्फुरित है। कृष्ण गीतावली और गीतावली में कृष्ण और राम की कथा का सूत्र है अत: निजीपन का शतप्रतिशत रूप तुलसीदास की विनयपत्रिका में पूर्ण रूप से व्यक्त हुआ है। प्रत्येक पद भावोन्मेष का उदाहरण है। आरम्भ के इक्यासी पद, जिनमें से अधिकांश स्तोत्र शैली में है, कवि की अपने इष्टदेव के प्रति भक्ति भावना की उदात्तता की व्यंजना वरद वाणी में कर रहे हैं। उसके बाद के पदों में वैसी ही भावना है जैसी कि ज्ञानभक्ति शाखा के कवियों के अधिकांश पदों में अभिव्यंजित है। उदाहरणस्वरूप, उस निरामय ईश्वर के कर कमल अभय के दाता हैं। सर्वहितव्यापी, विश्व-उपकार में रत, संसार कांतार से अपने भक्तों का उद्धार करने की चिन्ता में सतत व्याकुल जो भगवान हैं, उनके पावन चरण कमलों की शरण ग्रहण करने पर किसके त्रास, पीड़ा, मोह एवं भ्रम का अन्त नहीं हो जाता ? किन्तु, कदाचित् मन का स्वभाव ऐसा है कि वह माया पाश से आवद्ध, द्वेष, मत्सर, राग के अभेद प्रत्यूह में त्रसित होते हुए भी करुणानिधान, विपुल गुणनिधान का अवलंब नहीं ग्रहण करता। इस प्रकार का स्वभाव त्याग कर, सरल चित्त से केवल एक बार तिमिर भंजक प्रभु की ओर एक क्षण के लिए अवलोकन करने पर, अपार कृपा राशि के प्रकाश से मानव तन आलोकित हो सकता है।

इस प्रकार की भावनाएं व्यक्त करने में निगुण व सगुण दोनों धाराओं की शैलियों में उपदेशात्मकता का नितान्त अभाव है। उसके स्थान पर भावाकुलता, निजीपन-एवं सहज गांभीर्य है। दोनों धाराओं के अनेक पद ऐसे हैं जिनमें केवल राम नाम का महत्व तथा उसकी महिमा को विभिन्न भावों के आधार से प्रकाशित किया गया है।

भक्तिभाव का उद्वेलन

ज्ञानभक्ति शाखा, कृष्णभक्ति शाखा और रामभक्ति शाखा में अगणित पदों के अन्तर्गत तीन प्रकार के भावों से प्रेरित पदों का आधिक्य है। पहले प्रकार के पद वे कहे जा सकते हैं जो भक्तिभाव के उद्वेलन के फलस्वरूप भक्त की दीनता तथा भगवान की समर्थता का चित्र अंकित करते हैं। इस प्रकार के पदों के अन्तर्गत कई कोटियाँ निर्धारित की जा सकती हैं जिनमें से विशेष हैं दैन्य सम्बन्धी पद, मन का स्वभाव कथन तथा मन प्रबोध, प्रभु की करुणाशीलता, कृपालुता तथा पतित पावन स्वभाव का वर्णन करते हुए शरणागति का महत्त्व प्रदर्शन, भगवान के समक्ष भक्त की ढीठता और भगवान से होड़ लगाने से सम्बन्धित पद; तथा अन्त में भगवान के कृपा प्राप्त भक्त के भगवान से ही माता, पिता, मित्र, बन्धु, प्रिय आदि सभी सम्बन्ध स्थापित हो जाने से सम्बन्धित पद।

दैन्य

'हम न मरैं मरिहै संसारा' की घोषणा करने वाले कबीर भी बड़े दैन्य भाव से ईश्वर के

सम्मुख अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए विनती करते हैं कि हे ईश्वर अब तुम ही मेरी लज्जा की रक्षा करो। जितनी भी कालिख लग गई है सब छुटा दो।[१] बिना राम की भक्ति के इस दास की अधम गति का उद्धार कभी नहीं सम्भव है।[२] अतः हे माधव अब तुम शीघ्र दया करो, पता नहीं तुम कब द्रवित होगे?[३] इसी प्रकार दैन्य प्रदर्शित करते हुए रामभक्ति शाखा के कवि तुलसीदास कहते हैं कि मेरे कर्म, स्वभाव आदि सब बड़े निम्न कोटि के हैं, मैं भक्ति भाव से भी नहीं परिचित हूँ, सभी प्रकार से मेरी बिगड़ चुकी है, बस एक ही बात बनी है, कि मैंने अपनी यह हीनता तुम्हारे सामने प्रदर्शित कर दी है।[४] हे नाथ। अब मैं दीन होकर तुम्हारी कृपा का ही पंथ दिनरात देख रहा हूँ। हे दीनदयाल! कुछ समझ में नहीं आता वह तुम्हारी कृपा कब मुझपर होगी।[५] कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों ने भी कुछ पदों में दैन्यभाव का प्रकटीकरण किया है। मीरा ईश्वर की स्तुति करते हुए कहती हैं मीरा दासी है, गिरधर लाल ही उसके स्वामी हैं, गिरधर लाल मेरी विपत्ति का हरण करो।[६] हरि ही मेरे प्रतिपाल हैं। मैं उनकी चेरी हूं, उनके बिना मेरी क्या गति होगी।[७] सूरदास कहते हैं कि हे प्रभु मैं विनती करते हुए लज्जा से मरा जाता हूं। नख से शीश तक मेरा यह शरीर पाप का जहाज है।[८] अब की बार मेरी रक्षा कर लो।[९] मैं मोह के सिवार में उलझ गया हूँ, किसी ओर भी पैर रखता हूँ तो और उलझ जाता हूं, इस बार प्रभु मेरा उद्धार कर लो।[१०] मैं महा पतित हूं, किंचित् मात्र भी कभी तुम्हारे काम नहीं आया।

---

१. बीनती एक राम सुनि थोरी, अब न बचाइ राखि पति मोरी ।।टेक ।।
जैसैं मंदला तुमहि बजावा, तैसें नाचत मैं दुख पावा।।
जे मसि लागी सबै छुड़ावौ, अब मोहि जिनि, बहु रूपक छावौ ।।
कहै कबीर मेरी नाच उठावौ, तुम्हारे चरन कवल दिखलावौ ।।७८।।
कबीर ग्रंथावली, पृ० ११३।

२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३५, पद सं० १४६।

३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १९२—"माधौ कब करिहौ दया।"

४. विनय पत्रिका, पृ० २९३, पद सं० १८२।

५. नाथ! कृपा ही को पंथ चितवत हौं दिनराति।
होइधौं केहि काल दीनदयालु! जानि न जाति।।१।।
विनय पत्रिका, पृ० ३५५, पद सं० २२१।

६. हरि थे हर्या जन री भीर।। टेक।।
दासी मीरा लाल गिरधर, हरां म्हारा मीर।।६१।। मीरा पदावली पृ० १२०।

७. हरि बिन कूण गति मेरी।। टेक।।
तुम मेरे प्रतिपाल कहिये, मैं रावरी चेरी। वही, पद सं० ६२।

८. सूर सागर, पहला खंड, पृ० ३०, पद सं० ९६।

९. सूर सागर, पहला खंड, पृ० ३१ पद सं० ९७।

१०. सूर सागर, पहला खंड, प० ३१ पद सं० ९९।

तुम महाराजा हो, ब्रज के राजा हो, मझे इस भवसागर से पार उतार देना। कोई नया काम करने को तुमसे नहीं कह रहा हूँ, तुम सदा से ही गरीब निवाज रहे हो।[१] हे नाथ तुम शारंगधर हो, दीन पर कृपा करो, भव त्रास से भयभीत मेरी रक्षा कर लो।[२] मैं अत्यन्त कुटिल, कुचील, कुदरसन सदैव विषयों के साथ रहनेवाला हूँ, नाथ तुम मेरी क्या गति करोगे।[३] तुम सबके अंतर्यामी हो, हे करुणामय तुमसे कुछ भी छिपा नहीं है, मेरे समान कुटिल, खल और कामी भला कौन है।[४] तुम्हारे समान और कोई समर्थ नहीं है, हे बनवारी अपनी व्यथा और किससे कहूँ, कौन है जो हमारी यह दीन विनती सुनेगा?"[५]

इस प्रकार यह द्रष्टव्य है कि भक्ति साहित्य की दोनों धाराओं के पद साहित्य का एक अंश निश्चित रूप से दैन्य भाव की प्रेरणा के फलस्वरूप उद्भूत हुआ था।

मन का स्वभाव तथा मन प्रबोध

मन का स्वभाव ऐसा है कि वह सांसारिक विषय लोभ के अस्थायी सुख को अपना लक्ष्य समझ लेता है। ज्ञानभक्ति शाखा के कवियों ने इस भावना से प्रेरित हो अनेक 'सबदों' की रचना की है और मन को प्रबोध दिया है। कबीर कहते हैं कि मन का स्वभाव ऐसा है कि वह ईश्वर की

---

१. कीजै प्रभु अपने बिरद की लाज।
   महा पतित, कबहूं नहि आयो, नैकुं तिहारे काज।
   दई न जात खेवट उतराई, चाहत चढ़यो जहाज।
   लीजै पार उतारि सूर को, महाराज ब्रजराज।
   नई न करन कहत प्रभु, तुम हो सदा गरीब निवाज॥१०८॥
   सूर सागर, पहला खंड, पृ० ३५।

२. (श्री) नाथ सारंगधर कृपा करि दीन पर, डरत भव-त्रास तैं राखि लीजै।
   वही, पृ० ३९, पद सं० १२०।

३. कौन गति करिहौ मेरी नाथ।
   हौ तो कुटिल, कुचील, कुदरसन, रहत विषय के साथ।
   वही, वही, पृ० ४१, पद सं० १२५।

४. मो सम कौन कुटिल खल कामी।
   तुम सौं कहा छिपी करुनामय, सब के अंतरजामी।
   सूरसागर, पहला खंड, पृ० ४९, पद सं० १४८।

५. कौन सुनै यह बात हमारी,
   समरथ और देखौं तुम बिन कासौं बिथा कहौं बनवारी।
   वही, वही, पृ० ५३, पद सं० १६०।

प्रतीति नहीं करता, कपट पाखंड ही उसे अच्छा लगता है।[1] मन को समझाते हुए संत कविगणों ने कहा है कि मन तुम जागते रहना, विषयों की लालसा चोर के सदृश मनुष्य के अन्तर्मन में पैठकर उसको लूट लेती है।[2] मन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि लोभ मोह का भ्रम छोड़कर निश्शंक भाव से ईश्वर का भजन करो, चंचलता का, अनिश्चय का हावभाव छोड़ दो।[3] मन ने जब से राम नाम कहना आरम्भ कर दिया है तब से उसके पास और कुछ कहने को नहीं रह गया।[4]

रामभक्ति शाखा के साहित्य में भी ऐसे पदों के उदाहरण मिलते हैं जो मन के मूढ़ स्वभाव की खिन्नता के परिणाम स्वरूप व्यक्त हुए हैं। तुलसीदास कहते हैं रामभक्ति की देवगंगा छोड़ कर ओसकणों की आशा में मन संलग्न रहता है। इसकी कुचालें इतनी अधिक हैं कि हे कृपानिधि कहाँ तक कहूँ।[5]

कृष्णभक्त सूरदास इसी प्रकार अपना क्षोभ प्रकट करते हैं कि यह मन निपट निर्लज्ज है, अनीति में व्यस्त रहता है, विषय विलास की प्रीति में मरा जाता है।[6] कवि मन को प्रबोध

---

१. कहै कबीर प्रतीति न आवै, पाषंड कपट इहै जिय भावै ॥१४३॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० १३४।

२. मन रे जागत रहियै भाई।
गाफिल होइ बसत मति खोवै, चोर मुसैघर जाई ॥ टेक ॥
वही, पृ० ९६, पद सं० २३।

३. डगमग छाड़ि दे मन बौरा।
अब तौ जरे बरे बनि आवै, लीन्हों हाथ सिघौरा ॥ टेक ॥
होइ निसंक मगन ह्वै नाचौ, लोभ मोह भ्रम छाड़ौ।
वही, पृ० १२९, पद सं० १२९।

४. मन रे जब तैं राम कह्यौ,
पीछै कहिबे कौ कछू न रह्यौ ॥ टेक ॥
वही, पृ० १७८, पद सं० २६५।

५. ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम भगति सुरसरिता, आस करत ओसकन की ॥
× × ×
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि ! जानत हौ गति जन की।
विनय पत्रिका, पृ० १६०, पद सं० ९०।

६. रे मन, निपट निलज अनीति।
जियत की कहि को चलावै, मरत विषयनि प्रीति।
सूरसागर, पहला खंड, पृ० १०५ पद सं० ३२१।

देते हुए कहता है कि अरे मन राम से प्रीति कर।[१] पता नहीं कृष्ण कहते हुए तेरा क्या जाता है,[२] दस दिन का जीवन है, गोविंद का भजन कर ले।[३] मीरा मन को शिक्षा देते हुए कहती हैं कामक्रोध, मद लोभ मोह को चित्त से बहा कर राम नाम के रस का पान कर।[४] जिस समय मन राम के नाम का स्मरण कर लेता है उस समय उसके कोटि पाप भी कट जाते हैं।[५]

प्रभु का कृपालु स्वभाव, शरणागति

प्रभु का स्वभाव इतना कृपाल है कि भक्त जैसे ही शरण ग्रहण करता है, वे उसका उद्धार कर देते हैं।[६] हे ईश्वर! तुम्हारे समान दीनवत्सल करुण स्वभाव वाला दूसरा कोई बहुत ढंढ़ने पर भी नहीं मिलेगा, इसीलिए मैं तुम्हारी शरण आया हूँ।[७] जगतपिता जगदीश इतने भक्तवत्सल हैं कि अपने भक्तों की ढिठाई भी सहन कर लेते हैं।[८] इसी बात को मन में अच्छी तरह समझ कर सूरदास ऐसा कामी कुटिल भव त्रास से पीड़ित होकर ईश्वर की शरण में आया है।[९] कोई भी ईश्वर की शरण में चला जाय उसका उद्धार भगवान अवश्य करेंगे। शरण में गए हुए किस किस को उन्होंने

---

१. रे मन, राम सौं करि हेत। वही, पृ० १०२, पद सं० ३११।

२. तिहारो कृष्ण कहत कह जात? वही, वही पृ० १०३, पद सं० ३१३।

३. दिन दस लेहि गोबिंद गाइ। वही, पृ० १०३, पद सं० ३१५।

४. राम नाम रस पीजै मनुआ, राम नाम रस पीजै॥ टेक॥
तन कुसंग सतसंग बैठि नित, हरि चरचा सुण लीजै॥
काम क्रोध मद लोभ मोह कूं, बहा चित से दीजै॥
मीरा पदावली, पृ० १६० पद सं० १९९।

५. म्हारो मन सांवरो णाम रट्यारी॥ टेक॥
सांवरो णाम जपा जग प्राणी, कोट्यां पाप काट्या री॥...२००॥
मीरा पदावली, पृ० १६०।

६. दास कबीर कौ ठाकुर ऐसो, भगत की सरन उबारे॥१२२॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० १२७।

७. ताहि तें आयो सरन सबेरें।
तुम सम ईस कृपालु परमहित पुनि न पाइहौं हेरें।
विनय पत्रिका, पृ० ३००, ३०१, पद सं० १८७।

८. बासुदेव की बड़ी बड़ाई।
जगत पिता, जगदीस, जगदगुरु, निज भक्तनि की सहत ढिठाई।
सूरसागर, पहला खंड, पृ० १, पद सं० ३।

९. यहै जिय जानि कैं अंध भव त्रास तैं, सूर कामी-कुटिल सरन आयौ॥५॥
सूरसागर, पहला खंड, पृ० २।

नहीं उबारा ? जब भी किसी भक्त पर आपत्ति आई, भगवान ने अपना सुदर्शन चक्र सँभाला।[1] भक्तों की भलाई के लिए ईश्वर ने क्या नहीं किया ?[2]

इस प्रकार अनेक पदों में निर्गुण व सगुण दोनों धारा के भक्त कवियों ने ईश्वर की करुणाशीलता, भक्तवत्सलता, व पतित पावन स्वभाव का वर्णन करते हुए शरणागति का महत्व दिखाया है।

भक्त की ढीठता

एक ओर निर्गुण एवं सगुण दोनों धाराओं के भक्त अपने ईश्वर के समक्ष अतिदीन है, कोटि अघों के समूह हैं, अत्यन्त हीन हैं, भव त्रास से पीड़ित हैं, परन्तु दूसरी ओर ऐसे पद मिलते हैं जिनसे भक्तों की भगवान के समक्ष ढीठता के उदाहरण मिलते हैं, भक्त भगवान से होड़ लगाने का साहस रखते हैं। ज्ञानभक्ति शाखा के पदों में भी इस प्रकार का भाव कहीं कहीं दिखाई देता है।[3] रामभक्ति शाखा में भी भक्त के हठ व ढीठ व्यवहार के उदाहरण मिलते हैं। भक्त का हठ

---

१. सरन गए को को न उबार्‌यौ।
जब जब भीर परी संतनि कौं, चक्र सुदरसन तहाँ संभार्‌यौ॥
सूरसागर, पहला खंड, पृ० ५, पद सं० १४।

२. भक्तनि हित तुम कहा न कियौ ?
गर्भ परीच्छित रच्छा कीन्हीं, अंबरीष-ब्रत राखि लियौ।
× × ×
सूरदास प्रभु भक्त-बछल हरि, बलि द्वारै दरवान भयौ॥२६॥
सूर सागर, पहला खंड, पृ० ९,
तातैं जानि भजै बनवारी, सरनागत की ताप निवारी।
जन प्रहलाद-प्रतिज्ञा पारी। हिरनक सिपु की देह बिदारी।
ध्रुवहिं अभै पद दियौ मुरारी। अंबरीष की दुर्गति टारी।
द्रुपद सुता जब प्रगट पुकारी। गहत चीर हरि नाम उबारी।
गज गनिका, गौतम तिय नारी, सूरदास सठ, सरन तुम्हारी॥२८॥
वही, वही पृ० १०।
नाथ अनाथनि ही के संगी।
दीनदयाल, परम करुनामय, जन-हित हरि बहु रंगी।...२१॥
वही, वही पृ० ७।

३. जे मसि लागी सबै छड़ावौ, अब मोहि जिनि बहु रूपक छावौ।
कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११३, पद सं० ७८।
जौं कासी तन तजै कबीरा, तौ रामहि कहा निहोरा रे॥ टेक॥
वही, पृ० २२१, पद सं० ४०२।

है कि वह प्रभु का ही है, जैसा भी खोटा खरा है, राम का ही है।[1] जब तक 'हे राम तुम नहीं कहोगे कि 'तू मेरा है' तब तक मैं आपका द्वार नहीं छोड़ूंगा।[2] और तुमने अपना लिया है यह तभी समझूंगा जब उसी कुटिल स्वभाव को तुम्हारी भक्ति में निरत हुआ देखूंगा जो अभी तक विषयों से प्रीति जोड़ रहा था।[3] सूरदास सबसे अधिक ढीठ भक्त की भाँति कहते हैं कि प्रभु मझसे तो तुम्हीं से होड़ पड़ गई है। मेरी तरह गूढ़ गंभीर खरा पतित तुम्हें भला कहाँ उद्धार करने के लिए मिलेगा। मेरी मक्ति की बात सोचते हो? परन्तु तुम सोच लो, प्रहर घड़ी परिश्रम करना पड़ेगा। इतना श्रम करना पड़ेगा कि पसीना छूटने लगेगा।[4] यदि इतने पर भी तुम्हारा साहस हो तो मेरा उद्धार करो।[5] मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि तुमने मेरे जैसे पापी का आज तक नहीं उद्धार किया।[6] मैं

---

१. खोटो खरो रावरो हौं, रावरी सौं, रावरे सो झूठ क्यों कहौंगो, जानो सब ही के मन की।
करम बचन-हिए, कहौं न कपट किए, ऐसी हठ जैसी गाँठि पानी परे सन की।
विनय पत्रिका, पृ० १४२, पद सं० ७५।

२. पन करि हौ हठि आजु तें रामद्वार पर्‌यो हौ।
'तू मेरो' यह बिन कहे उठिहौ न जनमभरि, प्रभ की सौं करि निबर्‌यौ हौं।
दै दै धक्का जमघट थके, टारे न टर्‌यो हौं।
उदरदुसह सांसति सही बहुबार जनमि जग, नरक निदरि निकर्‌यो हौं।
हौं मचला लै छांड़िहौं, जेहि लागि अर्‌यो हौं।
तुम दयाल, बनिहै दिये, बलि, विलंब न कीजिए जात गलानि गर्‌यो हौं।
प्रगट कहत जो सकुचिए, अपराध भर्‌यो हौं।
तौ मन में अपनाइये, तुलसीहि कृपा करि, कवि बिलोकि हहर्‌यौ हौं।
विनय पत्रिका, पृ० ४२०, पद सं० २६७।

३. तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाव विषयनि लग्यो, तेहि सहज नाथ सो नेह छाड़ि छल करिहै।
वही, प० ४२१, पद सं० २६८।

४. मोहि प्रभु तुमसों होड़ परी।
अधम समूह उधारन कारन, तुम जिय जक पकरी।
मोकौ मुक्ति बिचारत हो प्रभु, पचिहौ पहर घरी।
श्रम तें तुम्हें पसीना ऐहै, कत यह टेक करी?
सूरसागर, पहला खंड, पृ० ४३, पद सं० १३०।

५. नाथ सकौ तो मोहि उधारो।
वही, वही, वही, पद सं० १३१।

६. तुम कब मोसोपतित उधार्‌यौ।
काहे को बिरद बुलावत, बिन मसकत को तार्‌यौ।
वही, वही पृ० ४४, पद सं० १३२।

तो सात पीढ़ियों का पतित हूं। अब तो मैं अपना असली रूप प्रकट करके तुमको विरद रहित करके ही छोड़ूंगा। क्यों अपनी प्रतीति खोते हो। मैं तभी उठूंगा जब तुम हंस कर बीड़ा दोगे, मुझे अपनाने का वचन दोगे।[१] जो तुम्हें करना हो, संकोच त्याग कर कह दो। व्रीड़ा की कोई आवश्यकता नहीं, यदि तुम मेरा उद्धार न कर सको तो कोई दूसरा बता दो।[२] या तो हार मान लो या अपना विरद सत्य सिद्ध करो।[३]

इस प्रकार दोनों धाराओं के भक्त कवियों ने प्रभु के समक्ष अपनी ढिठाई भी प्रदर्शित की है। किन्तु भगवान के सामने इस प्रकार की ढिठाई का कारण इन भक्तों की अनन्य भक्ति ही थी। इस प्रकार के भावों से प्रेरित होकर जितने भी पद लिखे गए हैं उनमें एक नया ही सौंदर्य व सरसता अभिव्यंजित हो रही है।

ईश्वर से ही सब सम्बन्ध

सच्चिद्व्यापकानंद परब्रह्म को निराकार निर्गुण मानते हुए भी निर्गुण भक्ति धारा के संतों ने ईश्वर से अनेक व्यक्तिगत सम्बन्धों की कल्पना की है। धरमदास भावना के अतिरेक में दीनबंधु 'साहेब' को गुरु माता पिता सब कुछ कहते हैं।[४] कभी ब्रह्म को 'साहब' कह कर अपने आप को उसका सच्चा 'गलाम' कह कर अपनी चूक मिटाने की प्रार्थना करते हैं।[५] कबीर भी अपना तन

---

१. आज हौं एक एक करि टरिहौं।
कै तुमही कै हमही माधो, अपने भरोसें लरिहौं।
हौं तो पतित सात पीढिनि को, पतिते ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नच्यौ चाहत हौं, तुम्हें बिरद बिन करिहौं।
कत अपनी परतीति नसावत, पायौ हरि हीरा।
सूर पतित तबहीं उठिहै, प्रभ जब हंसि दैहौं बीरा॥१३४॥
सूरसागर, पहला खंड, पृ० ४४।

२. मोसों बात सकुच तजि कहियें।
कत ब्रीड़त कोउ और बतावो, ताही के ह्वै रहिए।
वही, पृ० ४५, पद सं० १३६।

३. कै प्रभ हारि मानि कै बैठो, कै करो विरद सही।
वही, वही, वही पद सं० १३७।

४. साहेब दीनबंध हितकारी॥ टेक॥
कोटिन ऐगुन बालक करई, मात पिता चित एक न धारी।
तुम गुरु मात पिता जीवन के, मै अति दीन दुखारी॥
धरमदास जी की बानी, पृ० २०।

५. साहेब मेटो चूक हमारी।
वही पृ० २१।

मन धन राम जी को सौंपकर उनके गुलाम हो गए हैं।[१] धरनीदास अपने को ईश्वर का दास बताते हैं।[२] एक दूसरे पद में ईश्वर की दासी बन जाते हैं।[३] कबीरदास ईश्वर को अपना माता पिता समझते हैं।[४] किन्तु सबसे अधिक प्रभावात्मक पद वे हैं जिनमें ईश्वर को प्रिय के रूप में ग्रहण किया गया, धरनीदास ईश्वर को अपना 'पिया' मानकर पतिव्रत ठानते हैं।[५] कबीरदास कहते हैं कि हरि ही मेरे 'पीव' हैं मैं उन्हीं की 'बहुरिया' हूँ।[६]

इस प्रकार के सम्बन्धों की अनुभूति करते हुए रामभक्ति शाखा एवं कृष्णभक्ति शाखा के साहित्य में भी अनेक पद मिलते हैं।

नाम महिमा से सम्बन्धित पद

निर्गुण सगुण दोनों भक्ति धाराओं के साहित्य में नाममहिमा का प्रभाव प्रदर्शित करने वाला विपुल पद साहित्य है। राम नाम के रस के सदश अन्य कोई रस मीठा नहीं

---

१. मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं, तन मन धन मेरा राम जी के ताईं ॥ टेक ॥
कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२४।

२. सांई मैं असल गलाम तुम्हारा ॥ ॅक ॥
वही, पृ० २४।
(सेइये सुसाहिब राम सो; तुलसीदास, विनयपत्रिका, पृ० २६९ पद सं० १५७)
तुम बिस्वास दास मन मान
जुग जुग भगत बछल की बान।
धरनीदास जी की बानी, पृ० २०।

३. अब हरि दासि भई, तातें गही चरन चित्त लाय। वही पृ० २४।

४. बाप राम सुनि बीनती मोरी, तुम्ह सूं प्रगट लोगनि सूं चोरी ॥ टक ॥
कहै कबीर बाप राम राया, अबहूं सरन तुम्हारी आया ॥३५७॥
कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०७।

५. पिया मोरे मन मान्यो, पतिव्रत ठानो हो।
धरनीदास जी की बानी, पृ० १।

६. हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव,
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ॥ टेक ॥
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया,
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ॥
किया स्यंगार मिलन कै ताईं,
काहे न मिलौ राजा राम गुसाईं ॥
कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२५, पद सं० ११७।

है।[1] कोई एक बूंद ही राम नाम का रस पान करा दे।[2] सिद्ध साधक चाहे जिस गति को प्राप्त कर लें परन्तु राम नाम के बिना सब गँवा देते हैं।[3] जब राम नाम का रसायन मनष्य पी लेता है तब काल को मिटा कर वह सच्चे रूप में जीवित होता है।[4]

सगण भक्ति धारा में ईश्वर के रूप गण नाम तीनों को ही मान्यता मिली थी। अतः रूप व गुणों के साथ नाम के प्रभाव से सम्बन्ध रखने वाले अनेक पद रामभक्ति व कृष्णभक्ति दोनों ही शाखाओं के अन्तर्गत उपलब्ध होते हैं।[5]

नाम महिमा से सम्बन्धित पदों में मात्र महिमा कथन नहीं है, अथवा ईश्वर के नाम का महत्व शुष्कता के साथ उपदेश के रूप में नहीं वर्णित है, वरन् भक्त ने स्वयं अनुभति की है कि नाम का क्या प्रभाव है, भक्त का साकार आधार एक नाम ही है। इसलिए नाम को लेकर सरस, सहज भावाकुलता से आविष्ट पद साहित्य की रचना सम्भव हो सकी है।

इस प्रकार भगवान के कल्याणकारी गुणों तथा नाम की अनुभूति से विह्वल होकर निर्गुण और सगुण दो भक्ति धाराओं में विपुल पद साहित्य का सृजन हुआ।

भगवान के रूप से आत्मविभोर होकर सगुण भक्तिधारा के सभी कवियों ने बड़े सुन्दर पद लिखे हैं। निर्गुण भक्तिधारा की ज्ञानभक्ति शाखा के सन्तों को ईश्वर के साकार रूप पर विश्वास नहीं था, इसलिए इस प्रकार के पद इस धारा में नहीं मिलते। प्रेमभक्ति शाखा में रूप वर्णन है, पर वह पदों के रूप में अनपलब्ध है। रामभक्ति शाखा में रूप वर्णन सम्वन्धी पदों की अपेक्षा कृष्णभक्ति साहित्य के इस प्रकार के पद अधिक मार्मिक हैं। परिमाण व गुण दोनों ही दृष्टियों से कृष्णभक्ति शाखा के रूप वर्णन सम्बन्धी पद हिन्दी साहित्य की एक अनुपम निधि हैं।

---

१. इहि चिति चाषि सबै रस दीठा,
   राम नाम सा और न मीठा। वही, पृ० १३६, पद सं० १४८।
२. एक बूंद भरि देइ राम रस, ज्यं भरि देइ कलाली ॥ टेक ॥
   वही, पृ० १३८, पद सं० १५५।
३. सिध साधिक कहैं हमसिधि पाई,
   राम नाम बिन सबै गंवाई॥ वही, प० १३५, पद स० १४६।
४. जब राम रसाइन पीया, तब काल मिट्या जन जीया।
कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४६, पद सं० १७३।
५. विनय पत्रिका, पृ० २०७, पद सं० १२९।
   विनय पत्रिका, पृ० १३५, पद सं० ६९।
   विनय पत्रिका, पृ० २५८, पद सं० १५६, आदि।
   रामनाम सुमिरन बिनु, वादि जनम खोयौ।
   राम नाम भजि लै, तजि और सकल धंधा ॥३३०॥ सूरसागर, पहला खंड, पृ० १०९।
   अद्भुत राम नाम के अंक। वही, वही, प० २९, पद सं० ९०।
   को को न तर्यौ हरि नाम लिये। वही, वही, वही, प० सं० ८९; आदि।

माधुर्यभाव से सम्बन्धित पद रचना

तुलनात्मक दृष्टि से भक्ति साहित्य की दोनों धाराओं के पद साहित्य में शृंगार सम्बन्धी पद भी ध्यान आकृष्ट करते हैं। नीरस योग साधना से सम्पन्न समझे जाने वाले ज्ञानभक्ति शाखा के संतों के अनेक पद शृंगार रस से आद्यन्त आप्लावित हैं। शृंगार के दोनों ही पक्ष संयोग व वियोग से सम्बन्धित पद रचना ज्ञानभक्ति शाखा के संतों ने की है। परन्तु जितने भी पद इस शाखा में इस प्रकार के हैं वे सभी प्रतीकात्मक हैं। रामभक्ति शाखा के शृंगार सम्बन्धी पदों पर नैतिकता का अंकुश है। परिणाम की दृष्टि से भी वे कम हैं। कृष्णभक्ति शाखा के कृष्णभक्तों ने विपुल पद साहित्य की रचना माधुर्य भाव को लेकर की है। रति के केवल संयोग पक्ष को लेकर हित हरिवंश और उनके सम्प्रदाय के अन्य कवियों ने अत्यधिक पद साहित्य का सृजन किया। माधुर्य भाव के संयोग के साथ वियोग के भी भाव को लेकर 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध कवियों की रचना में अनेक उदाहरण हैं। सूरसागर के दशम स्कंध का अधिकांश माधुर्य भाव से ही प्रेरित है, यह अंश निश्चित रूप से साहित्य की अनुपम निधि है। इस प्रकार के ज्ञानभक्ति शाखा के पदों में भी अद्भुत काव्यमयी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। भाव व कला दोनों ही दृष्टियों से दोनों धाराओं के माधुर्य भक्ति से समन्वित पद स्वतन्त्र अध्ययन का विषय हैं।

(ड) पद साहित्य में प्रयुक्त छन्द :

हिन्दी पद साहित्य भक्ति युग की विशिष्ट देन है, जो सभी ओर से अत्यधिक सम्पन्न है। विषय, भाव, सिद्धान्त, धर्म के साथ काव्य कौशल से भी हिन्दी का भक्तिपरक पद साहित्य भरपूर है। दोनों की विभिन्न लयों के अन्तर्गत अनेक छन्दों के साथ साथ छन्दों के भांति भांति के नए प्रयोग भी छिपे हुए हैं। निर्गुण भक्ति धारा का आरम्भ काल की दृष्टि से बहुत पहले ही हो गया था, उस समय साहित्य शास्त्र का ज्ञान हिन्दी के कवियों को समुचित रूप में न होने की हो सम्भावना अधिक थी। फिर भी इस धारा के प्रारम्भिक कवियों के पदों में भी निश्चित लय मिलती है, यह लय भावावेश में टूटती बराबर रही है, किन्तु इसका अस्तित्व है। कबीरदास, धरनीदास, दूलनदास, मलूकदास एवं धरमदास आदि संतों के पदों में अनेक छन्दों के प्रयोग मिल जाते हैं। जिनमें से कुछ प्रचलित छन्द सगुण भक्तिधारा के पद साहित्य में प्रयुक्त छन्दों की तुलना की दृष्टि से दिए जा रहे हैं।

सार

यह छंद १६, ११ के विश्राम से २८ मात्राओं का होता है। अंत में दो गुरु होते हैं। निर्गुण और सगुण दोनों भक्ति धाराओं के पद साहित्य में इसका प्रयोग मिलता है।

ज्ञानभक्ति शाखा : धरनीदास

धरनीदास ने इस छंद का प्रयोग अपने पदों में किया है। प्रत्येक पंक्ति के अंत में 'री' पृथक रूप से जोड़ दिया गया है——

जग मैं कायथ जाति हमारी।
पायो है माला तिलक दुसाला, परमारथ ओहदारी।
कागद जहं लगि करम कमायो, कँची ज्ञान रसारी।[1]

केशवदास

ज्ञानभक्ति शाखा के केशवदास ने सार छंद का प्रयोग अपने पदों में किया है। किसी किसी पद में प्रत्येक पंक्ति के अन्त में 'हो' जोड़ दिया गया है—

म्हारे हरि जू सूं जरलि सगाई हो।
तन मन प्रान दान दै पिय को, सहज सरूपम पाई हो।
अरध उरध के मध्य निरंतर, सुखमन चौक पुराई हो।[2]

जगजीवन दास

सार शब्द का शुद्ध रूप में प्रयोग किया है—

सांई मोहि सब कहत अनारी।
हम कहं कहत अजान अहैं येइ, चतुर सबै संसारी।
अहै अभेद भेद नहि जानत, सिखि पढ़ि कहत पुकारी।[3]

इसके अतिरिक्त कबीरदास, रैदास[4] आदि अनेक संत कवियों ने इस छंद का प्रयोग किया है।

रामभक्ति शाखा

तुलसीदास ने सार शब्द का प्रयोग अपने पदो में किया है—

खेलि खेल सुखेलनिहारे।
उतरि उतरि, चुचकारि तुरंगनि, सादर जाइ जोहारे।
बंध सखा सेवक सराहि, सनमानि सनेह संभारे।[5]

कृष्णभक्ति शाखा

इस शाखा के अनेक कवियों ने इस छंद का प्रयोग किया है। सूरदास, नंददास, कृष्णदास,

---

१. धरनीदास जी की बानी, पृ० ३।
२. केशवदासजी की बानी, पृ० ७।
३. संत काव्य, पृ० ४३५, पद सं० १८।
४. संत काव्य, प० २२३, पद सं० २४।
५. गीतावली, पृ० ८९, ९०, पद सं० ४६।

श्रीभट्ट, हरिदास स्वामी, हितहरिवंश, छीतस्वामी, एवं मीरा के पदों में यत्र तत्र सार छंद के उदाहरण मिल जाते हैं।[1]

वीर, लावनी

१६, १५ की यति से ३१ मात्राओं वाले वीर छन्द का अन्त गरु लघु से होता है। लावनी १६, १४ की यति से ३० मात्राओं का होता है। सहज उत्साह को प्रकट करने के लिए यह दोनों छंद दोनों भक्ति धाराओं में स्वीकार किये गये हैं।

निर्गुण भक्ति की ज्ञानभक्ति शाखा के धरनीदास ने लावनी का प्रयोग किया है—

तब कैसे करिहौ राम भजन।
अबहिं करौ जब कछु करि जानौ, अवचक कींच मिलैगो तन।
अंत समौ कत सीस उठैहो, बोल न ऐहै दसन रसन।[2]

तुलसीदास ने वीर छंद का प्रयोग किया है—

को जांचिये संभु तजि आन।
दीन दयाल भगत आरति हर, सब प्रकार समरथ भगवान।
कालकूट-जुर जरत सुरासुर, निज पन लागि किए विष पान।[3]

कृष्णभक्ति शाखा में भी वीर छन्द का प्रयोग पदों के अन्तर्गत हुआ है—

नियरे जाइ सुपेदी खैंचति, बहुरि बसन सों ढांपि रसाल।
मधु मेवा पकवान मिठाई, भामिनि लाई भरि भरि थाल।[4]

ध्रुवदास व सूरदास ने भी इस छंद का प्रयोग किया है जिससे पद की गति में आवेग का

---

१. जब ते स्याम सरन हौं पायो।
तब तें भेंट भई श्रीवल्लभ, निज पति नाम बतायो:
और अविद्या छांड़ि, मलिन मति, स्रुतिपथ आइ हटायो।
× × ×
इहि मन कैसे कै रहत राख्यो।
जिहि मधुकर ह् वै गिरिधर पिय को, बदन कमल रस चाख्यो।
जु कछुक मैं कीनी परबस ह् वै, ताही को सो साख्यो।
श्रीकृष्णदास, ब्रज माधुरी सार, पृ० १८१, १८३।

२. धरनीदास जी की बानी, पृ० १७, १८।

३. विनय पत्रिका, पृ० १४, पद सं० ३।

४. चतुर्भुजदास (अष्टछाप), पृ० ८५, पद सं० १४१।

आविर्भाव हो गया है।[१] नन्ददास ने एक पंक्ति सार की, एक पंक्ति वीर की रख कर नवीन प्रकार से प्रयोग किया है।[२]

दोहा

टेक के अनन्तर पदों में दोहा छन्द का पर्याप्त प्रयोग ज्ञानभक्ति, रामभक्ति व कृष्णभक्ति शाखा के कवियों ने किया है। कहीं कहीं बीच में या अन्त में दो मात्राओं का आविर्भाव इस छंद को एक नवीनता प्रदान करता है।

कबीर ने कहीं कहीं बड़ी लम्बी टेक के साथ शेष पूरे पद में दोहा छन्द का प्रयोग किया है।[३] वैसे भी छोटी टेक के साथ भी पदों में आद्यन्त दोहा छन्द के प्रयोग के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं।[४] मलूकदास ने टेक के साथ प्रत्येक दूसरी पंक्ति के बीच में तथा अन्त में दो मात्राएं जोड़ कर इस छन्द को कदाचित् बिलकुल नूतन रूप प्रदान कर दिया है—

माया काली नागिनी, जिन डसिया सब संसार हो।।टेक।।
इन्द्र डसा ब्रह्मा डसा, डसिया नारद व्यास।
बात कहत सिव को डसा, जेहि घरि एक बैठे पास हो।[५]

तुलसीदास ने भी दोहा छन्द पदों के अन्तर्गत प्रयुक्त किया है। एक पद में बिना किसी टेक के इसका प्रयोग किया गया है।[६] कुछ पदों में इस रूप में प्रयक्त है कि चार पंक्तियाँ दो दोहों से निर्मित हैं, चार पंक्तियाँ हरिगीतिका छन्द की हैं। इस प्रकार का क्रम पूरे पद में है—

कोसलपुरी सुहावनी सरि सरजू के तीर।
भूपावली मुकुटमनि नृपति जहां रघुवीर।।—दोहा
पुर नर नारि चतुर अति, धरमनिपुन रत नीति।
सहज सुभाय सकल उर, श्री रघवर-पद-प्रीति।—दोहा
श्री रामपद जलजात सबके प्रीति अबिरल पावनी।
जो चहत सुक सनकादि, संभु बिरंचि मुनि मन भावनी।

---

१. सूरसागर, पृ० ६८२, ध्रुवदास, पद्यावली, पृ० १, पद सं० १।
२. राम कृष्ण कहिए उठि भोर।
अवध ईस वे धनुषधरे हैं, यह ब्रज माखन चोर।—सार
उनके छत्र चंवर सिंहासन, भरत सत्रुहन लछमन जोर।—वीर
नंद० ग्रंथा० द्वितीय भाग, पृ० ४२९। पद सं० १८९।
३. कबीर ग्रंथावली, प० ९२, पद सं० १३।
४. वही पृ० ९४, पद सं० १८।
५. मलूकदास जी की बानी, पृ० ९।
६. गीतावली, उत्तरकांड, पृ० ४२१, पद सं० २१।

सबही के सुन्दर मंदिराजिर, राउ रंक न लखि करै।
नाकेस दुरलभ भोग लोग करहिं, न मन विषयनि हरे।[१]—हरिगीतिका

कृष्णभक्ति शाखा में भी दोहा छन्द को लेकर पदों के अन्तर्गत नए प्रयोग किए गए हैं। सूरदास ने दोहा रोला को मिश्रित करके एक बहुत विस्तृत पद की रचना की है—

तब पठयो ब्रज दूत, सुनी नारद मख बानी।
बार बार रिषि काज, कंस अस्तुति मख गानी।—रोला
धन्य धन्य मनिराज तुम, भलौ मंत्र दियौ मोहिं।
दूत चलायो तुरतहीं, अबहिं जाइ ब्रज होहि।[२]—दोहा

सूरदास ने दोहे के प्रत्येक चरण में कुछ शब्द जोड़ कर एक नया प्रयोग किया।[३]

रूपमाला

चौदह और दस मात्राओं की यति से इस छन्द के अन्त में गरु लघु का नियम होता है। ज्ञानभक्ति शाखा के मलूकदास ने इसका शद्ध रूप में प्रयोग किया है—

अब तेरी सरन आयो राम।
जबै सुनिया साध के मख, पतित पावन नाम।
यही जान पुकार कीन्हीं, अति सतायो काम।[४]

कृष्ण भक्ति शाखा के सूरदास ने इस छंद का प्रयोग किया है। एक उदाहरण—

हरि जु हमसौं करी माई, मीन जल की प्रीति।
कितिक दूरि दयालु, माधौ, गई अवधि बितीति।[५]

चौपाई, चौपई

इन दोनों १६ व १५ मात्राओं वाले छंदों का पदों में भी पर्याप्त रूप से उपयोग किया गया

---

१. गीतावली, उत्तर कांड, पृ० ४१५, ४१६, ४१७, पद सं० १९।
२. सूरदास, पहला खंड, पृ० ४६१, पद सं० ५८९।
३. निकसि कुंवर खेलन चले, रंग होरी।
मोहन नंद किसोर, लाल रंग होरी।
कंचन माट भराइ कै, लाल रंग होरी।
सोधे भरयो कमेर, लाल रंग होरी।
सूरसागर, दूसरा खंड, पृ० १२१४, पद सं० ३४८४।
लाल रंग होरी हटा देने पर दोहा शुद्ध रूप में निकल आयगा।
४. मलूकदास जी की बानी, पृ० ५।
५. सूरसागर, दूसरा खंड, पृ० १३७५, पद सं० ३९०५।

है। ज्ञानभक्ति शाखा के धरनीदास[1] कबीरदास[2] ने चौपाई का तथा चौपई का पृथक पृथक् भी और मिश्रित रूप में भी, दोनों प्रकार का प्रयोग किया है। रामभक्ति शाखा के तुलसीदास[3] के पदों में चौपाई का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है। चौपई का प्रयोग भी तुलसीदास ने अपने पदों में किया है। कृष्णभक्ति शाखा के कवियों ने अधिकतर दोनों छंदों के मिश्रित प्रयोग को अपने पदों में स्वीकार किया है, किन्तु कहीं कहीं स्वतंत्र प्रयोग भी मिल जाते हैं।

उपर्युक्त भक्ति साहित्य में प्रचलित छन्दों के अतिरिक्त ऐसे अनेक छन्द हैं जिनका भक्ति साहित्य की पृथक शाखाओं में विशेष रूप से प्रयोग हुआ है।

तोमर

१२ मात्राओं के इस छन्द का, धरनीदास ने, चौपई की एक पंक्ति बीच बीच में रख कर प्रयोग किया है।—

जहिया भइल गरू उपदेश। अंग अंग के मिटल कलेस।—चौपई
सुनत सजग भयो जीव। जनु अगिनी परै घीव।
उर उपजत प्रभु प्रेम। छुटि गे तब ब्रत नेम।[4]—तोमर

कृष्ण भक्ति शाखा में सूरदास ने इस छंद का प्रयोग किया है।

---

१. धरनी दास जी की बानी में चौपई का तोमर के साथ मिश्रित प्रयोग है।
जहिया भइल गुरू उपदेश। अंग अंग के मिटल कलेस।—चौपई
सुनत सजग भयो जीव। जनु अगिनी परै घीव।
उर उपजल प्रभु प्रेम। छुटिगे तब ब्रत नेम॥—तोमर
पृ० २, ३।

चौपाई— मैं निरगुनिया गुन नहिं जाना। एक धनी के हाथ बिकाना।
सोइ प्रभु पक्का मैं अति कच्चा। मैं झूंठा मेरा साहब सच्चा।
धरनीदास जी की बानी, पृ० १९।

२. चौपई—

तननां बनना तज्या कबीर, राम नाम लिखि लिया शरीर॥ टेक॥
जब लग भरौं नली का बेह, तब लग टूटै राम सनेह।
ठाढी रोवै कबीर की माइ, ए लरिका क्यूं जीवै खुदाइ।

अंतिम पंक्ति में भिन्न छन्द है—१६, १६ मात्रा।
कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९५, पद सं० २१।

३. विनय पत्रिका, श्री गणेशस्तुति, सूर्य स्तुति, पृ० १३, १४—चौपाई।

४. धरनीदास जी की बानी, पृ० २, ३।

बरवै

धरमदास ने बरवै के अन्त में दो मात्राएँ जोड़ कर नवीन प्रकार से इसको अपने पद में रखा है—

हंस उबारन सतगुरू, जग में आइया।
प्रगट भये कासी में, दास कहाइया।।[१]

त्रिपदी

इस छंद का कृष्ण भक्ति शाखा में विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। राधावल्लभी-सम्प्रदाय के हित हरिवंश एवं चतुर्भुजदास तथा अष्टछाप के सूरदास[२] ने इस छंद का बहुलता के साथ प्रयोग किया है। इस छंद के प्रथम द्वितीय चरण चौपई की भाँति तथा तृतीय चरण तोमर की भाँति होते हैं। चतुर्भुजदास (राधावल्लभी) की रचना 'द्वादश यश' से एक उदाहरण—

राग धनाक्षरी

नमो नमो जै श्री हरिवंश। सुमिरत होइ कलषता नंश।
विमल भक्ति रति मन बढ़े।
हरि जस सागर अन्त न लहो। सन्त प्रताप कछू कथि कहो।
दृढ़ प्रतीति करि मन गहै।[३]

वर्ण-वृत्त

उपर्युक्त मात्रिक छंदों के अतिरिक्त वर्णवृत्तों में त्रोटक का प्रयोग ज्ञानभक्ति, कृष्णभक्ति तथा रामभक्ति तीनों शाखाओं में मिलता है।

त्रोटक

चार सगण से युक्त त्रोटक का प्रत्येक चरण होता है। ज्ञानभक्ति शाखा में इस छन्द के प्रयोग का उदाहरण 'आगमनिगमबोध' में मिलता है—

सुत मानत मातु न तात जही। गुरु सेवन देवन दान कही।
कलि कौतुक घोर कठोर महा। सुखदुःखित को हरिनाम कहा।[४]

---

१. धरमदास जी की बानी, पृ० ३।
२. सरद सुहाई आई राति। चहुं दिसि फूलि रही बन-जाति।
देखि स्याम मन सुख भयौ।
सूरसागर, पहला खंड, पृ० ६६६, पद सं० ११९८।
३. द्वादश यश, श्री भक्ति प्रताप यश (३), पृ० १०।
४. आगमनिगम बोध, बोधसागर, पृ० ५३।

रामभक्ति शाखा में तुलसीदास ने रामचरित मानस में स्तुति के लिए इस छन्द का प्रयोग किया।

कृष्णभक्ति शाखा में भी इस छंद का प्रयोग मिलता है। श्री सेवक जी ने श्री हित धर्मिन कृत षष्ठ प्रकरण इसी वर्णवृत्त में लिखा है—

पहिलें हरिवंश सुनाम कहौं।
हरिवंश सुधर्मिनि संग लहौं॥
हरिवंश सुनाम सदा तिनके।
सुख सम्पत्ति दम्पत्ति जू तिनके।[१]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भक्ति साहित्य की निर्गुण व सगुण धारा की भिन्न भिन्न शाखाओं में अनेक छन्दों का पदों के अन्तर्गत समावेश किया गया। मात्रिक छन्दों का बहुलता के साथ प्रयोग हुआ। वर्ण वृत्तों में त्रोटक विशेष रूप से ज्ञानभक्ति, रामभक्ति तथा कृष्णभक्ति, इन तीनों शाखाओं के साहित्य में दृष्टिगत होता है। पदों में पंक्ति के प्रथमांश में १६ मात्राओं में अधिकांश पदों में समानता है। पंक्ति के अन्तिम अंश में समस्वरान्त होने का अधिक ध्यान रखा गया है।

टेक

पदों के प्रयोग में टेक का विशेष महत्व रहा है। टेक के दोनों ही धाराओं में विभिन्न नाम मिलते हैं। आस्ताई,[२] टेक,[३] टेर[४] रहाउ,[५] ध्रुव,[६] ये नाम अधिकतर पदों में हैं।

टेक से युक्त पदों में विभिन्न प्रकार की टेक मिलती हैं। किसी भी शाखा के साहित्य में इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है। निर्गुण धारा की ज्ञानभक्ति शाखा में कहीं कहीं बहुत लम्बी टेक मिलती है। कहीं कहीं दो पंक्तियों की भी टेक है।[७] अत्यन्त छोटी एक शब्द की टेक विनय-

---

१. श्री हित सुधा सागर, श्री सेवकवाणी जी, पृ० २६२।

२. प्रियारसिक विनोद, प्रियादास शुक्ल, पृ० ६१, पद सं० १; पृ० ७५, पद सं० १, २; पृ० ८०, पद सं० १३, १४; पृ० ८१, पद सं० १५; पृ० ८२, पद सं० १६, १७, १८; पृ० ८३, पद सं० १९, २०।

३. टेक, सबसे अधिक प्रयुक्त। तीनों शाखाओं के पद साहित्य में इसका प्रयोग।

४. 'टेर'—मीरा के पद, कबीर के पद।

५. 'रहाउ'—आदि ग्रंथ में ध्रुव को रहाउ की संज्ञा—संत काव्य भूमिका, पृ० ३५।

६. 'ध्रुव'—सूर सागर, संतों के पदों में।

७. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९३, पद सं० १५, १६।

पत्रिका में द्रष्टव्य है।[१] इस प्रकार के भी पद हैं जिनमें टेक आरम्भ में नहीं दी गई है। बीच में या अन्त में है। कुछ पदों में प्रत्येक पंक्ति के साथ टेक है।

कुछ ऐसे भी पद हैं जिनमें टेक के रूप में पृथक रूप में कोई पंक्ति नहीं है। टेक सम्बन्धी उपर्युक्त तथ्य निर्गुण भक्ति साहित्य तथा सगुण भक्ति साहित्य दोनों के पदों में सरलता से उपलब्ध हो जाते हैं।

(३) अन्य शैलियाँ

प्रबन्ध, मुक्तक तथा पदशैली के अतिरिक्त अनेक प्रकार की शैलियां भक्ति युग के निर्गुण सगुण दोनों धाराओं के साहित्य में मिलती हैं। परन्तु उपर्युक्त तीनों शैलियों के अतिरिक्त अन्य शैलियाँ तुलनात्मक दृष्टि से महत्व नहीं रखतीं। कारण यह है कि प्रत्येक शाखा की अपनी कुछ विशिष्ट शैलियां थीं, जो कि दूसरी शाखा में नहीं दृष्टिगोचर होतीं।

(क) नाटक :

रामभक्ति शाखा में निर्धारित समय के अन्तर्गत (१४००-१७०० ई०) दो नाटक लिखे गए। प्राणचंद चौहान का रामायण महानाटक, हृदयराम का भाषा-हनुमन्नाटक।

रामायण महानाटक

सं० १६६७ वि० में रचित यह नाटक दोहा चौपाई छंद में राम कथा को संवादों के माध्यम से प्रदर्शित करता है। नाटक के अन्त में कवि ने जो उद्देश्य बताया है उससे पता चलता है कि रामचरित का गान करने में कवि की निष्ठा थी, उसे विश्वास था कि जो रामचरित को 'बखान' कर कहता है उसके पाप नष्ट हो जाते हैं और धर्म में वृद्धि होती है। जो इस कथा को चित्त लगाकर सुनता है वह कभी यमपुर के निकट नहीं जाता। नारद बाल्मीकि और दुर्वासा ऋषि ने भी राम नाम की ही एक मात्र आशा की थी।[२]

---

१. जयति; देव; इस प्रकार की टेक विनय पत्रिका के अनेक पदों में है।
विनय पत्रिका, पृ० सं० ६५, पद सं० ३८—जयति।
विनय पत्रिका, पृ० सं० १२१, पद सं० ६१—देव।

२. रामचरित जो कहै बखाना। बाढ़ै धर्म पाप होए हाना।
अरु जो सुनै श्रवन चितलाई। सो जमपुर के निकट न जाई।
× × ×
नारद बालमीकि दुर्वासा। तिनहूँ राम नाम की आसा।
हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, डा० दशरथ ओझा, पृ० १२२।

हनुमन्नाटक

हृदयराम कृत यह नाटक सं० १६०० वि० में लिखा गया था। नाम के कारण यह संस्कृत हनुमन्नाटक का अनुवाद भासित होता है। किन्तु 'वस्तु संविधान, संवाद योजना आदि कई बातों में इतना अन्तर है कि हिन्दी नाटक को न तो संस्कृत का अनुवाद कह सकते हैं न रूपान्तर। हृदय-राम ने अंकों का संविधान अवश्य संस्कृत नाटक के अनुसार किया है। इस कारण इसका भी नाम हनुमन्नाटक रख दिया है।'[1]

इस नाटक में कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा, पदों का प्रयोग हुआ है। चौदह अंकों की छंद संख्या इस प्रकार है—१५, ८८, १०९, १६, ९४, ११६, ३४, ११९, १२९, ९२, ६९, ५८, १११, १३३। कुल छंद संख्या इस प्रकार ११८३ है।

इस प्रकार नाटक रामभक्ति शाखा में ही एकांतिक रूप से लिखे गए मिलते हैं।

सगुण भक्ति धारा की दूसरी शाखा कृष्ण भक्ति के साहित्य में लीला गान अपनी अनेक विलक्षणताओं से परिपूर्ण है। लीलागान के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की विधाएँ मिल जाती हैं, जिनमें भ्रमर गीत और 'रासलीला' को लेकर लिखा गया विशिष्ट काव्य अधिक महत्वपूर्ण है। भ्रमर गीत में गोपियों का उद्धव से भ्रमर के माध्यम से सरस संवाद बहुत व्यंजनात्मक है। जिससे सैद्धान्तिक दृष्टि से विशेषरूप से योगमार्ग और निर्गुण भक्ति पर प्रेम मार्ग और सगुण भक्ति की विजय दिखाई गई है। सूरसागर के अन्तर्गत 'भ्रमरगीत' तथा नंददास का 'भंवर गीत' इस शैली के सुन्दर उदाहरण हैं। रास के प्रसंग को लेकर सूरदास कृत सूरसागर के अन्तर्गत 'रास लीला' और नन्ददास की 'रासपंचाध्यायी' विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। नित्यकीर्तन और वर्षोत्सव भी इस शाखा की साहित्य रचना सम्बन्धी विशिष्ट विधाएँ हैं।

(ख) निर्गुण धारा की विशिष्ट शैलियाँ :

उपर्युक्त शैलियों का निर्गुण काव्य धारा में कोई आस्तित्व नहीं था। किन्तु निर्गुण निरा-कार पर विश्वास करते हुए निर्गुण धारा की अपनी भिन्न प्रकार की कुछ काव्य विधाएँ थीं।

अखरावट, बावनी :

अक्षरों को क्रमानुसार लेकर प्रत्येक पंक्ति का आरम्भ करना, इस शैली की विशेषता थी। प्रेमभक्ति शाखा के जायसी का 'अखरावट' प्रसिद्ध है।

ज्ञानभक्ति शाखा में इस शैली में कई कवियों ने अपनी ग्रन्थ रचना की। कबीर के नाम से एक 'अखरावती' उपलब्ध होती है।[2]

देवनागरी की वर्णमाला के बावन अक्षरों से क्रमानुसारपंक्तियों का आरम्भ करने के कारण इस शैली का नाम 'बावनी' भी पड़ गया। कबीर की 'ग्रंथ बावनी', रज्जब की 'प्रथम बावनी'

---

१. वही, वही, पृ० १२२।
२. संत काव्य, पृ० ४१।

तथा 'बावनी अक्षर उद्धार', सुन्दरदास की 'बावनी', भीषजन की 'बावनी' तथा हरिदास की 'बावनी योग' इस शैली के उदाहरण हैं। यह अवश्य है कि इस प्रकार के ग्रन्थों में अक्षरों का यथा-नुसार क्रम नहीं उपलब्ध होता है। परन्तु यह शैली की दृष्टि से एक भिन्न विधा निश्चित रूप से थी। बाबा धरनीदास ने अपने इस प्रकार के ग्रंथ का नाम 'ककहरा' रखा है।

बारहमासा

आदिग्रन्थ में बारहमासा को 'बारहमाहा' कहा गया है।[१] प्रत्येक महीने का वर्णन करते हुए प्रत्येक मास में किये जाने वाले कार्य, विरह वर्णन, सिद्धान्त वर्णन और कहीं कहीं प्रकृति के सौन्दर्य वर्णन भी मिल जाते हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों में वर्ण्य विषय के वैभिन्न्य की भांति किस मास से बारहमासा वर्णन प्रारम्भ हो इसका भी निश्चित विधान नहीं है। अर्जुन देव और सुन्दर-दास ने बारहमासा चैत से आरम्भ किया है। गुलाल और भीखा साहब ने आषाढ़ से, प्रारम्भ किया है। तुलसी साहब ने दो बारहमासे लिखे हैं, एक लावनी छंद में, दूसरा दोहाछन्द में। दोहे छन्द वाला बारहमासा सावन से प्रारम्भ होता है। शिवदयाल ने सबसे बड़ा बारहमासा लिखा। सालिगराम ने अपने बारहमासा में सुरत की ऊर्ध्वयात्रा का वर्णन किया है।

रमैणी, अष्टपदी

कबीर ने एक भिन्न प्रकार की शैली 'रमैणी' की रचना की।[२] इसके अन्तर्गत 'सतपदी रमैणी'[३] 'बड़ी अष्टपदी रमैणी',[४] 'दुपदी रमैणी'[५] 'अष्टपदी रमैणी',[६] 'बारह पदी रमैणी'[७] तथा 'चौपदी रमैणियों'[८] का संग्रह है। गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव ने 'असट पदीआ' की रचना की जो आदि ग्रंथ में संग्रहीत हैं। संत हरिदास ने 'चालीसपदी योग' चतुर्दशपदी योग, तीसपदी योग, तथा बारहपदी योग' नामक रचनाएँ कीं।

गोष्ठी, बोध

वार्तालाप के रूप में रची हुई इस प्रकार के नामों से युक्त संतों ने कुछ रचनाएं कीं। इस प्रकार की शैली का लक्ष्य ज्ञानवर्द्धन था। इस प्रकार के ग्रंथ सांप्रदायिक अधिक होते थे।

---

१. सन्त काव्य, भूमिका, पृ० ४३।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२३।
३. वही, पृ० २२५।
४. वही, प० २२९।
५. वही, पृ० २३४
६. वही, पृ० २३८।
७. वही, पृ० २४१।
८. वही, पृ० २४५।

कबीर के पंथ में 'गोरषगोष्ठी' और 'रामानन्द गोष्ठी' का महत्व है।[1] दरिया साहब (बिहारी) तथा परमेश्वर जोगी के वार्त्तालाप के रूप में 'गोष्ठी' नाम से भी एक ग्रंथ है ऐसा उल्लेख मिलता है।[2] तुलसी साहब के इस प्रकार के ग्रन्थों का नाम 'संवाद' मिलता है।

बोधसागर के अन्तर्गत लक्ष्मणबोध, हनुमानबोध, मुहम्मदबोध, सुलतानबोध, भूपाल बोध, गरुण बोध, जगजीवन बोध, कमाल बोध, श्वासगुंजार, अगमनिगमबोध, सुमिरन बोध आदि ग्रंथों का संग्रह है। श्वासगुंजार में भी कबीर, धर्मदास, सतगुरु के वचन हैं।

निष्कर्ष

ज्ञानभक्ति शाखा की उपर्युक्त विलक्षण विधाओं को साहित्य के अन्तर्गत कोई उच्च स्थान नहीं प्राप्त है। रामभक्ति शाखा के दोनों नाटकों को अध्ययन की दृष्टि से अभी तक कोई महत्व नहीं मिला है। कृष्णभक्ति साहित्य की लीलापरक शैलियाँ रोचक व सौंदर्यपूर्ण हैं। साहित्य की दृष्टि से लीला वर्णन सम्बन्धी इन शैलियों को बहुत उच्च स्थान प्राप्त है। किन्तु कृष्णभक्ति शाखा के विभिन्न सम्प्रदायों की रचनाओं का एक बड़ा अंश ऐसा है जो मात्र साम्प्रदायिक है अथवा जो लीलाओं के प्रसंग को लेकर अति साधारण काव्य रचना के रूप में है। प्रेम-भक्ति शाखा में प्रेम कथाओं के अतिरिक्त अन्य कोई काव्य रूप नहीं मिलते जो भक्ति साहित्य के अन्तर्गत रखे जा सकें।

---

१. संत काव्य, भूमिका, पृ० ४६।
२. वही, वही, वही।

षष्ठ अध्याय

६—सगुण व निर्गुण साहित्य का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

१७०० ई० के बाद हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में एकाएक महान परिवर्तन हुआ। भक्ति साहित्य का निरन्तर तीन सौ वर्षों तक सृजन होने के उपरान्त नितान्त लौकिक प्रवृत्तियों से प्रेरित रीति साहित्य का दो सौ वर्षों तक सृजन होना एक महान परिवर्तन था। भक्ति की प्रगाढ़ भावना साहित्य की प्रेरक शक्ति क्यों नहीं रह सकी इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार की आलोचनाएँ की गई हैं।

रीति साहित्य में जो प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से कार्यशील रहीं उनमें से पहली है आश्रयदाता को प्रसन्न करने का प्रयास। वास्तव में अपने आश्रयदाता किसी राजा का यश गान करने की पृष्ठभूमि में कवि की अपनी ज्ञानप्रदर्शन तथा यशलिप्सा की प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं। साहित्य के स्वरूप से सम्बन्धित दो अन्य प्रवृत्तियाँ रीति साहित्य में प्रमख रहीं जिनमें से पहली है श्रृंगार वर्णन और दूसरी भाषा का चमत्कारिक प्रयोग है।

आश्रयदाता को प्रसन्न करना

ज्ञानभक्ति शाखा

भक्ति काल की सगण एवं निर्गुण भक्ति की साहित्य धाराओं के प्रभाव की दृष्टि से जब हम उपर्युक्त तीनों प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हैं तब यह निश्चित रूप से दृष्टिगोचर होता है कि पहली प्रवृत्ति अर्थात् आश्रयदाता को प्रसन्न करने की भावना का सगुण व निर्गुण उभय सलिलाओं में नितान्त अभाव था। ज्ञानभक्ति शाखा में कहीं भी किसी शाहेवक्त, अथवा राजा, अथवा सम्राट, अथवा बादशाह की स्तुति नहीं की गई है। संतों के लिए एक ही राजा था, जिसको उससे प्रीति नहीं हुई उसका जन्म निरर्थक है।[१] संतों का वह राजा बड़ा न्यायी था—"जो जस करि है सो तस पइहै, राजा राम नियाई।"[२] इसलिए संतों ने उसी की दुहाई बोली है—"बोलौ भाई राम की दुहाई"[३] संत उस राजा राम के ही पास जाकर पुकार करते थे। परन्तु विशेषता यह थी कि लौकिक मनष्यों द्वारा दिए कष्ट व पीड़ाओं के दुखों की पुकार वे अपने स्वामी के सम्मुख नहीं करते थे, वरन संतों

---

१. जरि जाव ऐसा जीवनां, राजा राम सूं प्रीति न होई।
कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२८, पद सं० १२७।
२. वही, पृ० १५६, पद सं० २००।
३. वही, पृ० १११, पद सं० ७४।

की एक अनोखी पुकार थी कि हे माधो ! मैं अत्यन्त निर्बल हूँ, ये इंद्रियाँ बहुत सबल हैं, बलपूर्वक मुझे जहाँ चाहती हैं, ले जाती हैं, मेरा कुछ भी वश नहीं रह जाता, बुद्धि बल मेरा कुछ भी साथ नहीं दे पाते।[१] इस प्रकार ज्ञानभक्ति शाखा के कवियों को किसी लौकिक आश्रयदाता का भरोसा नहीं था, उनके लिए एक ही धनी सम्राट थे भगवान राम। उसके छत्र के नीचे संतों को किसी प्रकार की चिंता नहीं थी।[२]

इस प्रकार आश्रयदाता अथवा तत्कालीन शासक के ऐश्वर्य का वर्णन ज्ञानभक्ति शाखा के साहित्य में नहीं उपलब्ध होता। इस शाखा के साथ शासक को प्रसन्न करने के लिए साहित्य सृजन का कोई प्रश्न नहीं उठता। अतः रीति काव्य की पहली और मुख्य प्रवृत्ति दरबारी प्रवृत्ति पर ज्ञानभक्ति शाखा का कोई प्रभाव नहीं था।

प्रेमभक्ति शाखा

अपने समय के शासक के वैभवादि वर्णन की प्रवृत्ति प्रेमभक्ति शाखा के साहित्य में उपलब्ध होती है। पद्मावती के प्रारम्भिक खंड में 'आदि एक कर्त्तार' एवं 'मुहम्मद साहब' का वर्णन करने के उपरान्त जायसी ने शेरशाह का जो कि उस समय देहली का सुल्तान था, इस प्रकार यशगान किया है कि उसका तेज चारों खंड में सूर्य के सदृश व्यापक है। एक मात्र उसको छत्र और सिंहासन सुशोभित करते हैं। अन्य सब राजा उसके समक्ष भूमि पर मस्तक झुकाते हैं। वह जाति से भी सूर अर्थात् शूर है, तथा अस्त्र शस्त्र चलाने में भी शूर है, साथ ही बुद्धिमान है एवं सभी गुणों से परिपूर्ण है। अन्य अनेक प्रकार के वर्णनों के साथ जायसी शेरशाह के लिए इस प्रकार भी कहते हैं कि मुहम्मद ने तुम्हें अशीष दी है कि तुम युग युगों तक राज्य करो। तुम जगत् के बादशाह हो, समस्त संसार तुम्हारा आश्रित है, तुम्हारी कृपा पर निर्भर है।[३]

---

१. राम राई कासनि करौं पुकारा,
ऐसे तुम्ह साहिब जाननि हारा ॥टक॥
इंद्री सबल निबल मैं माधौ, बहुत करैं बरियाई।
लै धरि जांहि तहां दुख पइये, बुधि बल कछु न बसाई ॥
वही, पृ० १५३, पद सं० १९३।

२. अब क्या सोचै आइ बनी, सिर परि साहिब राम धनी ॥टेक॥
वही, पृ० ११८, पद सं० ९६।

३. सेरसाहि देहली सुलतानू। चारिउ खंड तपै जस भानू॥
ओही छाज छात औ पाटा। सब राजा भुइं धरा लिलाटा॥
जाति सूर और खांडै सूरा। और बुधिवंत सबै गुन पूरा॥
सूर नवाए नवखंड वई। सातउ दीप दुनी सब नई॥
तहँ लगि राज खड्ग करि लीन्हा। इसकंदर जुलकरन जो दीन्हा॥
हाथ सुलेमा केरि अंगूठी। जग कहँ दान दीन्ह भरि झूठी॥

चित्रावलि में उसमान ने नूरुद्दीन की प्रशंसा में और अधिक लिखा है।[1] कहीं कहीं वर्णन इतना अत्युक्तिपूर्ण हो गया है कि कवि को स्वयं इस बात का आभास है कि कोई उसके कथन पर विश्वास नहीं करेगा—

कहें न जग पतियाय कोउ, सुनि अचरज संसार।
होंहि छहों रितु एक ठौ, जहांगीर दरबार॥१४॥[2]

प्रेमाख्यानक ग्रंथों के इस प्रकार के अंशों के अवलोकन से यह तथ्य दृष्टिगत होता है कि तत्कालीन शासक के जो भी वर्णन सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं में किए उनमें उद्देश्य सम्राट को अथवा अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना नहीं था। सूफी प्रेमगाथा के प्रत्येक रचयिता ने अपने ग्रंथारम्भ में ईश्वर-स्तुति, सृष्टि रचना, हज़रत मुहम्मद एवं चार खलीफाओं का उल्लेख करते हुए अपने 'पीर' का परिचय दिया है और उसी क्रम में 'शाहे वक्त' अथवा अपने समकालीन सम्राट की भी प्रशंसा की है।

इस प्रकार निर्गुण भक्तिधारा की प्रेमाश्रयी शाखा में राजसी ठाठ बाट व राजाओं के प्रशंसात्मक वर्णन उपलब्ध होते हैं जब कि इस धारा की ज्ञानभक्ति शाखा में राज्यवैभव सम्बन्धी किसी भी प्रसंग की आशा करना निरर्थक है। प्रेमाश्रयी शाखा के अन्तर्गत इस प्रकार के वर्णनों के प्रति कवियों का क्या दृष्टिकोण था इस पर विचार किया जाय तो यही तथ्य सामने आता है कि सामयिक राज्य वैभव के वर्णन मात्र शिष्टाचारवश किए गए हैं, उनका उद्देश्य राजा को प्रसन्न कर कीर्ति अर्जित करना नहीं था।

रामभक्ति शाखा

रामभक्ति शाखा के साहित्य में तुलसी साहित्य जो पूर्ण रूप से भक्ति की भावना का द्योतन करता है, तत्कालीन सम्राट का वर्णन करने में कुछ भी रुचि रखता नहीं जान पड़ता। वास्तविकता यह है कि तुलसीदास की रचनाओं में जो भी राजनैतिक वर्णन अप्रत्यक्ष रूप से यत्र तत्र आ गए हैं वे कवि की असन्तुष्टि का आकलन करते हैं। तुलसी के लिए एक ही असली राजा हैं श्री रामचन्द्र जी, जो मर्यादापुरुषोत्तम हैं। तुलसी का विचार यह था कि लौकिक मनुष्य का वर्णन करने में सरस्वती को पश्चात्ताप होता है। जो भी राज्य वैभव सम्बन्धी वर्णन तुलसीदास ने किए हैं वे उनके रामराज्य के काल्पनिक दृश्य के होते हुए भी पर्याप्त सांगोपांग हैं।

वास्तव में रामभक्ति शाखा में तुलसीदास के अतिरिक्त अन्य किसी कवि ने सच्ची राम-

---

औ अति गुरु भूमिपति भारी। टेकि भूमि सब सिहिट संभारी॥
दीन्ह असीस मुहम्मद, करइ जुगहि जुग राज।
बादसाह तुम जगत के, जग तुम्हार मुहताज॥१३॥
जायसी ग्रंथावली, पद्मावत, स्तुति खंड, पृ० ५।

१. चित्रावली, उसमान, प० ६-९, राजा की प्रशंसा।

२. वही, वही पृ० ७।

भक्ति की भावना से साहित्य सृजन नहीं किया। फिर भी केशवदास, सेनापति जैसे कवियों का नाम और उनका साहित्य रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत मानना पड़ता है, क्योंकि इनके साहित्य का एक अंश निश्चित रूप से रामभक्ति से सम्बन्धित है। केशवदास और सेनापति रीतिकालीन कवियों के अन्तर्गत बड़ी सरलता से रखे जा सकते हैं। परवर्ती साहित्य पर प्रभाव की दृष्टि से विश्लेषण करते समय इनके साहित्य की विवेचना करना विवकसंगत नहीं है क्योंकि इन कवियों का साहित्य स्वयं परवर्ती साहित्य का ही प्रारम्भिक पुष्ट अंग था।

कृष्णभक्ति शाखा

परवर्ती साहित्य की प्रथम प्रवृत्ति आश्रयदाता को प्रसन्न करने की भावना का जहाँ तक प्रश्न है, इस पर कृष्णभक्ति शाखा के साहित्य का प्रभाव नगण्य था। कृष्ण भक्त अपने इष्टदेव के लीलागान में इतने व्यस्त रहे कि अन्य किसी ओर देखने का उन्हें अवकाश नहीं था। राज्य और ऐश्वर्य से स्वभावतः कृष्णभक्तों को अरुचि जान पड़ती थी। अन्यथा जिस प्रकार तुलसीदास ने राम के ऐश्वर्य और सुखों का वर्णन किया है उस प्रकार कृष्ण भक्त भी कृष्ण के द्वारकाधीश हो जाने के उपरान्त राज्यवैभव के प्रति अपने ज्ञानप्रदर्शन और उसके काल्पनिक सुख की लालसा पूर्ण कर सकते थे। परन्तु कृष्णभक्ति साहित्य में वैभव के चित्रण करने में कवियों का मन नहीं रम सका है। कृष्ण भक्तों के सम्मुख एक ही वैभव था, कृष्ण और राधा के अनुपम सौन्दर्य का वैभव, उसी का अनेक प्रकार से चित्रात्मक वर्णन करने में उनकी समस्त लालसाएँ पूर्ण हो गई हैं। कृष्ण-भक्ति साहित्य में एक ही प्रकार के ऐश्वर्य का वर्णन है—कृष्ण गोपियों के अपूर्व रासविलास का ऐश्वर्य ।

कृष्णभक्तों के सम्बन्ध में इस प्रकार की वार्त्ताएं हैं कि राज्य दरबार में बहुत आग्रहपूर्वक बुलाए जाने पर उन्होंने वहाँ यही विनती की कि आगे फिर उन्हें कभी इस अरुचिकारक वातावरण में न आना पड़े। सम्राट् की प्रशंसा करने को जब कहा गया तो यही उत्तर मिला 'नाहिन रह्यो मन में ठौर।'[1] हृदय में जब नन्द नन्दन नित्य भाव से निवास कर रहे हैं तब अन्य किसी लौकिक व्यक्ति का, भले ही वह सम्राट् हो, समावेश किस प्रकार हो सकता है। इष्टदेव के अतिरिक्त अन्य किसी का भी यशगान न करने की प्रवृत्ति सूरदास में सीमा पार कर गई है, क्योंकि वे श्री वल्लभा-चार्य की प्रशंसा में भी बड़ी कठिनाई से एक पद लिख सके। कुंभनदास का अपार साहस प्रशंस-नीय था कि वह अकबर जैसे प्रतापी सम्राट् के दरबार में निस्संकोच गा सके—

> **भक्तन को कहा सीकरी सों काम।**
> **आवत जात पन्हैया टूटी बिसरि गयो हरिनाम।**
> **जाकौ मुख देखै दुख लागै ताको करन परी परनाम।**
> **कुंभनदास लाल गिरधर बिन यह सब झूठो धाम।**[2]

---

१. अष्टछाप वार्त्ता, पृ० ५१।

२. वही, पृ० २३१, २३२।

और यहीं तक नहीं अकबर ने कुंभनदास से कुछ मांगने को कहा तब उन्होंने यही उत्तर दिया 'आज पाछे मोकों कबहूं बुलाइयो मति।'[१] मानसिंह को भी कुंभनदास का परम संतोष भाव देख कर आश्चर्यान्वित होना पड़ा था। मानसिंह ने कुंभनदास को कुछ आज्ञा करने को कहा तो कितनी विचित्र आज्ञा उन्हें प्राप्त हुई—'आज पाछे तुम हमारे पास कबहुं मति आइयो।'[२] राजा मानसिंह विवश हो गए, राजा ने कवि को दण्डवत की।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विशलेषण के आधार पर यह प्रकट है कि रीति साहित्य के कवियों और भक्ति साहित्य के सृजनकर्त्ताओं की साहित्यगत मूल प्रवृत्ति में कितना विरोध है। साहित्य की प्रेरणा का जहाँ तक प्रश्न है, भक्ति साहित्य की प्रेरणा निश्चित रूप से इष्टदेव के प्रति अपनी भक्ति भावना के अनेक रूपों का निवेदन करना था, जब कि रीति साहित्य इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि इस साहित्य की प्रेरणा कवियों की यशलिप्सा तथा द्रव्यलाभ की प्रवृत्ति थी, फलस्वरूप वे उसी प्रकार के साहित्य का निर्माण करने में संलग्न हुए जिससे उनके ये उद्देश्य पूरे हो सकें। भक्त कवियों की निर्भीकता और लौकिक आश्रय के प्रति अनास्था के मूल में उनकी निस्पृहता और ईश्वर के प्रति पूर्ण विश्वास की भावना थी। इसी का परिणाम था कि राजा को भक्त कवि की दण्डवत अवश्य कभी करनी पड़ गई किन्तु भक्त ने ईश्वर को छोड़ कर अन्य किसी की दण्डवत नहीं की।

इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी के अन्त के साथ ही साहित्य की मूल भावना में अन्तर दिखाई पड़ने लगा था। जैसा कि पीछे संकेत किया रामभक्ति शाखा के परवर्ती कवि केशव सेनापति की मल भावना भक्ति न होकर पांडित्य प्रदर्शन थी। १७वीं शताब्दी के कृष्णभक्ति साहित्य के कवियों में भी इसी प्रकार का भाव लक्षित होता है। उदाहरण-स्वरूप रसखान, बिहारी आदि कवि इस दृष्टि से विचारणीय हैं। ये आलोच्यकाल के अन्तर्गत आते हैं किन्तु ये रीति कवियों की पंक्ति में अधिक समीचीन प्रतीत होते हैं। रसखान में भक्ति भावना का आधिक्य था किन्तु भक्ति साहित्य में परिवर्तन की संभावना रसखान के साहित्य में भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होने लगती है।

भक्ति साहित्य के रीति साहित्यान्तर्गत परिवर्तन का कार्य १७वीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हो गया था। यह परिवर्तन निर्गुण भक्ति धारा में अनपलब्ध है, सगण भक्तिधारा की दोनों शाखाओं के साहित्य में इस प्रकार का परिवर्तन लक्षित होता है। भक्ति की भावना कवि की व्यक्तिगत मानसिक स्थिति है। इसके अभाव में कुछ कवियों ने सगणभक्ति साहित्य में प्रचलित राम कथा और कृष्णलीला का चित्रण अपने ग्रन्थों में किया। इस प्रकार के ग्रन्थ इस बात का प्रमाण हैं कि भक्ति भावना की अनुपस्थिति में मात्र राम की कथा या कृष्ण की लीला से भक्ति साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता।

---

१. वही, पृ० २३३, कुंभनदास, चारित्रिक विश्लेषण, पृ० २३।
२. वही, पृ० २४६-२५०, वही, वही, पृ० २२।

(२) श्रृंगारिक वर्णन की प्रवृत्ति

रीति साहित्य की श्रृंगारिक प्रवृत्ति को भक्ति साहित्य में कहाँ तक प्रभावित करने वाले तत्व थे इस दृष्टिकोण से भक्ति साहित्य की विभिन्न शाखाओं के साहित्य की अलग अलग स्थिति है।

ज्ञानभक्ति शाखा

ज्ञानभक्ति शाखा में श्रृंगारिक वर्णनों का अभाव नहीं है, यह इस शाखा के साहित्य के अध्येताओं से छिपा नहीं है, किन्तु प्रश्न यह है कि यह श्रृंगार वर्णन किस प्रकार का है तथा अपने भविष्य में आने वाले साहित्य को प्रभावित करने की कहाँ तक सामर्थ्य रखता है, यह विचारणीय है।

पहली बात यह कि जिस परिमाण में ज्ञानभक्ति शाखा के संतों ने साहित्य सृजन किया उसको देखते हुए श्रृंगारिक वर्णनों का अनुपात बहुत अल्प है। दूसरा तथ्य यह है कि जो भी श्रृंगारिक वर्णन संतों ने किए हैं उनमें से अधिकांश के अन्तर्गत अलौकिक रीति के स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं। संत साहित्य का श्रृंगार स्वयं अपने को अलौकिक घोषित कर देता है। उदाहरण-स्वरूप दादूदयाल स्पष्ट कहते हैं कि यह रति, स्नेही-राम के प्रति है।[१] अथवा, आत्मा रूपी विरहिणी प्रिय विरह में व्याकुल है, निशिदिन वह उदास रहती है, ताला बेली लगी रहती है, और ऐसी स्थिति में वह अपने प्रिय राम नाम का मंत्रोच्चारण करती रहती है।[२] इसी प्रकार कबीरदास ने भी इस प्रकार के मिलन और विरह वर्णन किए हैं जो स्वयं उनके प्रियतम की अलौकिकता के द्योतक हैं।

किन्तु उपर्युक्त दोनों तथ्यों के अतिरिक्त यह भी सत्य उपेक्षणीय नहीं है कि इस प्रकार के कुछ स्थल ज्ञानभक्ति शाखा में उपलब्ध होते हैं जो निरपेक्ष श्रृंगार का चित्रण करते हैं। यद्यपि इस सत्य के साथ यह भी जुड़ा हुआ है कि इस प्रकार के वर्णनों में भी अलौकिक भाव बड़े ही सहज रूप में व्यंजित हो रहा है। इस प्रकार के कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं—

प्रेम में अनन्यता

ज्ञानभक्ति शाखा में प्रेम की अनन्यता से सम्बन्धित कुछ दोहे मिलते हैं। प्रिय के प्रति नितान्त एकाग्र भाव को इस शाखा में विशेष महत्व दिया गया है। प्रेम के मार्ग में दो का

---

१. रतिवंती आरति करइ। राम सनेही आव॥
 दादू अवसर अब मिलइ। यह बिरहिनि का भाव॥२॥
दादूदयाल की बानी, अथ बिरह को अंग, पृ० २५।
२. पीव पुकारइ बिरहिनी। निस दिन रहइ उदास॥
 राम राम दादू कहउ। ताला बेली पास॥३॥ वही। वही, वही,

समावेश किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। उदाहरणस्वरूप दादूदयाल के निम्नलिखित दोहे हैं:—

खेला चाहइ प्रेम रस। आलम आगि लगाइ।
दूजे को ठाहर नहीं। पुहुप न गंध समाइ ॥३८॥
जहां राम तहं मैं नहीं। मैं तहं नाहीं राम।
दादू महल बारीक है। दुइ को नाहीं ठाम ॥४०॥[1]

कबीरदास ने भी इसी प्रकार कहा था कि प्रेम की गली 'अति सांकरी' है उसमें दो नहीं समा सकते।[2]

प्रेम का मार्ग, अगम किन्तु सुगम

संतो का विचार था कि यह प्रेम का मार्ग अत्यन्त कठिन है। प्रत्येक व्यक्ति इस मार्ग पर नहीं चल सकता। खांडे की धार के सदृश यह तीव्र है।[3] साथ ही यह भी रोचक प्रश्न है कि यह प्रेम मिलता कहाँ है? कबीरदास ने इस प्रश्न को लेकर बड़ी तीखी उक्ति बड़े ही सहज भाव से की है—

प्रेम बिकंता मैं सुना, माथा सारे हाट।
बूझत बिलंब न कीजिए, ततछिन दीजै काट ॥१०॥[4]

सिर काट कर देने के बदले अर्थात् सर्वस्व समर्पण करने के प्रतिदान में यह प्रेम मिलना सम्भव है, मिलता है बाजार में, ऐसा नहीं है कि मिलता न हो, किन्तु शर्त इतनी ही है कि मोल भाव करने में क्षण भर का भी विलम्ब करने से अनर्थ हो जायगा, जो तत्क्षण सिर काट कर प्रेम खरीद लेता है उसी का जन्म सार्थक है। क्योंकि जिसके अन्दर प्रेम का निवास नहीं वह श्मशान के सदृश है, लुहार की धौंकनी के समान है, जो सांस लेती है, किन्तु जीवरहित है।[5] जिसको प्रिय के मार्ग पर चलना आता है वही चल सकता है, वैसे यह कोई कठिन भी नहीं है, परन्तु उनके लिए

---

१. दादू दयाल की बानी, अथ परचा को अंग, पृ० ४१।
२. संत बानी संग्रह, भाग १, साखी, कबीर साहिब, पृ० १९, दोहा ८।
३. पिय का मारग कठिन है, खांडा हो जैसा।
नाचन निकसी बापुरी, फिर घूंघट कैसा ॥२९॥
वही, वही, वही, वही, पृ० २१।
४. संत बानी संग्रह, भाग १, साखी, कबीर साहब, पृ० १९।
५. जा घट प्रेम न संचरे, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिन प्रान ॥९॥
वही, वही, वही, वही, वही।

अवश्य कठिन है जिन्हें चलना नहीं आता। ऐसे अनाड़ी लोगों पर वही कहावत लागू होती है कि 'नाच न जानै आँगन टेढ़ा।'[१]

प्रेमिका की स्थिति

प्रेम के मार्ग में प्रविष्ट होने के अनन्तर अपनी चाल के 'अबेड़े' होने के कारण प्रारम्भ में थोड़ा संकोच होता है' क्योंकि अपने पर पूरा विश्वास नहीं होता, हीनता की भावना होती है :

मन परतीत न प्रेम रस, ना कछु तन में ढंग।
ना जानो उस पीव से, क्यों कर रहसी रंग॥१३॥[२]

परन्तु एक बार जो साहस करके चल पड़ता है उसके लिए प्रियतम को रिझाना कुछ कठिन नहीं :

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारिके, पिय को लिया रिझाय॥२८॥[३]

प्रियतम को एक बार रिझा लेने के पश्चात प्रेमिका नहीं चाहती कि वह स्वयं किसी दूसरी ओर देखे, न वह यह सहन करसकती है कि उसका प्रिय किसी और को देखे —

नैना अंतर आव तूं, नैन झांपि तोहि लेवं।
ना मैं देखौं ऑर को, ना तोहि देखन देव॥४॥[४]

इस प्रकार नैनों के मार्ग से प्रविष्ट होकर प्रियतम तन मन में समा जाता है। प्रेमिका से वह किंचित भी पृथक नहीं रह जाता।

पत्र लेखन

प्रियतम को पत्र लेखन के प्रसंग की अवतारणा अनेक प्रकार से अन्य शाखाओं के कवियों ने की है किन्तु कबीरदास कहते हैं कि 'पंतियां' तो तब लिखूं जो प्रीतम कहीं विदेश में हो। जो तन में, मन में, नैन में समाया हुआ है उसे किस प्रकार संदेश भेजूं —

प्रीतम को पतियां लिखूं, जो कहुं होय बिदेस।
तन में मन में नैन में, ता को कहा संदेस॥३४॥[५]

---

१. पिय का मारग सुगम है, तेरा चलन अबेड़ा।
नाच न जानै बापुरी, कहै आंगना टेढ़ा॥३०॥
वही, वही, वही, वही, पृ० २१।
२. संत बानी संग्रह, भाग १, साखी, कबीर साहिब, पृ० २५।
३. वही, वही, वही, वही, पृ० २१।
४. वही, वही, वही, वही, पृ० ४०।
५. वही, वही, वही, वही, पृ० २१।

संयोग के चित्र

ज्ञानभक्ति शाखा के संतों ने प्रेयसि के प्रियतम से मिलने के आनन्द को द्योतित करने वाले मधुर चित्रों का अकन किया है। दादूदयाल प्रिय से रंग भर कर खेलते हैं और उनके प्रियतम उन्हें रस का पान कराते हैं।

रंग भरि खेलौ पीय सों। बाजइ बेन रसाल॥
अकल पार बइठा स्वामी। प्रेम पिलावइ लाल॥६॥[1]

भ्रमर कमल का रूपक, जो आगे के साहित्य में जाकर इतनी प्रसिद्धि पा गया, दादू दयाल के संयोग संबंधी वर्णनों का प्रतीक बना—

भंवर कवल रस बेधिया। सुख सरवर रस पीव॥
तहं हंसा मोती चुगइ। पिय देखे सुख जीव॥१४॥
भंवर कंवल रस बेधिया। गहै चरन कर हेत॥
पिय जो परसत ही भया। रोम रोम सब सेत॥१५॥
भंवर कवंल रस बेधिया। अनत न भरमइ जाइ॥
तहां बास बिलंबिया। मगन भया रस खाइ॥१६॥
भंवर कवंल रस बेधिया। गही जो पिय की बाट॥
तहां दलि भंवरी रहइ। कौन करइ सरचोट॥१७॥[2]

बहिर्दृष्टि से देखने पर सेज पर सोने के चित्रणों का भी इस शाखा के साहित्य में अभाव नहीं है—

तन मन मेरा पीव सों। एक सेज सुख सोइ॥
गहिरा लोक न जानई। पचि पचि आया खोइ॥२३॥[3]
काहे न आओ कंत घर। क्यों तुम्ह रहे रिसाइ॥
दादू सुन्दर सेज पर। जनम अमोलिक जाइ॥४॥[4]
सांई संदरि सेज पर। सदा एक रस होइ॥
दादू खेलइ पीय सों। ता सम और न कोइ॥३२॥[5]

धरनीदास ने सेज पर सोने के प्रसंग को लेकर बड़ी स्वाभाविक तथा चित्रात्मक कल्पना की है—

---

१. दादूदयाल की बानी, अथ परचा को अंग, पृ० ३८।
२. वही, वही, पृ० ३९।
३. वही, निहकरमी पतिव्रता को अंग, पृ० ७७।
४. वही, अथ सुंदरी को अंग पृ० २०४।
५. दादू दयाल की बानी, अथ सुंदरी को अंग, पृ० २०६।

धरनी सो दिन धन्न है, मिलब जवे हम नाह।
संग पौढ़ि सुख बिलसिहौं, सिर तर धरि के बांह।।५।।[१]

वियोग के विभिन्न भाव

तन मन नैनों में जो प्रियतम समा गया था उसके बिछुड़ने पर कितना कष्ट होता है इसके मार्मिक वर्णन संतों की बानियों में अनेक भावों से परिपूर्ण हैं। प्रिय के बिछुड़ते ही प्रेयसि उदास हो जाती है, इस उदासी में वह प्रियतम को पुकारती रहती है।[२] उसके दोनों नेत्र प्रियतम के दर्शनाभाव में वैरागी हो जाते हैं। विरह का कमंडल हाथ में लेकर दर्शनों की भिक्षा की याचना करते हैं[३] किन्तु उसे अपने प्रियतम के दर्शन नहीं होते। पंथ निहारते निहारते आंखों में झांई पड़ जाती हैं, नाम पुकारते पुकारते जिह्वा में छाले पड़ जाते हैं।[४] विरहिणी को अपने प्रिय पर विश्वास है। कबीरदास कहते हैं उसकी एक ही कामना थी कि किसी प्रकार प्रियतम के साथ 'एकमेक' हो सेज पर सोती। यदि गले लग कर नहीं सो सकी तो इस शरीर धारण का क्या अर्थ ? यही सब सोच कर बड़ा क्रोध उत्पन्न होता है, आभूषण और वस्त्र नहीं सुहाते, उसकीइच्छा होती है कि यह चूड़े पलंग पर पटक दूं, और चोली में आग लगा दूं।[५] बिरह में प्रियतम को बिलकुल अपना समझने वाली प्रेयसि का यह क्रोध अत्यन्त स्वाभाविक है।

किन्तु विरहिणी तो विरहिणी है। उसके इस प्रकार उदासी, खीझ, क्रोध, आदि के भावों को देखने सुनने वाला उसके पास होता तो यह विरह ही क्यों होता। विरह की अवधि के साथ यह स्थिति करुणाजनक होती जाती है। कबीरदास ने इस असहनीय स्थिति पर पहुँच कर बड़ी खीझ के साथ कहा है कि या तो अब सीधे सीधे मृत्यु ही दे दो, अन्यथा अपना दर्शन दो। विरहिणी से यह आठो प्रहर का 'दाझना' अब और नहीं सहा जाता।[६] परन्तु विरह का अन्त भी नहीं होता।

---

१. संत बानी संग्रह, भाग १, साखी, धरनीदासजी, पृ० ११३।

२. दादू दयाल की बानी, अथ बिरह को अंग, पृ० २५, दोहा सं० ३।

३. बिरह कमंडल कर लिए, बैरागी दोउ नैन।
मांगे दरस मधूकरी, छके हैं दिन रैन।।१३।।
संत बानी, संग्रह, भाग १, साखी, कबीर साहिब, पृ० १५।

४. अँखियां तो झाईं परी, पंथ निहार निहार।
जिभ्या सो छाला परा, नाम पुकार पुकार।।४।। वही, वही, वही, वही।

५. चूड़ौ पटकौं पलंग पे, चोली लावौं आगि।
जा कारन यह तन धरा, ना सूती गल लागि।।२८।।
संत बानी संग्रह, भाग १, साखी, कबीर साहिब, पृ० १७।

६. कै बिरहिनि को मीच दे, कै आपा दिखलाय।
आठ पहर का दाझना, मो पै सहा न जाय।।१२।।
वही, वही, वही, वही, पृ० १५।

स्थिति अत्यन्त कारुण्य की व्यंजक है। कबीर गीली लकड़ी के धुंआ देते हुए सुलगने के अर्थ-पूर्ण रूपक के माध्यम से इस असहनीय करुणाजनक दशा का वर्णन करते हैं—

हौं बिरह की लाकड़ी, समझि समझि धूंधांऊ।
छूटि पड़ौं या बिरह तैं, जे सारी ही जलि जाऊं ॥३७॥[1]

इस प्रकार धुँआं देते हुए औरों को भी कष्ट देते हुए रहस रहस कर सुलगने से अच्छा है कि सारी ही जल कर समाप्त हो जाऊं। किसी प्रकार इस विरह से तो मुक्ति मिले। परन्तु कहाँ ? विरहिणी पर किसी को दया नहीं आती। मृत्यु भी नहीं आती कि विरहिणी को इस कष्ट से मुक्त कर दे। धुआँ भी प्रकट देखना बन्द हो जाता है, किन्तु अंदर का सुलगना नहीं समाप्त होता। अन्तर में प्रज्वलित इस अग्नि को वही देख पाता है जिसके अन्दर यह लगी हुई है, अथवा वह जान सकता है जिसको इसका अनुभव हो।[2]

अत्युक्ति का आविर्भाव

माधुर्य भाव को लेकर अत्युक्ति पूर्ण वर्णनों का प्रेमभक्ति शाखा व कृष्णभक्ति शाखा में आधिक्य है। रीति साहित्य में तो अत्युक्ति पूर्ण वर्णनों का ही प्राचुर्य है, स्वाभाविकता को लिए हुए प्रसंग बहुत अल्प हैं। ज्ञानभक्ति शाखा में सहजता, सरलता व स्वाभाविकता के मध्य इस प्रकार की अत्युक्तियों की चकाचौंध अपवाद स्वरूप कहीं कहीं है। उदाहरण स्वरूप नैनों में पिय के बसने के कारण कबीर का कथन है कि सिंदूर और काजर की रेखा का दिया जाना भी असंभव है—

कबीर रेख सिंदूर अरु, काजर दिया न जाय।
नैनन प्रीतम मिलि रहा, दूजा कहां समाय ॥१४॥[3]

अथवा कबीर दास का इस प्रकार का कथन कि नैनों में तो तू बसा है इसलिए नींद को कहां स्थान मिले—

आठ पहर चौंसठ घड़ी, मेरे और न कोय।
नैना माहीं तूं बसै, नींद को ठौर न होय ॥१५॥[4]

विरह वर्णन में एक स्थल पर अत्यक्ति इस प्रकार की है कि शायरी की अत्यक्तियों का

---

१. कबीर ग्रंथावली, बिरह को अंग, पृ० १०।
२. हिरदा भीतरि दो बलै, धूवां न प्रगट होइ।
जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ ॥३॥
कबीर ग्रंथावली, ग्यान विरह को अंग, पृ० ११।
३. संत बानी संग्रह, भाग १, साखी, कबीर साहिब, पृ० ४१।
४. वही, वही, वही, वही, वही।

स्मरण आ जाता है। कबीरदास कहते हैं कि जीव प्रियतम में निवास कर रहा है, मृत्यु आती भी है तो ढूंढ कर लौट जाती है।

बिरह तेज तन में तपै, अंग सबै अकुलाय।
घट सूना जिव पीव में, मौत ढूंढि फिरि जाय ।।२।।[1]

निष्कर्ष

इस प्रकार श्रृंगार के मुख्य अंग राग, संयोग व विप्रलंभ से सम्बन्धित स्वाभाविक माधुर्य-परक वर्णनों का ज्ञानभक्ति शाखा के साहित्य में अभाव नहीं है। ऊपर इस प्रकार के कुछ वर्णनों के उदाहरण दिए गए हैं। कहीं कहीं वर्णनों में स्वाभाविकता की सीमा का उल्लंघन भी हो गया है। किन्तु विशेष बात जो द्रष्टव्य है वह यह कि कहीं भी वर्णन अश्लील नहीं है। सेज पर गले लग कर सोने की इच्छा भी बड़े स्वाभाविक निश्छल भाव से व्यक्त करदी गई है। इस सच्चाई का कारण यही है कि ये वर्णन लौकिक रति के सदृश होते हुए भी लौकिकता के स्पर्श से भी कोसों दूर है। निश्चित रूप से ज्ञानभक्ति शाखा के संतों का श्रृंगार अलौकिक प्रिय के हेतु था। अतः लौकिक दृष्टि से श्रृंगार वर्णन के क्षेत्र में इस शाखा के साहित्य से प्रभाव ग्रहण करना सरल कार्य नहीं था। ज्ञानभक्ति शाखा के श्रृंगार चित्रों में उस असीम, अनन्त, निराकार व सर्वव्यापी प्रिय के प्रति तीव्र विरह की भावना जागृत करके उससे मिलन की अभिलाषा उत्पन्न करने और निरन्तर उसका अपने अन्तर्गत अनुभव करा सकने की सामर्थ्य है।

उपर्युक्त निष्कर्ष को दृष्टि में रखते हुए यही कहना संभव जान पड़ता है कि १७०० ई० के बाद के साहित्यान्तर्गत आने वाले श्रृंगार चित्रों के लिए ज्ञानभक्ति शाखा के साहित्य में प्रयुक्त हुए कोई भी रंग अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध हो सके।

प्रेमाश्रयी शाखा : प्रेम के वर्णन :

पद्मावत में प्रेम को ध्रुव से भी ऊँचा कहा गया है—

ध्रुव ते ऊंच पेम ध्रुव ऊआ। सिर देइ पांव देह सो छुआ।।[2]

प्रेम की तुलना पर्वत से भी की गई है। पद्मावतकार का कथन है कि प्रेम का पहाड़ विधाता ने बड़ा कठिन बनाया है। वही इस पर चढ़ सकता है जो सिर के बल चढ़ता है।[3] चित्रावली में उसमान ने एकाधिक स्थलों पर प्रेम का पहाड़ से रूपक बाँधा है। प्रेम का पहाड़ स्वर्ग से भी ऊंचा

---

१. संत बानी संग्रह, भाग १, साखी, कबीर साहिब, पृ० १४।
२. जायसी ग्रंथावली, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पद्मावत, पृ० ५०।
३. पेम पहार कठिन विधि गढ़ा। सो पै चढ़ै जो सिर सौं चढ़ा।
वही, वही, वही, पृ० ५१।

है, बिना आश्रय लिए वहाँ तक कोई भी नहीं पहुँच सकता।[१] इसी प्रकार आगे कवि पुनः कहता है कि प्रेम का गिरिवर बहुत ऊंचा है, जो पूरे उत्साह से वेग के साथ चढ़े वही पहुंच सकता है। सुमेर श्रृंग पर वही चढ़ सकता है जो धैर्य के साथ मार्ग खोजता है।[२] एक स्थल पर उसमान प्रेम के मार्ग का दुहेलापन बताते हुए कहते हैं कि यह हँसी खेल नहीं। यह बड़ा अगम पर्वत है। विषम गढ़ घाटियों से यह यक्त है। यहाँ एक पक्षी भी नहीं जाता। चींटी भी नहीं चढ़ती। इस पर वही जाता है जिसके अन्दर तेज हो, जिसकी पसलियों में शक्ति हो और लोहे का कलेजा हो।[३] जायसी ने प्रेम को अगम कहते हुए इसका समुद्र से रूपक बांधा है। जायसी कहते हैं कि प्रेम समुद्र अत्यन्त गहरा है। इसका वार पार तथा थाह पाना असम्भव है।[४] जायसी ने प्रेम का वर्णन करते हुए इसके घाव के दुख का भी असहनीय होने का उल्लेख किया है। प्रेम के घाव का दुख कोई नहीं जानता। जिसे यह घायल करता है वही जानता है। प्रेम के अपार समुद्र में जो एक बार पड़ जाता है उसके ऊपर लहर पर लहर आती जाती है, उसे सम्हालना अत्यन्त कठिन है, वह बेसम्हाल हो जाता है।[५]

इस प्रकार प्रेम के वर्णनों में प्रेमाश्रयी शाखा के साहित्य में कोई विशेष लौकिकता नहीं है। प्रेम के मार्ग के काठिन्य, इस पर आगे बढ़ने के लिए सर्वस्व समर्पण की अपेक्षा, तथा एक बार इस मार्ग पर पैर रखने के बाद मनुष्य की व्यावहारिक जगत में असमर्थता के उल्लेख द्वारा प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों ने प्रेम का जो चित्रण किया है वह बहुत कुछ ज्ञानभक्ति शाखा के इस प्रकार के वर्णनों के निकट है।

---

१. प्रेम पहार स्वर्ग से ऊंचा, बिनु रेघे कोउ तहं न पहूंचा।
 चित्रावली, उसमान, पृ० ४०।
२. गिरिवर प्रेम विकट अति ऊंचा, धाइ चढ़ा सो तहां पहूंचा।
 धीरज धरि जो लेइ पथ हेरी, चढ़ै जाइ जहं श्रृंग सुमेरी॥
 वही, वही, पृ० ४४।
३. कहेसि कुंअर यह पंथ दुहेला, अस जनि जान हंसी और खेला।
 अगम पहार विषम गढ़ घाटी, पंखि न जाइ चढ़े नहिं चांटी॥
 खोह घरार जाइ नहिं लांघी, देखि पतार कांप नर जांघी।
 जाइ सोई जो जिउ परतेजा, सार पासुली लोह करेजा॥
 चित्रावली, उसमान, पृ० ७९।
४. पेम समुद्र जो अति अवगाहा, जहां न बार न पार न थाहा।
 जायसी ग्रंथावली, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पद्मावत, पृ० ६०।
५. प्रेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई॥
 परा सो पेम समुद्र अपारा। लहरहिं लहर होइ बिसंभारा॥
 वही, वही, वही, पृ० ४९।

विरह वर्णन

जायसी ने पद्मावत में विरह की भावना में प्रारम्भ में आध्यात्मिक भाव रखा है। रत्नसेन का पद्मावती से मिलने से पूर्व का विरह चित्र आत्मा के सच्चे विरह के रूप में प्रकट होता है—

जब भा चेत उठा बैरागा। बाउर जनौ सोइ उठि जागा॥
आवत जग बालक जस रोआ। उठा राइ हा ज्ञान सो खोआ॥
हौं तो अहा अमरपुर जहां। इहां मरनपुर आएउं कहां ?॥[१]

और—

गुरू बिरह-चिनगी जो मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला॥[२]

विरह की अवस्था कितनी अधिक कष्टप्रद होती है इसका संवेदनात्मक चित्रण करते हुए जायसी इस प्रकार कहते हैं कि वियोग बड़ा कठिन होता है, जलने मरने पर ही इस स्थिति का निर्वाह हो सकता है। भय और लज्जा विरह में मनुष्य का साथ छोड़ देते हैं। विरही को आग और पानी कुछ नहीं दृष्टिगत होता। आग देख कर वह उसके समक्ष दौड़ पड़ता है, पानी देख कर उसी में धँस जाता है।[३]

उसमान ने चित्रावली में सुजान की विरहावस्था के इस प्रकार के अंकन किए हैं कि विरह की लहर उस पर फिर इस प्रकार आई कि उसको कोई रोक न सका वह मुरझा कर गिर पड़ा। उसके उभय नेत्रों से मानों अपार समद्र उमड़ रहा हो, कौन उसकी सीमा बाँधने में समर्थ हो सकता था। वह अपने वस्त्र फाड़ता था और लोटा पड़ता था, उसके पास कोई बंधु भी नहीं था, हाथ कौन रखता। धूल से उसका सिर और शरीर सब भर गया।[४] उसका अरुण वदन पीला पड़ गया, शरीर का रुधिर सूख गया, दोनों नेत्र उसने ढक लिए, सुजान न कुछ बताता था और न कुछ पूछता था।[५] वैद्य परीक्षा करने के अनन्तर देखते हैं कि सूर्य और शशि दोनों अपने घर में

---

१. जायसी ग्रंथावली, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पद्मावत, पृ० ४९।

२. वही, वही, वही, पृ० ५१।

३. कठिन वियोग जाग दुख दाहू। जरतहि मरतहि ओर निबाहू॥
डर लज्जा तहं दुवौ गवांनी। देख किछू न आगि नहि पानी॥
आगि देखि वह आगे धावा। पानि देखि तेहि सौह धंसावा॥
वही, वही, वही, पृ० ६०।

४. पुनि जो बिरह लहरि तन आई, थांमि न सकेउ गिरेउ मुरझाई॥
दोउ नैनन जनु समुंद अपारा, उमंड़ि चले राखै को पारा॥
फारै झंगा औ लौटे परा, बंधु न कोऊ हाथ को धरा॥
भरिगै खेह सीस औ देहा, सेवक नाहिं जो झारे खेहा॥
चित्रावली, उसमान, पृ० ३६।

५. अरुन बदन पिराइ गा, रुहिर सूखि गा गात।
रहा झांपि लोचन दोऊ, कहै न पूछै बात॥९२॥
वही, पृ० ३७।

निर्दोष हैं, शरीर की नाड़ियां भी निर्दोष हैं। वैद्य से नाड़ी परीक्षा करने के अनन्तर कुछ कहते नहीं बनता। इतनाही वह कहता है कि हम हृदय में यही विचार करते हैं कि मानों इसे विरह का घाव मार गया हो।[१]

प्रेमाश्रयी शाखा के साहित्य में जो भी विरह वर्णन संबंधी स्थल हैं, उनमें से अधिकांश आध्यात्मिकता को लिए हुए नहीं हैं। इन विरह वर्णनों में लौकिकता का आधिक्य है। नागमती का विरह वर्णन एक सीधी सादी नायिका की विरह जनक संवेदनाओं के आधार पर जायसी ने किया है हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक ग्रन्थों में नागमती के विरह को लेकर पर्याप्त विवेचना हो चुकी है, अतः इस स्थल पर उसका पिष्टपेषण संगत नहीं जान पड़ता। यहां इतना ही कहना है कि नागमती के विरह वर्णनों में मार्मिकता है, संवेदनात्मकता है, कहीं कहीं उक्ति चमत्कार है; अतः साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से यह वर्णन पर्याप्त समृद्ध है, किन्तु इस वर्णन में आध्यात्मिकता की झलक ढूंढना निरर्थक हैं। रत्नसेन के प्रारम्भिक विरह वर्णन आध्यात्मिक विरह के बहुत निकट हैं।

अतः परवर्ती साहित्य पर प्रभाव की दृष्टि से निर्गुण भक्ति साहित्य का विश्लेषण किया जाने पर यही निष्कर्ष सम्मुख आता है कि जहां तक विरह वर्णनों का सम्बन्ध है ज्ञानभक्ति शाखा में प्रभाव ग्रहण करने योग्य रीति साहित्य के लिए कुछ नहीं था, किन्तु प्रेमाश्रयी शाखा के साहित्य में से अनेक स्थलों का प्रभाव रीतिकालीन कवियों ने ग्रहण किया। प्रेमाश्रयी शाखा के अधिकांश विरह वर्णन सम्बन्धी स्थल उक्ति सौंदर्य से युक्त साधारण नायक नायिका के विरह भाव के व्यंजक हैं। कहीं कहीं ये वर्णन ऊहात्मक प्रणाली के भी हो गए हैं। इस प्रकार इन स्थलों का पठन श्रवण संवेदनात्मक प्रभाव के साथ यत्र तत्र चमत्कृत भी करने की सामर्थ्य रखता है। फलस्वरूप चमत्कार प्रदर्शन के दृष्टिकोण से लिखे गए रीति साहित्य को प्रेमाश्रयी शाखा के साहित्य में विरह सम्बन्धी वर्णनों के हेतु उपयोगी सामग्री उपलब्ध हुई।

संयोग वर्णन

संयोग वर्णन में समागम के पूर्व के भय का जायसी ने उल्लेख इस प्रकार किया है कि पद्मावती के मन में शंका होती है कि जब पति बांह पकड़ेंगे तो मैं क्या कहूंगी, और वह 'पिय' के 'अनचिन्ह' होने के कारण मन में कांपती है। पद्मावती सोचती है कि बालावस्था व्यतीत हो गई पर अभी वह प्रीति नहीं जानती, तरुणावस्था के आगमन पर यौवन के गर्व में यह सब कुछ भूल गई,

---

१. **गहहिं नाड़िका बूझहिं पीरा, नारि मांह निरदोष सरीरा।
ससि सूरज दोऊ निरदोषी, अपुने अपुनै घर संतोषी॥
अब नाड़िका मांह नहिं पीरा, प्रगट पियर मख पीन सरीरा।
कहि न आव हम हिये बिचारा, ई जस बिरह घात कर मारा॥
वही, वही पृ० ३८।**

यह भी नहीं जाना कि स्नेह श्याम होता है कि श्वेत। अब यदि कंत से बात पूछेगी तो पता नहीं मुख पीला हो जायगा या रक्तवर्ण हो जायगा। पद्मावती मन में विचार कर रही है कि मैं तो 'बारी' हूं, कम वयस की हूँ, 'पीउ' तरुण हैं, तेजवान हैं, पता नहीं कंत के साथ सेज पर किस प्रकार चढ़ा जाता है।[1] इस प्रकार पद्मावती के भयभीत होने पर सखियाँ उसे शिक्षा देती हैं कि हे धनि सुनो यह भय हृदय में तभी तक है जब तक प्रफुल्लित होकर प्रियतम से मिलन नहीं हो जाता। ऐसी कौन सी कली है जिसे भौरें ने विद्ध न किया हो, ऐसी कौन सी डाल है जो पुष्प भार से न टूटी हो।[2]

प्रथम समागम के समय इस प्रकार के भय की 'चित्रावली विवाह खंड' में उसमान ने भी चर्चा की है कि प्रथम समागन के समय बाला डर रही है, किसी भी प्रकार उसका पैर आगे नहीं पड़ता। हाथी का रूपक बांधते हुए उसमान कवि कहते हैं कि किसी प्रकार अंकुश के भय से आंखों पर आवरण डाल कर सखियां कल बल करके चित्रावली को सेज तक पहुंचाती हैं कि वह सेज के निकट पहुंचकर पाटी के पास खड़ी रह जाती है।[3]

पद्मावती के भय का वर्णन करने के बाद जायसी ने 'पद्मावती रत्नसेन भेंट खंड और 'षट-ऋतु वर्णन खंड' में खुल कर संयोग शृंगार के चित्र प्रस्तुत किए हैं।[4] रत्नसेन भयभीत पद्मावती से अपनी अनन्य प्रीति का वर्णन करता है, उसका भय दूर हो जाता है और वह प्रमुदित हो जाती

---

१. संवरि सेज धनि मन भइ संका। ठाढ़ि तेवानि टेकि कर लंका॥
अनचिन्ह पिउ, काँपौ मन मांहा। का मै कहब गहव जौ बाँहा॥
बारि बैस गइ प्रीति न जानी। तरुनि भई मैमंत भुलानी॥
जोबन गरब न मैं किछु चेता। नेह न जानौं साव कि सेता॥
अब सौ कंत जो पूछिहि बाता। कस मख होइहि पीत कि राता॥
हौं बारी और दुलहिनि, पीउ तरुन सह तेज।
ना जानौ कस होइहि, चढ़त कंत के सेज॥११॥
जायसी ग्रंथावली, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पद्मावत, पृ० १३२।

२. सुनु धनि! डर हिरदय तब तांई। जौ लगि रहसि मिलै नहिं सांई॥
कौन कली जो भौंर न राई? डार न टट पुहुपु गरुआई॥
जायसी ग्रंथावली, पं० रामचन्द्र शक्ल, पद्मावत, पृ० १३२।

३. प्रथम समागम बाला डरई। कैसेहुं आगे पाव न धरई।
चित्रावलि जन गज मतवारी। छद्मावली घंट झनकारी॥
आदं सकुचि पाव दुहुं धारा। परगहिं परग होइ असारा।
छवि आंखिन्ह अंधियारी मेली। धक्कारहिं गड़दार सहेली॥
कल बल गई सेज जहं अही। पाटी तीर ठाढ होइ रही।
चित्रावली, उसमान, पृ० २०२।

४. जायसी ग्रंथावली, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पद्मावती रत्नसेन-भेंट खंड, पृ० १४०-१४५। षट-ऋतु-वर्णन खंड, पृ० १४६-१५०।

है। जैसे तैसे वह भी बताती है कि किस प्रकार वह चातकी के समान 'पिउ पिउ' पुकारती रही, किस प्रकार समुद्र की सीपी के सदृश दोनों नेत्र पसारे उसका पंथ निहारती रही है।[१] तत्पश्चात् रत्नसेन ने पद्मावती को पकड़ कर गलबांही दी, बिछुड़ी हुई धुनि हृदय से लग गई। नवो रस से छक कर दम्पति केलि क्रीड़ा में व्यस्त हो गए, परस्पर अधर रस लेने लगे।[२] रत्नसेन के अति करने पर पद्मावती विनय करने लगी कि 'पिय आज्ञा मैं माथे पर लूंगी। जो मांगोगे अतिनम्र भाव से सिर झुका कर दूंगी। किन्तु पिय मेरा एक वचन सुनो, मधु को थोड़ा थोड़ा करके चखो।'[३] संयोग का राम रावण के रण से रूपक बांधते हुए जायसी ने अनेक वर्णन किए हैं। पद्मावती सेना के उपयुक्त समस्त शृंगार से सज्जित होकर पति को ललकारती है कि राम रावण का युद्ध करो। उसकी चाल रति रण के हस्ती हैं, अंचल की गति चंचल ध्वजा हैं। नेत्र समुद्र हैं, नासिका खड्ग है। वह पूर्ण अभिमान के साथ कहती है कि उससे जझ कर कौन बच सकता है।[४]

निश्चय ही इस प्रकार के संयोग वर्णन लौकिक धरातल से सम्बन्ध रखते हैं और अनुभूति से अधिक चमत्कार प्रदर्शन में सहयोग देते हैं।

उसमान ने चित्रावली में सुजान का कौलावती और चित्रावती दोनों से संयोग का विस्तृत वर्णन किया है। चित्रावली से मिलने के पूर्व सुजान जब कौलावती से मिलता है तब वह अनुत्साहित है, उदासीन है। कौलावती मान नहीं कर पाती। वह विनय कर उसके मन की बात

---

१. बिहँसी धनि सुनि के सत भाऊ। हौं रामा तू रावन राऊ॥
रहा जो भौंर कवंल के आसा। कस न भोग मानै रस बासा॥
जसतस कहा कुंवर! तू मोही। तस मन मोर लाग पुनि तोही॥
जब हुंत कहि गा पंखि संदेसी। सुनिउं कि आवा है परदेसी॥
तब-हुत तुम बिन रहै न जीऊ। चातकि भइउं कहत पिउ पीउ॥
भइउ चकोरि सो पंथि निहारी। समुद सीप जस नैन पसारी॥
जायसी ग्रंथावली, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पद्मावत, पृ० १३९।

२. पिय धनि गही, दीन्हि गलबाहीं। धनि बिछुरी लागी उर माहीं॥
ते छकि रस नव केलि करेहीं। चोका लाइ अधर रस लेहीं॥
वही, वही, वही, पृ० १४०।

३. विनय करै पद्मावती बाला। सुधि न, सुराही पिएउ पियाला॥
पिय-आयसु माथे पर लेऊं। जो मांगै नइ नइ सिर देऊं॥
पै, पिय, बचन एक सुनु मोरा। चाख, पिया, मधु थोरै थोरा॥
वही, वही, वही, पृ० १४१।

४. काल्हि न होइ, रही महि रामा। आज करहु रावन संग्रामा॥
सेन सिंगार महूं है सजा। गज-पति चाल, अंचल गति धजा॥
नैन समुद औ खड्ग नासिका। सरवरि जूझ को मोसहुं टिका॥
जायसी ग्रंथावली, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पद्मावत, पृ० १४८।

जान लेती है।[1] सुजान कौंवलावती से बताता है कि वह भ्रमर की भांति दुखी योगी है। वह केतकी की शोध में था, बीच में ही उसे कमल ने ग्रस लिया। जब तक भौरे को केतकी नहीं मिलेगी तब तक वह कमल की अभिलाषा नहीं पूर्ण करेगा। आगे वह कौंलावती को अपना बताते हुए कहता है कि तुम्हारे नेत्रों को मैं अपने नेत्रों से लगा लूंगा, अंक में ग्रहण कर तुम्हारा हृदय शीतल कर दूंगा, मुझे अपने प्रेम रस का चाव नहीं है, तुम्हारे लिए यह सब स्वभाव कर दूंगा। तुमसे सब प्रकार के रस मानूंगा, जहां तक प्रेम का स्वभाव है, किन्तु एक रस तभी होगा जब चित्रावली मिल जायगी।[2] कौंलावली उसकी अनुकूल दृष्टि की ही आकांक्षी है। सुजान उसके अधर का रस अधरों से ग्रहण करता है, एक रस को छोड़ कर अन्य सभी रस लेता है। अधर खंडित करके वक्षस्थल पर नखक्षत करके, जब सुजान उसे छोड़ता है तब उसकी मांग भी 'उबस' गई है, मानो प्रथम समागम ही उसके साथ किया गया हो, क्योंकि उसके सब अंग भी शिथिल हो गए थे।[3] चित्रावली सुजान का संयोग होने पर कँवलावली के कारण चित्रावली कठिन मान करती है।

---

१. दुलहिन दूलह कोहबर मेली, ओ पुन बाहर भई सहेली।
घूंघट कै कौलावलि रही, फिरि सुजान पुनि पाटी गही।
अंबुज मान मनावन आसा, भंवर निठुर पुनि लेइ न बासा।
कौंलावति मन कीन्ह गियाना, कौन मान जो कंत न माना॥
मोंहि पीतम अंतर जहं होई, घूंघट लाज जाउ जरि सोई।
कुलिस तें कठिन सो आहि करेजा, जो तिय मान न कर पिय सेजा॥
लोपन राखौं घूंघट हेरी, अंतमान को राखै फेरी।
मोंहि मूंदत चखु सकल तन, दीन्ह अगिन जनु बारि।
नहिं जानौ पिय सेज पर, मान करहि किमि नारि॥४०५॥
चित्रावली, उसमान, कँवलावती, विवाह खंड, पृ० १५४।

२. कुंअर कहा सुनु राजकुमारी, हौं जोगी जस भवंर दुखारी।
खोजत अहा जो केतकि बासा, बीचहिं अंबुज कीन्ह गरासा॥
जौ लहुं भौरं न कताकि पाव, कौल आस तौ लौ न पुरावे।
तजि तोरे मोहि बाजु न आना, महूं तोहि आपन कै जाना॥
जो संतोख मानहु जिअ बारी, तोहि सौं भाषौं बात रसारी।
नैन कौंल तुअ नैनन लावौं, अंक में गहि तब हिया सेरावो॥
मोंहि न अपन प्रेम रस चाऊ, तोहि लागी यह करौं सुभाऊ।
हम तुम मानहि सबै रस, जहं लहु प्रेम सुभाउ।
एक प्रेम रस होइ तब, जब चित्रावलि पाउ॥४०८॥
चित्रावली, उसमान, पृ० १५५।

३. पुनि गहि कुंअर नारि कंठ लाई, कौल लागि हिय जरनि सिराई॥
अधरन लाइ अधर रस लीन्हा, एक रस छाड़ि और सब लीन्हा।

शंभु की शपथ खाने पर सुजान की बात पर चित्रावली विश्वास कर लेती है, तब सुजान को अंक लगाती है। उसके बाद तो मनमथ फाग संवारते हैं, नई कनक पिचकारी गुलाल का रंग, खेलते खेलते तन के रोम रोम से मोती झड़ने लगते हैं। इस प्रकार शुद्ध रति का, उसके पश्चात् की श्रान्ति का वर्णन उसमान ने किया है।[1] चित्रावली की मांग उधस जाती है, केश राशि बिखर जाती है, वेणी खुल जाती है, हाथ की चूड़ियां फूट जाती है, चित्रावली मतवाली के समान बेसुध पड़ी है, समागम के इस प्रकार के लक्षण देख प्रफल्लित होकर हीरा सखी जाती है और रानी को बुला लाती है, रानी चित्रिनी की मांग चूम कर प्रसन्न हो उसे जगाती है।[2] पुनः कँवलावली सुजान के संयोग का उसमान ने सांगोपांग चित्रण किया है जो शुद्ध लौकिक धरातल पर है।[3]

अधर रदन छद उरज नख, उधसि गई पुनि मांग।
प्रथम समागम जनु कियो, सिथल भयो सब अंग ॥४०९॥

वही, वही, पृ० १५६।

१. कुंअर सपत कामिनि मन माना, सिंभु सपत बाचा परमाना।
रही अंक हेवर समुझाई, लै सुजान तब अंक मैं लाई॥
घूंघट खोलि रूप अस देखा, सो देखा जेहि सीस सुरेखा।
अधर घूंट सो अमिरित पीआ, जेहि के पिअत अमर भा हीआ॥
राहु गरास कलानिधि कांपा, लोयन पल आनन पर झांपा।
पुनि मनमथ रति फागु संवारी, खोलि अधूत कनक पिचकारी॥
रंग गलाल दोऊ लै भरै, रोम रोम तन मोती झरे।
सेद थंम रोमंच तन, आसु पतन सुरभंग।
प्रथम समागन जो कियो सितल भा सब अंग ॥५३६॥
चित्रावली, उसमान, पृ० २०४।

२. सुखसाला सखिआं मिलि गई, सेज बिलोकि अनंदित भई॥
चित्रावलि करि पाऊं अडारी, परी बिसुध जानहु मतवारी।
उधसि मांगि अलकावलि छूंटी, बेनी खुली बली कर फूटी॥
सखी एक हीरा पहं आई, बिकसैं अधर दसन चमकाई।
कहिसि कि आइ देखु धिय साजा, मोहिं कहत आवै मुखलाजा।
रानी आइ देखि मुसुकाई, मांग चूमि चित्रिनी जगाई।
वही, वही, प० २०४-२०५।

३. पदुम कोस अलि लीन्ह बसेरा, हिए सोच भइ मालति केरा।
नीरज लोचन रूप अतिसाए, दिन कर देखि नीर भरि आए॥
बिहंसि कंत कामिनि कंठ लाई, विरह दगधि उर लाइ बुझाई।
मनमथ दाब जांघ पुनि कांपी, रावन बार लंक गहि चांपी॥

सुजान कंवलावली के प्रथम मिलन के समान मधुमालती में भी मनोहर मधुमालती दो बार मिलते हैं और समागम का पूर्ण रस लेते हैं, केवल एक रस नहीं ग्रहण करते। मधुमालती को सोती हुई देखकर मनोहर सोचता है कि इसे जगा कर रस की वार्ता करूं।[१] दोनों प्रेम की वार्ता सुनते हैं और सुनाते हैं और कामातुर हो जाते हैं, मधुमालती कहती है कि एक कर्म न करना जिससे माता पिता को कलंकित होना पड़े।[२] दोनों इस प्रकार सभी केलि क्रीड़ा करते हैं, रति के लक्षण उनके शरीर के शृंगार और अंगों पर चिन्हित हो जाते हैं। यह बहुत कुछ वैसा ही वर्णन है जिस प्रकार का कंवलावली सुजान का प्रथम समागम का वर्णन चित्रावली में है। विवाहोपरान्त सोहागरात के दिन समागम के पूर्व के भय का भी मंझन ने वर्णन किया है। मधुमालती थर थर कांप रही है मुख से संकेत तक नहीं करती।[३] फिर मंझन ने भी संभोग का नख शिख वर्णन किया है।[४] इस प्रकार के वर्णन किसी भी प्रकार अलौकिक सुख का भाव जगाने में समर्थ नहीं होते। ताराचंद और प्रेमा के भी संयोग का और परस्पर रति क्रियाओं का मंझन ने अंकन किया है। दोनों की रति रंगरेलियों में रात व्यतीत हो जाता है।[५]

दीन्हीं चार नखच्छत छाती, फूट सिधोर सेज भइ राती।
होइगा अंग भंग नव साता, अति परसेद सिथल भइ गाता।।
भयो प्रभात गयो उठि साईं, कौंल पास कुईं चलि आईं।
चित्रावली, उसमान, पृ० २२८, पंक्ति सं० २८।

१. अब जगाइ रस बात कहाऊं, और बचन सुनत रस भाऊं।।
मंझन कृत मधमालती, पृ० ३१, पंक्ति सं० २८।

२. सुनत सुनत रस भाव क बाता, जागा मदन बिआपा गाता।
वही, पृ० ३९, पंक्ति सं० ६।

३. मुख मुख सैन सौंह ना करई। प्रथम समागम डर थरहरई।
मंझन कृत मधुमालती, पृ० १३३, पंक्ति सं० ७।

४. सुत पेम रस अंकम भरेऊ, रतन अबोध बेध जो परेऊ।
कंचुकि तरकि तरकि उर फाटी, बोधसिस मांग और पाटी।
सेंदुर मिलिगा तिलक लिलारा, काजर नैन पीक रतनारा।
कंठहार गिवहार जे टूटे, दलिमल दलै देह सो छूटै।
बहुरि फूटिगो अंब्रित खानी, भो सांती जो सालति रानी।
वही, पृ० १३३, पंक्ति सं० २०-२५।

५. उठा कोह जो मनमथ दाधा, मन ढीला और गात बिआपा।
बज्र समान आह जो व्यापा, भौ रवि उदै सोर भै थापा।
कुंअर चपरि कै अंगरी चांपी, सघन स्याम जनु दामिनिकांपी।

निष्कर्ष

संयोग श्रृंगार के जो उपर्युक्त उद्धरण दिएगए उनसे यह निष्कर्ष स्वतः प्रकट हो जाता है कि प्रेमाश्रयी शाखा के संभोग वर्णन बहुत नग्न रूप में हैं और अश्लीलता के निकट पहुंच गए हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ग्रन्थ रचना करने में इस प्रकार की वास्तविकता को वैज्ञानिक शैली में पूर्ण रूप से अनावरण करके रखने की क्या आवश्यकता थी? इस प्रकार का श्रृंगार वर्णन निश्चित रूप से स्थल संवेदनाओं को ही स्पर्श करता है।

रीति साहित्य की रचना करते समय सांसारिक भोग विलास से परिपूरित वातावरण को उद्दीप्त करने योग्य साहित्य सृजन के समय प्रेमाश्रयी शाखा के साहित्य के संयोग श्रृंगार के स्थलों ने अपनी पूरी सहायता दी होगी। प्रेमाश्रयी शाखा के ग्रन्थों के अन्तर्गत सपत्नी के दुख के वर्णनों ने[1] और कामशास्त्र सम्बन्धी स्थलों ने[2] भी रीति साहित्य के कवियों को आकर्षित किया होगा।

रामभक्ति शाखा : प्रेमोदय

रामभक्ति शाखा के साहित्य में श्रृंगार सम्बन्धी स्थल अन्य शाखाओं की अपेक्षा बहुत अल्प हैं। जो वर्णन हैं वे अति मर्यादित हैं। श्रृंगार वर्णन के प्रसंग राम सीता तथा शिव पार्वती के सम्बन्ध में है। पूर्वराग का वर्णन मिलता है। शंभु पार्वती और रामसीता दोनों ही प्रसंगों में पूर्व राग के चित्र मिलते हैं। सीता और पार्वती दोनों के हृदय में गुण श्रवण के आधार पर जन्म जन्मान्तर का संबंध होने के कारण प्रेम का उदय होता है। इस प्रसंग को लेकर अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुणकथन व जड़ता के यत्किंचित उदाहरण मिल जाते हैं। किन्तु यह विवाह के पूर्व का प्रेम अत्यन्त मर्यादित है, इसमें काम दशाओं के विस्तृत वर्णन होने का प्रश्न ही नहीं उठता। पूर्वराग के उदय के चित्र स्वाभाविक हैं।

किंचित् रसोन्मेष की स्थिति में तुलसीदास ने तिरछी नयनदृष्टि के वर्णन किए हैं। राम प्रेम से पीछे प्रिया की ओर निहार कर चित्त देकर और चित्त चुराकर आगे बढ़ गए।[3] एक स्थल

बहुरि जो कर कुच मर्दत गए, संकुचित सांस उसांसित भये।
नौल नेह तो जोबन अंगा, रैनि बिहानि दुओ रति रंगा।
वही, पृ० १४७, पंक्ति सं० ६-१०।

१. पद्मावत, पृ० १९२; चित्रावली, पृ० २२९।

२. पद्मावत, स्त्री भेद वर्णन खंड, पृ० २०७-२०८।
चित्रावली, काम शास्त्र खंड, पृ० २१०-२१७।

३. प्रेम सों पीछे तिरीछे प्रियाहि चितै चितु दै चलै लै चितु चोरें।
स्याम सरीर पसेउ लसै, हुलसै 'तुलसी' छबि सो मन मोरे।
लोचन लोल, चलैं भृकुटीं कल काम कमानहु सो तृनु तोरें।
राजत राम कुरंग के संग निषंग कसैं, धनुही सरु जोरें।
कवितावली, अयोध्याकाण्ड, पृ० ३६।

पर लक्ष्मण उर्मिला के परस्पर सुलोचन कोनों से अवलोकन का भी दृश्य तुलसीदास ने खींचा है।[1] परन्तु इस प्रकार के स्थल बहुत कम तथा संक्षिप्त रूप में हैं।

विरह

विरह वर्णन में मिलने की उत्कंठा के चित्र रामभक्ति साहित्य में मिल जाते हैं, किन्तु भोग विलास की लालसा का इस विरह में कोई स्थान नहीं है। सिया के विरह में व्याकुल राम का अरण्यमूक पर्वत पर पहुँचकर सुग्रीव के द्वारा प्राप्त सीता के वस्त्राभूषणादेख कर अपने पर किंचित वश नहीं रह जाता। मन प्रेम से विवश हो उठता है, तन में कंप छा जता है, कमल नयन अश्रु-पूरित हो उठते हैं; कुछ कहते हुए संकोच होता है किन्तु सीता के सुन्दर शील स्नेह व गुण स्मरण करके हृदय में उमंग होती है। राम को ऐसा लगता है कि उनके समस्त पुण्य समाप्त हो गए। राम के वियोग का कष्ट इतना हृदयविदारक है कि तुलसी के विचार में जो इसका वर्णन करता है वह बहुत निष्ठुर और जड़ है।[2] राम के विरह का एक और चित्र तुलसीदास ने खींचा है जब हनुमान सीता का पता लगाकर आते हैं तब राम की क्या स्थिति होती है—

> कपि के सुनि कल कोमल बैन।
> प्रेमपुलकि सब गात सिथिल भए, भरे सलिल सरसीरुह नैन।
> सिय वियोग सागर नागर मनु बुड़न लग्यो सहित चित चैन।
> लही नाव पवन प्रसन्नता, बरबस तहां गह्यो गुन मैन।

---

१. जैसे ललित लषन लाल लोने।
तैसिये ललित उरमिला, परसपर लखत सुलोचन कोने।
सुखमासार सिंगार सार करि कनक रचे है तिहि सोने।
रूप प्रेमपरमिति न परत कहि, बिथकि रही मति मौने।
सोभा सील सनेह सोहावनों, समउ केलि गृह गौने।
देखि तियनि के नयन सफल भये, तुलसीदासहू के होने।
गीतावली, बालकाण्ड, पृ० १६८-१६९।

२. भूषन बसन बिलोकत सिय के।
प्रेम बिबस मन, कंप पुलक तनु, नीरजनयन नीर भरे पिय के।
सकुचत कहत, सुमिरि उर उमगत, सील सनेह सुगुन गन तिय के।
स्वामि दसा लखि लषन सखा कपि, पिघले हैं आंच माठ मानो घियके।
सोचत हानि मान मन, गुनि गनि, गये निघटि फल सकल सुकिय के।
बरने जामवंत तेहि अवसर, बचन विवेक बीर रस बियके।
धीर बीर सुनि समझि परसपर बल उपाय उघटत निज हिय के।
तुलसिदास यह समउ कहेते कबि लागत निपट निठुर जड़ जिय के।
गीतावली, किष्किन्धा कांड, पृ० २८९, पद सं० १।

सकत न बूझि कुसल, बूझे बिन गिरा बिपुल व्याकुल उर ऐन।
ज्यों कुलीन सुचि सुमति वियोगिनि सनमख सहै बिरह सर पैन।
धरि धरि धीर वीर कोसलपति किए जतन सके उत्तरु दै न।
तुलसीदास प्रभ सखा अनज सो सैनहिं कह्यौ, चलहु सजि सैन।[१]

राम के विरह चित्रण में विरह वाणों की उपमा देने के साथ सीता की वियोगावस्था के वर्णन में विरहाग्नि का भी उल्लेख आ गया है—

कबहूं, कपि ! राघव आवहिंगे?
मेरे नयनचकोर प्रीति बस राकाससि मुख दिखरावहिंगे।
मधुप, मराल, मोर, चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे।
अंग अंग छबि भिन्न भिन्न सुख निरखि निरखि तहं तहं छावहिंगे।
बिरह अगिनि जरि रही लता ज्यों कृपादृष्टि जल पलुहावहिंगे।
निज बियोग दुख जानि दयानिधि मधुर बचन कहि समुझावहिंगे।
लोकपाल सुर नाग मनुज सब परे बंदि कब मुकतावहिंगे।
रावन बध रघुनाथ बिमल जस नारदादि मुनिजन गावहिंगे।
यह अभिलाष रैनि दिन मेरे, राज विभीषन कब पावहिंगे।
तुलसिदास प्रभु मोह जनित भ्रम, भेदबुद्धि कब बिसरावहिंगे।[२]

एक स्थल पर इस प्रकार भी सीता कहती है कि विरहानल से सन्तप्त; श्वास समीर जिसमें सहायता देता रहता है, मेरे शरीर के दग्ध होने में कोई सन्देह नहीं था किन्तु नेत्र रात दिन एकतार जल बरसाते रहते हैं।[३]

इस प्रकार रामभक्ति शाखा में विरह शृंगार के वर्णन नितान्त अनुपलब्ध नहीं है किन्तु ये वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त व मर्यादित हैं, साथ ही मुक्त भाव से स्वतन्त्र रूप में विरह वर्णन कहीं नहीं है। विरह चित्र के प्रत्येक पद में और अनेक अन्य बातों की भीड़ है जैसा कि उपर्युक्त उद्धरणों में दृष्टिगत होता है।

संयोग शृंगार

राम सीता के आपसी मधुर व्यवहार का तुलसीदास ने कहीं कहीं वर्णन किया है, किन्तु

---

१. गीतावली, सुन्दरकांड, पृ० ३१६, पद सं० २१।
२. गीतावली, सुन्दरकांड, पृ० ३०३, पद सं० १०।
३. कहु कपि ! कब रघुनाथ कृपा करि, हरि है निज बियोग संभव दुख।
राजिवनयन, मयन अनेक छबि, रबि कुल कुमुद सुखद मयंक मुख।
बिरह अनल स्वास समीर निज तनु जरिबे कहं रही न कछू सक।
अति बल जल बरषत दोउ लोचन, दिन अरु रैन रहत एकहि तक।
गीतावली, सुन्दरकांड, पृ० ३०२, पद सं० ९।

संयोग श्रृंगार के सांगोपांग कोई भी चित्र राम भक्ति शाखा के कवियों ने नहीं अंकित किए हैं। कुछ वर्णन इस प्रकार के हैं जैसे विवाह के अवसर पर रामचन्द्र जी के पास बैठी सीता के कंकण में राम की परछाहीं पड़ने पर सीता अपनी सारी सुध बुध भूल कर उसे निहार रही है, उनके हाथ जहाँ के तहाँ रुक गए हैं। पलकें भी वे नहीं हिलाती हैं।[१] वन गमन के प्रसंग में सीता की थकान देख कर राम के नेत्रों से जल झरने लगा।[२] सीता थकने पर पूछती है कि वन कितनी दूर और है। प्रभु के नेत्र कमलों में जल उमड़ पड़ता है, कहते हैं, अरी सुंदरि ! अभी वन कहां ? पुनः सीता की ओर प्रीतिपूर्वक निहारते हैं।[३] सीता को प्यासी देखकर लक्ष्मण जल लेने चले गए हैं, राम मुख मुड़कर सीता की ओर देखते हैं।[४] वन में अधिक समय व्यतीत होने के कारण राम सीता के सुख श्रृंगार के स्थान पर करुणा माधुर्य के दृश्यों का होना स्वाभाविक है।

गीतावली में राज्याभिषेक के पश्चात् प्रिया के प्रेम रस में पगे जंभाई लेते आलस्य पूर्ण श्यामल सलोने गात वाले राम के प्रातःकाल उठने के वर्णन में तुलसीदास ने राम सीता के संयोग श्रृंगार का संकेत दिया है।

> भोर जानकी जीवन जागे।
> सूत मागध प्रवीन, बेनु बीना धुनिद्वारे, गायक सरस राग रागे।
> स्यामल सलोने गात, आलसबस जंभात प्रिया प्रेम रस पागे।
> उनींदे लोचन चारु, मखसुखमा सिंगार हेरि हारे मार भूरि भागे।

---

१. दूलह श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुन्दर मंदिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुंदरि बेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ाहीं।
राम को रूपु निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारत नाहीं।
कवितावली, बालकांड, पृ० १६, छंद सं० १७।

२. पुरते निकसी रघुबीर बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनीं जल की, पुट सूखिगए मधुराधर द्वै।
फिरि बूझति हैं, चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तियकी लखि आतुरता पिय की अंखियां अति चारु चलीं जल च्वै।
वही, अयोध्याकांड, पृ० २७, छंद सं० ११।

३. कहौ सो बिपिन है धौं केतिक दूरि।
जहां गवन कियो, कुंवर कोसलपति, सिय पिय पतिहि बिसूरि।
तुलसिदास प्रभु प्रियावचन सुनि नीरजनयन आए पूरि।
कानन कहां अबहिं सुनु सुंदरि, रघुपति फिर चितए हित भूरि।
गीतावली, अयोध्याकांड, पृ० १८४, १८५, पद सं० १३।

४. फिरि फिरि राम सिय तनु हेरत।
गीतावली, अयोध्याकांड, पृ० १८५, पद सं० १४।

सहज सुहाई छबि, उपमा न लहैं कबि, मुदित बिलोकन लागे।
तुलसिदास निसि बासर अनूप रूप रहत प्रेम अनुरागे।[1]

शिव पार्वती को जगत के माता पिता कह कर उनके शृंगार का व्याख्यान करना तुलसी ने अनुचित समझा है फिर भी तुलसीदास शिव पार्वती के प्रसंग में इतना कह देते हैं कि शिव पार्वती अपने गणों के सहित कैलाश पर्वत पर रहते हुए विविध भोग विलास करते हैं। हर गिरिजाको नित्य नए विहार करते हुए विपुल काल व्यतीत हो गया, तब तारक असुर को मारने वाले षटवदन का जन्म हुआ।[2]

इस प्रकार रामभक्ति साहित्य में संयोग शृंगार का स्पष्ट और उच्छृंखल रूप नहीं उपलब्ध होता, वरन् सांकेतिक, संक्षिप्त तथा मर्यादित रूप उपस्थित होता है। राम के मर्यादित चरित्र को लेकर अस्थायी मनोरंजक वातावरण का निर्माण करना असम्भव था। इस शाखा के साहित्य का इसीलिए आगे आने वाले रीति साहित्य पर लगभग नहीं के बराबर प्रभाव पड़ा।

ज्ञानभक्ति शाखा, रामभक्ति शाखा : शृंगार वर्णन

निर्गुण धारा की ज्ञानभक्ति शाखा के शृंगार वर्णन से सगुण धारा की रामभक्ति शाखा के शृंगार वर्णन का साम्य इस रूप में है कि इन दोनों शाखाओं के अन्तर्गत लौकिक शृंगार वर्णनों का अभाव है। परवर्ती साहित्य को प्रभावित करने योग्य शृंगार वर्णन इन दोनों शाखाओं के साहित्य में नहीं उपलब्ध होते। ज्ञानभक्ति शाखा एवं रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत साहित्य शास्त्र की दृष्टि से सांगोपांग शृंगार वर्णनों का अभाव है। स्थूल संवेदनाओं को तुष्ट करते में, इन दोनों शाखाओं का काव्य असमर्थ है। आध्यात्मिक अथवा उच्च साहित्यिक रुचि के अध्येता को ही इन दोनों शाखाओं के साहित्याध्ययन से रस स्थिति प्राप्त होने की संभावना है। यही कारण है कि रीति साहित्यकारों को इन दोनों शाखाओं से ग्रहण करने योग्य सामग्री नहीं मिली।

ज्ञानभक्ति शाखा एवं रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत शृंगार वर्णन का जो विश्लेषण किया गया उससे यह तथ्य प्रकट होता है कि दोनों शाखाओं के साहित्य की शृंगार भावना में मूलगत भेद है। साकार प्रिय के अभाव में निर्गुण परमेश्वर के मिलन के चित्रण में ज्ञानभक्ति शाखा के संयोग शृंगार सम्बन्धी पदों में सहज उल्लास एवं उमंग देख कर आश्चर्य होता है। 'दुलहिनि गावहु मंगलचार। हमारे घर आए राजा राम भर्तार।' अथवा 'आज मेरे घर प्रीतम आए' आदि

---

१. गीतावली, उत्तरकांड, पृ० ३८२, पद सं० २।

२. जबहिं संभु कैलासहिं आए। सुर सब निज निज लोक सिधाए।
जगत मातु पितु संभु भवानी। तेहि सिंगार, न कहउं बखानी।
करहिं विविध विधि भोग बिलासा। गनन्ह समेत बसह कैलासा।
हर गिरिजा बिहार नित नयऊ। एहि विधि विपुल काल चलि गयउ।
तब जनमेउ षटबदन कुमारा। तारक असुर समर जेहि मारा।
राम चरित मानस, बालकांड, पृ० १९८, १९९।

में जिस उल्लास के दर्शन होते हैं वह अत्यन्त स्वच्छन्द मुक्त आनन्द है जिस आनन्द को रामसाहित्य के संयोग शृंगार के चित्र प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। दोनों शाखाओं में इष्टदेव के लिए राम का नामैक्य होने पर राम की भावना के प्रति भेद होने के कारण शृंगार वर्णनों का भिन्न होना स्वाभाविक था।

ज्ञानभक्ति शाखा के राम सर्वव्यापी राम हैं जिनसे आत्मा मिलते ही अत्यन्त उल्लसित हो जाती है। स्थूलता के सहज लोप के परिणामस्वरूप ज्ञानभक्ति शाखा के काव्य में शृंगार चित्र स्थूल मर्यादा के बंधन से मुक्त होते हुए भी मांसलता से रहित हैं। ज्ञानभक्ति शाखा के शृंगार चित्रण की यही सबसे बड़ी विशेषता है। भोग विलास की स्थूलता का स्पर्श तक नहीं है किन्तु उन्मुक्त मिलन का भाव परिपूर्ण है।

रामभक्ति शाखा के काव्य में स्थिति भिन्न है। राम साक्षात् नरदेह धारी हैं। प्रत्येक लीला वे मनुष्य की भाँति सम्पन्न करने के हेतु प्रयत्नशील हैं। किन्तु वे कवि के इष्टदेव हैं। फलतः उनके शृंगार वर्णन के न करने का कारण श्रद्धा और मर्यादा का दबाव है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रामसीता के शृंगार वर्णनों का अभाव अनुचित हो सकता है किन्तु नैतिक व आध्यात्मिक दृष्टि से यह उचित ही रहा। आलोच्यकाल के अनन्तर इस शाखा के अन्तर्गत रसिक भावना के आविर्भाव ने न तो रामभक्ति साहित्य के सौन्दर्य को बढ़ाया और न उसे अधिक महत्वपूर्ण बनाने में ही कोई योग दिया।

कृष्णभक्ति शाखा : रूप देख कर मोहित

केवल कृष्ण का नाम सुन कर अथवा उनके गुण श्रवण से मोहित होने की बात कृष्णभक्ति साहित्य में नहीं मिलती। कृष्ण में ऐसे गुण नहीं दिखाए हैं जिन्हें सुनते ही विरह जाग पड़े। सूर की राधा इसका सटीक उदाहरण प्रस्तुत करती है जब वह कृष्ण के पूछने पर कहती है कि 'हां सुनती रहती थी कि नंद का एक ढोटा है जो माखन दधि की चोरी करता रहता है—

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहां रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कहुं ब्रज खोरी।
काहे कौं हम ब्रज तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति स्त्रवनि नंद ढोटा, करत फिरत माखन दधि चोरी।
तुम्हरौ कहा चेरि हम लैहैं, खेलन चलो संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी।[१]

सर्वत्र कृष्ण के रूप दर्शन से ही गोपियों के आकर्षित होने का वर्णन है, मीरा के कई पदों में कृष्ण के रूप को देखकर अटकने का वर्णन किया गया है। उदाहरण स्वरूप दो पद प्रस्तुत हैं:—

थारो रूप देख्यां अटकी।
कुल कुटुम्ब सजण सकल बार बार हटकी।

---

१. सूरदास, पृ० ४९७, पद सं० १२९१।

बिसरयां णा लगण लगा मोर मुगट नटकी।
म्हारो मण मगण स्याम लोक कह्यां भटकी।
मीरा प्रभु सरण गह्यां जाण्या घट घट की।[१]
निपट बंकट छबि अटकै।
म्हारे णेणा निपट बंकट छवि अटके।
देख्यां रूप मदन मोहन री, पियत पियूख न भटके।
बारिज भवाँ अलक मतवारी, णेण रूप रस अटके।
टेढ्यां कर टेढ़े करि मुरली, टेढयां पाग लर लटके।
मीरा प्रभु रे रूप लुभाणी, गिरधर नागर नटके।[२]

सूरदास की राधा, कृष्ण का रूप देख कर विवश हो जाती हैं।[३] कृष्ण भी अचानक राधा को देख कर रीझ जाते हैं। दोनों के नैन मिलते हैं और ठगोरी पड़ जाती है। श्याम पूछते हैं तुम कौन हो, दोनों में परिचय होता है, प्रथम स्नेह का उद्‌भूत होना दोनों ही मन में समझ गए। नेत्रों में ही वार्ता हुई, गुप्त प्रीति प्रकट हो गई। शपथ दिलाई गई कि प्रातः और सन्ध्या एक बार अवश्य फेरा लगा जाना, तुम अत्यन्त सीधी दिखाई देती हो, इसीलिए तुम्हारा साथ कर रहा हूँ, तुम्हारा मन भला मैं क्या चुराऊंगा, और कृष्ण भोली राधिका को बातों में भुला लेते हैं, दोनों की कहानी बन जाती है।[४]

---

१. मीराबाई की पदावली, पृ० १०३, पद सं० ९।
२. वही, वही, पद सं० १०।
३. मेरे हिय लागै मन मोहन, लै गए री चित चोरि।
अबहीं इहि मारगह्वै निकसे, छवि निरखत तृन तोरि।
मोर मुकुट, स्त्रवननि मनि कुंडल, उर बनमाल, पिछोरि।
दसन चमक, अधरनि अरुनाई, देखत परी ठगोरि।
ब्रज लरिकन संग खेलत डोलत, हाथ लिए चक डोरि।
सूरस्याम चितवत गए मोतन, तन मन लियौ अंजोरि ॥१२८८॥
तब तैं मेरौ ज्यौ न रहि सकत।
जित देखौं तितहीं मृदु मूरत, नैननि मैं नित लागि रहत।
ग्वाल बाल सब संग लगाए, खेलन मैं करि भाव चलत।
अरुझि पर्‌यौ मेरो मन सब तैं, कर झटकत चक डोरि हलत।
अब मैं कहा करौं री सजनी, सुरति होति तब मदन दहत।
सूर स्याम मेरो मन हरि लियौ, सकुच छांडि मैं तोहि कहत ॥१२८९॥
सूरसागर, पृ० ४९६।
४. सूरसागर, पृ० ४९६, ४९७, पद सं० १२९०, १२९२।

उन्मुक्त प्रकृति के अंक में

कृष्णभक्ति साहित्य के श्रृंगार की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वह प्रथम मिलन से लेकर[१] सुरति तक उन्मुक्त प्रकृति के अंक में पोषित हुआ है। यही कारण है कि कृष्णभक्ति श्रृंगार वर्णन में बराबर सरलता, नवलता, उत्फुल्लता तथा सक्रियता का बोध होता है। घर की बंद चहारदीवारी के अन्दर घुटे हुए श्रृंगार चित्र कृष्णभक्ति काव्य में बहुत अल्प हैं। प्रकृति के नित्य नवीन रंग के रमणीक अंचल ने राधा की साहसपूर्ण केलि क्रीड़ाओं पर निरन्तर अपनी छाया रखी है। कुंज गलियों में कृष्ण मिलन हेतु राधा घर से अनेक प्रकार के श्रृंगार करके निकलती हैं—

> मदनगोपाल मिलन को राधे। द्यौस कुंज बन बनि चली कामिनि।
> सकल सिंगार विचित्र विराजित नखसिख अंग अनूप अभिरामिनि।[२]

अथवा—

> आजु आंजी आछी अखियां सारंगनैनी मान सो।
> लगति मानों गज बेलि की गासी सानि धरी खरसान सों।
> ओर कोर चलि जाति स्यामता तकति तरुणिनैन बान सों।
> स्याम सुभग तन घात जनावतिप्रगटत अधिक उनमान सो।
> घूंघट में मनमथ को पारधी तिलहु भाल भृकुटी कमान सो।
> 'कुंभनदास' सजि सुरति करन चली गिरधर रसिक सुजान सों।[३]

कृष्ण भी कम बन ठन कर नहीं जाते।[४] किन्तु इतना श्रृंगार करके जाने पर भी राधा कृष्ण परस्पर फूलों का श्रृंगार करते हैं। फूल श्रृंगार के अनेक चित्र भक्त कवियों ने खींचे हैं।[५]

---

१. खेलत हरि निकसै व्रज खोरी।
कटि कछनी पीतांबर बांधे, हाथ लए भौंरा, चक-डोरी।
मोर मुकुट, कुंडल स्रवननि बर, दसन दमक दामिनि छबि छोरी।
गए स्याम रबि तनया कै तट' अंग लसति चंदन की खोरी।
औचक ही देखी तहं राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।
नीलबसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी।
संग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन थोरी, अति छबि तन गोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगोरी।
सूरसागर, पृ० ४९६, ४९७, पद सं० १२९०।

२. कुंभनदास, पृ० १००, पद सं० २९४।

३. वही, पृ० १०१, पद सं० २९८।

४. वही, पृ० १०१ पद सं० २९७।

५. हरिव्यास देव, निम्बार्कमाधुरी, पृ० ४५, पद सं० १९, २०।
रूपरसिक देव, वही, पृ० १०३, पद सं० १६।

वसंत

वसंत की उमंग राधाकृष्ण को और अधिक उत्साहित कर देती है। अनेक प्रकार से बसंत के गत्यात्मक रंगीन चित्र सूरदास, श्री भट्ट, रूपरसिक देव आदि कवियों ने अंकित किए हैं। बसंत ऋतु के आगमन से दंपति के मन का सुख बढ़ जाता है, मान का, विरह का अन्त हो जाता है। सूरदास का एक पद उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है—

आयौ आयौ पिय ऋतु बसंत। दंपति मन सुख बिरह अंत।
फागु खेलावहु संत कंत। हा हा करि तृन गहति दंत।
तुरत गए हरि लै मनाउ। हरषि मिले उर कंठ लाइ।
दुख डार्‌यौ, तुरतहि भुलाइ। सो दुख दुहु कै उर न भाइ।
रितु बसंत आगमन जानि। नारिन राखी मान बानि।
सूरदास प्रभु मिले आनि, रस राख्यौ रति रंग हानि।[१]

वल्लभ सम्प्रदाय व निम्बार्क सम्प्रदाय दोनों के कवियों ने वसंत ऋतु के मनोहर वर्णन किए हैं। सूरसागर में इस प्रसंग पर अनेक पद हैं।[२] श्री भट्ट जी के इस प्रसंग के दो पद निम्नलिखित हैं—

मंगल बिमली सबहि मिलि खेलौ हिम हुलसन्त।
मान बिरह दुख मेटनो आयो रितुराज बसंत।
आयो रितु बसंत सजनी हेत भयौ सब हिय को।
अब मिलि मंगल बिमली खेलौ मान बिरह गयो जिय को।
चित में चाह उछाह बढ़ायो सहज संग भयो पिय को।
श्री भट कूट कोप करि नागरि दीप जरायो घिय को।[३]
नवल किसोर नवनागरी नव सब सोज रु साज।
नव वृन्दावन नव कुसुम नव बसंत रितुराज।
नवल बसंत नवल वृन्दावन नवलहिं फूले फूल।
नवलहिं कान्ह नवल सब गोपी नृत्यत एकै तूल।
नवलहि साखि जवादि कुमकुमा नवलहिं बसन अमूल।
नवलहि छींट बनी केसरि की मेटत मन्मथ सूर।
नवल-गुलाल उड़े रंग बूका नवल पवन के झूल।
नवलहिं बाजे बाजे 'श्रीभट' कालिन्दी के कूल।[४]

---

१. सूरसागर, पृ० १२०७, पद सं० ३४६९।
२. वही, पृ० १२०४-१२५४।
३. श्री भट्ट जी, निम्बार्क माधुरी, पृ० १६, पद सं० ३६।
४. श्री भट्ट जी, निम्बार्क माधरी, पृ० १७, पद सं० ३७।

रूपरसिक देव ने भी कई पद वसंत वर्णन सम्बन्धी लिखे हैं।[१] एक सुन्दर उदाहरण कृष्ण राधिका के एकान्त में खेलने का निम्नलिखित हैं—

जुवराज जुगुल खेलत बसंत, बंसीबट जमुना तट इकंत।
कमनीय कुंज मृदु महारंजु, साजिलई सहज सुखमई संगु।
बरवनक बनी चहुं ओर वाल, मिलि मच्यो परस्पर रंग जाल।
छिरके छिरकावे छबि सो गात, नेह नीर भरे अंबर चुचात।
बहु बरन बरन बूका गुलाल, करि कौतुकअति बाढ्यो बिसाल।
बाजे मृदंग डफतार ताल, गावैं सुगन्ध सुरगीत गाल।
रह्यो रागरंग अनुराग छाय, सोसुख मुख करि कछु कह्यो न जाय।
नवरंग रंगीले नवकिसोर, अंग अंग उमंग न भरे बोल।
बलि 'रूपरसिक' जन प्रान पाल, हिये बसो अनुदिन दोऊलाल।[२]

बसंत के साथ फाग खेलने के अनेकानेक पद कृष्ण भक्ति साहित्य में उपलब्ध होते हैं। मीरा का होली खेलने का एक बहुत ही सुन्दर पद है।

रंग भरी राग भरी रग सूं भरी री।
होली खेल्या स्याम संग रंग सूं भरी री।
उड़त गुलाल लाल बादला रो रंग लाल पिचकां उडावां
रंग रंग री झरी री।
चोवां चन्दन अरगजा म्हा, केसर णो गागर भरी री।
मीरा दासी गिरधर नागर, चेरी चरण धरी री।[३]

हिंडोला

कृष्ण भक्ति साहित्य के श्रृंगार वर्णनों में हिंडोला अथवा झूलने का प्रसंग अपना विशेष महत्व रखता है। एक साथ झूला झूलते राधाकृष्ण के आनन्द की कोई सीमा नहीं। इस सम्बन्ध में सूरसागर में अनेक पद हैं।[४] फूलों से निर्मित हिंडोल में सरस रस में पगे राधाकृष्ण झूल रहे हैं, पटली नवरत्नों से निर्मित है, उसमें हीरे लाल मोती जड़े हैं, गले में फूलों की मालाएं पड़ी हैं।[५] मोहन के मन का आनन्द झूलते हुए बढ़ गया। एक ओर वृषभान नंदिनी हैं, एक ओर ब्रज चन्द

---

१. रूपरसिक देव, निम्बार्क माधुरी, पृ० १००, पद सं० ३, ४, ५।
२. वही, बही पृ० सं० १००, १०१, पद सं० ५।
३. मीरा बाई की पदावली, पृ० १४५, पद सं० १४८।
४. सूरसागर, पृ० ११९५-१२०४, पद सं० ३४४७-३४६०।
५. सूरसागर पृ० १२५१, पद सं० ३५३५।

हैं। ललिता विशाखा झुला रही हैं। सोने का डोल है। प्रीतम को निरख कर प्यारी विहँस कर बोल रही है।[१]

श्री भट्ट जी ने हिंडोले पर झूलने के वर्णन इस प्रकार किए हैं कि लाड़िली एवं लाल हिंडोले पर झूल रहे हैं। जमुना बंसी बट के निकट हृदय को हरने वाला हिंडोरा है। रंग देवि आदि झुला रही हैं, प्यारी और पीय झूल रहे हैं। अथवा पिय प्यारी हिंडोरे में झल रहे हैं, रंगदेवि, सुदेवि, विशाखा व ललिता झोटे दे रही है। श्री जमुना बंसी बट के तट सुभग हरियारी भूमि है, दामिनि से डर कर सुकुमारी पिय के हृदय से लिपट गई।[२] हरिव्यास देव ने नवल हिंडोरे में नवलाल के झूलने में नवल डाड़ी पकड़ झूम कर झुक कर रस लेने का वर्णन किया है।[३] स्वामी हरिदास लिखते हैं कि दुलहिनि दूलह डोल झूल रहे हैं। अबीर कुमकुमा उड़ रहा है, रबाब और ताल बज रही है। तरनि तनया यमुना के कूल पर का यह दृश्य है।[४] एक बार श्री कुंजबिहारी बन में श्यामा के साथ हिंडोला झूलते हैं, इस अवसर पर भारी रंग बढ़ता है।[५] एक अन्य पद में अति

---

१. कुंभनदास, पृ० ३८, पद सं० ८०।

२. जमुना बंसी बट निकट हरन हिडोरो हीय।
रंगदेव्यादि झुलावहीं झूलत यारी पीय।
हिंडोलो झूलत हैं पिय प्यारी।
श्री रंग देवि, सुदेवि, बिसाखा झोटा देत ललितारी।
श्री जमुना बसी बट के तट सुभग भूमि हरियारी।
तैसेइ दादुर मोर करत धनि सुनि मन हरत महाही।
घन गरजत दामिनि ते डरि पिय हिय लपटी सुकुंवारि।
जय श्रीभट निरखि छवि देत अपन पौ बारी॥४७॥
श्री भट्ट जी, निम्बार्कमाधरी ० २०, पद सं० ४६, ४७।

३ आली री झुलत हैं नवलाल नवल हिंडोरना।
नवल वृन्दाविपिन अवनी सहज सुखद रसाल।
ललित लतिका लपटि रहि लहलही तरु तमाल।
फूल फूले कमल विमल झलमल बरन बरन बिसाल।
भयो सुभित सकल बन बन मुदित मधुप रसाल।
× × ×
नवल डाड़ी कर गहे दोउ झूमि झुकि रस लेत।
मृदुल अंग मनोज मोहन सुरत संग निकेत।
श्री हरिव्यास देव जी निम्बार्कमाधुरी, पृ० ४९, पद सं० २७।

४. स्वामी हरिदास जी, निम्बार्क माधुरी, पृ० २१३, पद सं० ४९।

५. एक समय एकांत में डोल झूलत श्री कुंज बिहारी।
झोटा देत परस्पर सब मिलि अबीर उडावत डारी।

चित्रात्मक वर्णन करते हुए हरिदास कहते हैं कि देखो री ललना, दुलहिनि दूलह के हिंडोरा झूलते समय गौर श्याम छवि बहुत भांति से द्योतित हो रही है, नीलाम्बर और पीताम्बर के अंचल ध्वजा के सदश चंचल गति से फहरा रहे हैं।[1] विट्ठलपुल देव एक पद में इस प्रकार कहते हैं कि श्यामा श्याम सहेलियों के संग झूल रहे हैं। नवनिकुंज में नव रंग में पगे कृष्ण के साथ गर्वगहीली राधा बिहार कर रही हैं। कभी प्रीतम झुलाते हैं, कभी नवेली प्रिया झुलाती है। ललिता आदि सखियां पुलक कर इस आनन्दकेलि को देख रही हैं।[2]

इस प्रकार वर्षाऋतु और बसंत ऋतु दोनों में हिंडोले पर राधा-कृष्ण के झूलने के वर्णन हैं। बसंत के वर्णनों में अधिक रंगीनी है। वर्षाऋतु में हिंडोले पर झुलते समय बादलों के गरजने और बिजली के चमकने के भय के फलस्वरूप श्यामवर्ण कृष्ण और स्वर्णवर्णाराधिका अधिक निकट आ जाते हैं।

वर्षा, भींगना

वर्षा में निकुंज में बिहार करते हुए राधा व कृष्ण अनेक बार भींग जाते हैं। कभी किसी 'खोहिया' में घुस कर एक दूसरे से लिपट कर खड़े यमुना जल में परछाईं देखते हैं।[3] कभी कुंजों से भीगते हुए चले आ रहे हैं और इस अवसर पर भी हिलमिल कर सुख पा रहे हैं।[4] कुंभनदास कहते हैं कि रिमझिम मेघ बरस रहे हैं, राधिका कहती है कि यहां से ले चलो, मेरी साड़ी भीग रही है

कबहुंक वे उनके वे उनके हों दुहुन की एक सारी।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंज बिहारी बढ्यौ रंग भारी।
स्वामी हरिदास, निम्बार्क माधुरी, पृ० २१९, पद सं० ८४।

१. वही, पृ० २१०, पद सं० ८८।

२. डोल झूल स्यामा स्याम सहेली।
नवनिकुंज नव रंग पिया संग विहरत गर्व गहीली।
कबहूं प्रीतम रसकि झुलावत कबहुंक प्रिया नवेली।
श्री विट्ठल विपुल पुलकि ललितादिक दिन देखत आनंद केली।
श्री विट्ठव विपुल देव जी, निम्बार्कमाधुरी, पृ० २२८, पद सं० १५।

३. जमुना जल में निरखहीं झुकि चंचल निज छांहि।
दोऊ जन ठाढ़े लपटि उर एक ह खोहिया मांहि।
श्री भट्ट जी, निम्बार्कमाधरी, पृ० १८।

४. भींजत कुंजन ते दोऊ आवत।
ज्यों ज्यों बून्द परत चूनरि पर त्यों त्यों हरि उर लावत।
अति गंभीर झीने मेघनि की द्रुम तर छिन बिरमावत।
जय 'श्री भट्ट' रसिक रस लंपट हिलमिलि हिय सचु पावत।
श्री भट्ट जी, निम्बार्कमाधुरी, पृ० १९, पद सं० ४५।

चारों ओर से उमड़ घुमड़ कर बादल आ गए हैं।[1] परन्तु वास्तविकता यह थी कि राधा या कृष्ण कोई बादलों की घुमड़न से भयभीत होने वाले नहीं थे। सूरदास का एक पद है कि बादलों की घटा देख कर नंद कहते हैं कृष्ण को घर पहुंचा दो, राधिका कुंवर का हाथ पकड़ लेती है। दोनों ऐसे में घने वन की ओर चले जाते हैं।[2]

जल-क्रीड़ा

हरिव्यास देव राधाकृष्ण की जल क्रीड़ा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि दोनों सुरत सरिता में ऐसे मग्न हो गए कि तनिक भी नहीं बचे—

दोउ जल क्रीड़ा रस रचे।
स्यामा स्याम सुरत सरिता में मगन अतन तनक न बचे।
सोहत सहज सुमग उर लागे मर्कत कंचन मनि खचे।[3]

संयोग शृंगार

संयोग शृंगार को लेकर कृष्णभक्त कवियों ने राधा व कृष्ण के शृंगार करके चलने, सेज संवारने, नख क्षतादि तथा रतिश्रम तक के सांगोपांग वर्णन किए हैं। सूरदास कहते हैं कि राधा रच रच कर सेज संवारती हैं।[4] अन्य एक पद में सूरदास समागम के पूर्व राधा की प्रतीक्षा का सुन्दर वर्णन करते हैं—

---

१. कुंभनदास, पृ० १०३, पद सं० ३०३।

२. गगन घहराइ जुरी घटा कारी।
पवन झकझोर, चपला चमकि चहुं ओर, सुवन तन चितै नंद डरत भारी।
कह्यौ वृषभानु की कुंवरि सौं बोलि कै, राधिका कान्ह घर लिए जारी।
दोउ घर जाहु संग, गगन भयौ स्याम रंग, कुंवर कर गह्यौ वृषभानु वारी।
गए वन ओर, नवल नंद किसोर, नवल राधा, नए कुंज भारी।
अंग पुलकित भए, मदन तिन तन जए, सूर प्रभु स्याम स्यामा बिहारी।
सूरसागर, पृ० ५००, पद सं० १३०२।

३. श्री हरिव्यास देव, निम्बार्कमाधुरी, पृ० ४७, पद सं० २३।

४. राधा रचि रचि सेज संवारति।
तापर सुमन सुगंध बिछावति, बारंबार निहारति।
भवन गवन करि हैं हरि मेरै, हरषि दुखहिं निरुवारति।
आवैं कबहुं अचानक ही कहि, सुमग पांवडे डारति।
ईहिं अभिलाखहिं मै हरि प्रगटे, निरखि भवन सकुचानी।
वह सुख श्री राधा माधौ को, सूर उनहिं जिय जानी।
सूरसागर, पृ० ९४६, पद सं० २६४७।

अंग श्रृंगार सँवारि नागरी, सेज रचति हरि आवेंगे।
सुमन सुगंध रचत तापर लै, निरखि आपु सुख पावेंगे।
चंदन अंग कुमकुमा मिश्रित, स्रम तैं अंग चढ़ावेंगे।
मैं मनसाध करौंगी संग मिलि, वे मन काम पुरावेंगे।
रति सुख अंत भरौंगी आलस, अंकम भरि उर लावेंगे।
रस भीतर मैं मान करौंगी, वे गहि चरन मनावेंगे।
आतुर जब देखौ पिय नैननि, बचन रचन समुझावेंगे।
सूर स्याम जुवती मनमोहन, मेरे मनहिं चुरावेंगे।[१]

इस प्रकार भाँति भाँति की कल्पनाएँ करते हुए राधा सेज सँवार कर कृष्ण की प्रतीक्षा करती हैं। कृष्ण से मिलने पर राधाकृष्ण के संयोग के वर्णन सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने किए हैं। अभी कृष्ण राधा की अच्छी तरह मैत्री भी नहीं हुई है कि कृष्ण राधा की नीवी आदि पकड़ लेते हैं।[२] नवल गुपाल और नवल राधिका नए प्रेम रस में पगे वन के अंतराल में विहार व क्रीड़ा में अनुराग भरे व्यस्त हैं। वस्त्र शिथिल हैं, मनमोहन अति शोभायमान हो रहे हैं, स्रम से पगे अपने वस्त्र सुखा रहे हैं।[३] बीच में हार बाधक है उसे भी राधिका उतार देती हैं।[४] कभी तमाल के तरुओं के तले यह क्रीड़ा होती है।[५] रतिपति नायक श्रीकृष्ण समस्त सुख विलास के अंत में अत्यन्त रीझ कर राधिका को अंक में भर लेते हैं।[६]

कुंभनदास ने राधा कृष्ण के साथ 'पौढ़ने' के कुछ पद लिखे हैं। प्रभु राधा के सहित कुंज सदन में हैं, सखियाँ सब द्वार पर खड़ी हैं। वृषभान-तनया के साथ केलि करने में नंदनंदन की रुचि बढ़ी है—

---

१. सूरसागर, पृ० ११४९, पद सं० ३३२६।

२. नीबी ललित गही जदुराइ।
जबहिं सरोज धर्‌यौ श्रीफल पर, तब जसुमति गई आइ।
ततछन सदन करत मनमोहन, मन मैं बुधि उपजाइ।
देखौ ढीठि देति नहिं माता, राख्यौ गेंद चुराइ।
तब वृषभान सुता हंसि बोली, हम पै नाहिं कन्हाइ।
काहे कौं झकझोरत नोखे, चलहु न देउं बताइ।
देखि विनोद बाल सुत कौ तब, महरि चली मुसकाइ।
सूरदास के प्रभु की लीला, को जानै इहिं भाइ।
सूरसागर, पृ० ५००, पद सं० १३००।

३. वही, पृ० ५०१, पद सं० १३०४।

४. वही, वही, पद सं० १३०५।

५. वही, पृ० ५०२, पद सं० १३०६।

६. वही, वही, पद सं० १३०८।

राधा के संग पैठे कुंजसदन में सहचरी सबै मिलि द्वारे ठाढ़ी।
नंदनंदन कुंवर बृषभान तनया सों करत केलि में जु रुचि बाढ़ी।

पिया अंग अंग सो लपटाइ स्यामघन
पिय अंग अंग सौ लपटाई स्यामा।
दोउ कर सो कर परसि उरोज अति-
प्रेम सो कियो चुंबन अभिरामा।
लाल गिरिधरन को कंठ लागि पुनि
बहुत भांति करि केलि, निसि सुख दीनों।
दास कुंभन प्रभु प्रात बन कुंज तें,
प्यारी कंठ भुज मेलि गवन कीनों।[1]

अन्य पदों में भी इस प्रकार के वर्णन है।[2] परमानन्ददास के भी इस प्रसंग में कई पद हैं।[3] विट्ठलविपुल देव जी का इस प्रकार का एक पद है—

सुख सेज पौढ़ी भामिनी रसिक लाल के अंग संगनी।
सूरति रंगवर चपल अंग अंग लज्जित नवघन दामिनी।
सुंदरता की राशि किसोरी नहि उपमा को कामिनी।
श्रीविट्ठलविपुल विनोद बिहारी सौं इहि रस विलसत जामिनी।[4]

इसी प्रकार बिहारी दास जी कहते हैं कि दोनों अत्यन्त रंग भरे हैं। दोनों अन्यन्त अनुराग भरे हैं, एक निमिष भी दोनों न्यारे नहीं रह सकते।[5]

राधावल्लभ सम्प्रदाय में नित्य विहार का सिद्धान्त प्रचलित होने के फलस्वरूप संयोग श्रृंगार के पदों का इस सम्प्रदाय के साहित्य में अति आधिक्य है। ध्रुवदास 'रस रत्नावली लीला' में कहते हैं—

प्रथम समागम सरस रस वर विहार के रंग।
विलसत नागर नवल कल, कोक कलन के अंग।

---

१. कुंभनदास, पृ० १०२, पद सं० ३०१।
२. वही, पृ० १०२-१०३, पद सं० २९९-३०३।
३. परमानन्द सागर, पृ० ३५७-३५८, पद सं० ८१९-८२२।
४. विट्ठल विपुल देव, निम्बार्कमाधुरी, पृ० २३२, पद सं० ३७।
५. बिहरत दोउ, अति रंग भारे।
अंसन पर भुज दिए विलोकत वदन ज्योति रति होत परस्पर निरखि कोटि मदन मनहारे।
अति अनुराग सुहाग भए बस रहि न सकत निमिष न दोऊ न्यारे।
'विहारिनदासि' दम्पति राजत मन्दिर निकुंज नित सुन्दर सुघर सुकुमारे।
—विहारिनिदेव, निम्बार्कमाधुरी, पृ० २६३, पद सं० ८२।

नमित ग्रीव छवि सींव रही, घूंघट पटरि संभारि।
चरनन सेवत चतुरई, अति सलज्ज सुकुंवारि।
जो अंग चाहत छुयौ पिय, कुंवरि छुवनि नहि देत।
चितवनि मुसकनि रसभरी, हरि हरि प्राननि लेत।
रस विनोद बिपरीति रति, बरसत प्यार को मेह।
चल्यो उमड़ि भरि नेम की, तोरि मेड़ जल बेह।[१]

राधिका के श्रमिक होने पर कृष्ण उनके चरण दबाते हैं—

चांपत चरन मोहन लाल।
प्रजंक पौढ़ी कुंवरि राधा, नागरी नव बाल।
लेत कर धरि पदसि नैननि, हरषि लावत भाल।
लाइ राखत हृदै सों, तब गनत भाग बिसाल।
देखि प्रिय की अधीनता भई, कृपा सिंधु दयाल।
'व्यास' स्वामिनि लिए भुजभरि, अति प्रबीन कृपाल।[२]

सुरत रंग में रचे कृष्ण की छटा अनुपम है—

सुरत रंग राचे ललित कपोल।
मधुर मधुर कर रंग नागर्रहि, छबि न फबति गति गोल।
अधर दसन नख अंक, पीक रस, पंकिल करत कलोल।
अलकपलक प्रतिबिंबित, झलकत मनि ताटंक बिलोल।
बिहंसत लसत बसत पिय नैननि, माँगत मैननि ओल।
छूटी लट लटकति कुच-घट पर, नाहिन नील निचोल।
जानि कमलदल आनिलचे, लंपट मधुपन के टोल।
'व्यास' स्वामिनी भ्रुवविलास लव, मोहन लीने मोल।[३]

संयोग के चित्रणों में विपरीत रति पर भी अनेक पद उपलब्ध होते हैं।[४] सुरतान्त के चित्रण परमानन्द दास इस प्रकार कहते हैं कि राधा की हारावलि टूट गई है, वाम कपोल पर अलक लट छुट गई है, दोनों बाहों की वलयावलि फूट गई है, डगमगाती कुंज भवन से लौट रही हैं, पीत वस्त्र धारण किए हैं, नेत्र आलस्यवश अरुण वर्ण के हैं, आदि।[५]

---

१. बयालीस लीला, ध्रुवदास, पृ० १६७-१६९।
२. भक्तकवि व्यास जी, पृ० ३००, पद सं० ४१६।
३. भक्तकवि, व्यासजी, पृ० ३०८, पद सं० ४४२।
४. सूरसागर, पृ० ९४७, पद सं० २६५१।
५. परमानन्द सागर, पृ० ३५८-३६२, पद सं० ८२३-८३१।

मान

श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का विशेष गुण बहुगोपिनिविहारी होने के कारण मान को कृष्ण भक्ति काव्य में स्थान प्राप्त हुआ। नंदनंदन सुखदायक हैं। नेत्रों से इशारे कर नारियों का मन मोह लेते हैं, रात्रि में कभी किसी के घर निवास करते हैं और प्रातः उठ कर चले आते हैं।[१] कृष्ण ने परोपकार के हेतु देह धारण की थी, वे सभी की साध पूरी करते हैं, स्त्रियों का उपकार करते हुए घूमते हैं, सूर कहते हैं अंगों को निरख कर आज यह तथ्य समझ में आ गया है।[२] पाग को महावर से रंगी देखकर पहले हंसी आती है।[३] किन्तु धीरे-धीरे व्यंग वचन निकलने लगते हैं प्रातः उठ कर यहाँ क्यों चले आए, इतने लज्जित क्यों हो रहे हो, जहाँ रात को रहे हो वहीं पुनः चले जाओ।[४] उसको बड़ा कष्ट हो रहा है। कृष्ण के अन्य गोपी के साथ वास के प्रत्यक्ष लक्षण देख कर, जो कुछ उसके मुख से निकलता है कह डालती है। रात्रि में उसे सुख देते हो और प्रातः होते ही मुझे डाहने के लिए आ गए हो। बड़ा अच्छा है जो अनोखी नवेली मिल गई है। स्त्री के अंग का चंदन, बंदन, कुंकुम लिए हुए यहाँ चले आए हो। यह तुम्हारे ही लिए बड़ाई की बात होगी, औरों के लिए यह बड़ी लज्जा की बात होती।[५]

---

१. नंदनंदन सुखदायक हैं।
नैन सैन दै हरत नारि मन, काम काम तनु दायक हैं।
कबहुं रैनि बसत काहू कैं, कबहुं भोर उठि आवत हैं।
काहू को मन आपु चुरावत, काहू कै मन भावत हैं।
काहू कैं जागत सगरी निसि, काहू बिरह जगावत हैं।
सुनहु सूर जोइ जोइ मन भावै, सोइ सोइ रंग उपजावत हैं।
सूरसागर, पृ० १०९७, पद सं० ३१५२।

२. वही, वही पद सं० ३१५४।

३. पिय छबि निरखि हंसति तिय भारी।
कहा महाउर पाग रंगाई, यह सोभा इक न्यारी।
अरुन नैन अलसात देखियत, पलक पीक लपटानी।
अधर दसन छत, बंदन राजत, बंधुक पर अलि मानौ।
हृदय रुचिर मोतिनि की माला, नख रेखा तिहिं तीर।
बिनु गुन माल सूर के स्वामी, कुंकुम स्यामसरीर।
वही, पृ० १०९७, १०९८, पद सं० ३१५५।

४. क्यों आए उठि भोर इहां।
काहे को इतनौं सरमाने, रैनि रहे फिरि जाहु तहां।
आदि
सूरसागर, पृ० १०९८, पद सं० ३१५७।

५. सूरसागर, पृ० १०९९, पद सं० ३१६१।

इस प्रकार सूरदास की राधा पहले साधारण मान करती है। कृष्ण सम्मुख खड़े हैं राधा के, राधा हँसती हैं, व्यंग करती हैं, उल्टी सीधी सुनाती हैं।[१] किन्तु उसके बाद मध्यम मान करती हैं। कृष्ण से मिलती ही नहीं। श्याम को दूती भेजनी पड़ती है। बिचारी दूती राधा के कठिन मान से परेशान हो जाती है। पुनः पुनः जाकर कृष्ण से कहती है। श्याम को धैर्य देती है। श्याम सुन कर विरह से भर भर उठते हैं।[२] राधा मान करती अवश्य हैं किन्तु कृष्ण से न मिलने पर विरह व्यथा अन्दर ही अन्दर उन्हें भी सालती रहती है। ऐसी स्थिति का परमानन्ददास एक पद. में इस प्रकार वर्णन करते हैं—

अनमनी बैठीए रहै।
अंतरगत की बिथा मोहिनी काहू सौं न कहै।
सूखौ बदन अधर कुम्हिलाने नैननि नीर बहै।
रजनीं निंदा करत चन्द्र की अलकावली दहै।
तुम्हारे बिरह वियोग राधा बासर घाम सहै।
बेगि मिलहु परमानंद स्वामी दूती बचन कहै।[३]

मान के पश्चात जब राधा मिलने जाती हैं तब मानों रूप से नहा उठी हैं।[४] रति रस से श्रमित दोनों परस्पर देखने में लज्जित हो रहे हैं। राधा कहती हैं मैंने आज तुम्हें पहचाना।[५] कुछ ही दिन सुख विलास में कटते हैं कि पुनः राधा एक दिन प्रातः उसी गोपी के घर उसे यमुना स्नान के लिए बुलाने पहुँची जहाँ रात में कृष्ण बसे थे। राधा तुरन्त वापस लौट जाती हैं। कृष्ण तो ऐसे मुरझा गए मानो ठगमूरी खा ली हो।[६] राधा बड़ा कठोर मान करती है।[७]

सूर की राधा ने छः बार मान धारण किया है। प्रत्येक मान अधिक कठिन होता चला गया है। मान के समय सबसे अधिक धोखा देने वाले नेत्र हैं।[८] वही नेत्र जो हरि हाथों में नहीं समाते थे[९] राधा के प्रत्येक प्रकार के अपशब्द सहते हैं।[१०] परमानन्ददास ने भी मान से सम्वन्धित अनेक पदों की रचना की है।[११] परमानन्द एवं सूर सागर में वर्णित मान लीला के प्रसंग

---

१. वही, पृ० १०९७,-११०५।
२. वही, पृ० ११०५-१११६।
३. परमानंद सागर पृ० ३२८, ३२९, पद सं० ७५३।
४. सूरसागर पृ० १११९।
५. सूर सागर, पृ० ११२५, पद सं० ३२४३, ३२४४।
६. सूरसागर पृ० ११५८, पद सं० ३३५३।
७. सूरसागर, पृ० ११५८-११९५।
८. सूर सागर, नैन समय के पद, आंख समय के पद, पृ० १००३-१०५८।
९. सूर सागर, पृ० ४९७, पद सं० २९३।
१०. सूर सागर, पृ० १०२३, पद सं० २९०३।
११. परमानन्द सागर, पृ० ३०४-३३४, पद सं० ६९३-७६६।

अपने आप में अनोखे हैं। सूर के मान लीला के पद श्रृंगार रस के क्षेत्र की एक अनुपम निधि हैं।

विप्रलंभ श्रृंगार

सूरदास के विप्रलंभ श्रृंगार पर कई विद्वान अपने विचार प्रदर्शित कर चुके हैं। अतः इस सम्बन्ध में पुनरावृत्ति निरर्थक है। कृष्णभक्ति साहित्यान्तर्गत वल्लभ सम्प्रदाय के सभी कवियों ने विरह का चित्रण बहुत मार्मिक बहुत करुण तथा अत्यन्त सरल शैली में किया है।

राधा वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने नित्य केलि के सिद्धान्त पर विश्वास करने के फलस्वरूप विरह को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया है।

वल्लभ सम्प्रदाय की भाँति मीरा के पदों में भी विरह के सच्चे भाव के वर्णन उपलब्ध होते हैं। एक पद में मीरा निर्गुण धारा के संतों के सदृश विरह के तीर एवं विरह अनल से अपने शरीर के व्याकुल होने का वर्णन करती हैं—

री म्हारा पार निकर गया, सांवरे मारया तीर ।।टेक ।।
बिरह अनल लागां उर अन्तरि, ब्याकुल म्हारा सरीर।
चंचल चित चल्यां णा चाल्या, बांध्या प्रेम जंजीर।
क्या जाणा म्हारो प्रीतम प्यारो, क्या जाणा म्हा पीर।
म्हारो काई णा बस सजनी, नैन झरत दोउ नीर।
मीरा रो प्रभु थे मिलयाँ बिनि, प्राण धरत णा धीर।[1]

निम्बार्क सम्प्रदाय के श्री बृन्दावन देव जी के विरह सम्बन्धी कुछ पद मिलते हैं।[2]

कृष्ण भक्ति साहित्य में विरह के जितने भी चित्रण हैं वे कृष्ण से मिल कर बिछुड़ने के अनन्तर हैं। कृष्ण से मिलने के पूर्व विरहानुभूति का इस शाखा के साहित्य में नितान्त अभाव है। वास्तविक विरह वर्णन कृष्ण के मथरा गमन के अनन्तर आता है। सभी तरह से मोहित करके, सभी प्रकार के रसों से अभिभूत करके, रात दिन केलि क्रीड़ा करके, गोपियों की एवं राधा की प्रत्येक इच्छा पूर्ण करने के पश्चात् निष्ठुर कृष्ण कर्त्तव्य प्रेरित होकर मथुरा चले गए और राधा व गोपियों का जीवन स्वयं विरह बन गया। विरह के कष्ट, पीड़ा, दुख, करुणा के अतिरिक्त उस रसकेलिनी, नित्यनवरंगिनी राधा में अन्य कुछ शेष नहीं बचा। राधा के विरह में एक विचित्र सार्द्र कारुण्य है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण से द्रष्टव्य है कि श्रृंगार से सम्बन्ध रखने वाले सभी अंगों का सांगोपांग वर्णन है। रूप देख कर आकृष्ट होना, उन्मक्त प्रकृति की क्रोड़ में कुंज गलियों व वनों में विहार

---

१. मीरा बाई की पदावली, पृ० १४७, पद सं० १५५।

२. श्री वृन्दावन देव जी, निम्बार्क माधुरी, पृ० १५६, पद सं० ५१, ५२, ५३, ५४, ५५।

करना कृष्णभक्ति शाखा के श्रृंगार की विशेषताएँ हैं। बहुत निजीपन के साथ श्रृंगार के अत्यन्त स्वाभाविक एवं सरल चित्र कृष्णभक्तों ने अंकित किए हैं। मान सम्बन्धी पद कृष्णभक्ति साहित्य की अपनी अनोखी उद्भूति हैं। श्रृंगार के सूक्ष्म वर्णन प्रेमभक्ति-शाखा के काव्य में भी हैं और कृष्ण भक्ति शाखा के काव्य में भी हैं। किन्तु जो सरलता, सहजता कृष्णभक्ति शाखा के श्रृंगार प्रवाह में है वह प्रेमभक्ति शाखा के इस प्रकार के अंशों में नहीं है। सुरति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन करने के अनन्तर भी कृष्ण भक्ति साहित्य अश्लीलतापरक नहीं आभासित होता वरन् भक्तिपरक तथा रसपरक आभासित होता है, यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है। कारण एक ही है कि कृष्णभक्त कवियों के हृदय भक्ति भाव से आपूर्ण थे अतः जो भी उन्होंने लिखा वह उस भक्ति भाव में समाविष्ट हो गया। गंगा के पवित्र प्रवाह में प्रत्येक प्रकार का जल गंगाजल बन गया।

राधाकृष्ण के नाम पर लिखने वाले रीति कालीन कवियों को कृष्णभक्ति साहित्य के श्रृंगारात्मक स्थलों ने अत्यन्त प्रभावित किया। किन्तु कृष्णभक्तों के काव्यान्तर्गत इस प्रकार के स्थल कवियों की स्वतंत्र उद्भावना होने के फलस्वरूप स्वतः स्फूर्त तथा निजीपन के गुणों से युक्त थे जब कि रीतिकालीन साहित्य में इस प्रकार के वर्णन व्यक्तिगत उद्भावना न होने के फलस्वरूप उपर्युक्त दोनों गुणों से रहित थे। किन्तु इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि रीतिकालीन श्रृंगार साहित्य का मार्ग प्रशस्त करने में भक्ति काल के श्रृंगारात्मक अंश अत्यधिक सहायक हुए।

(३) भाषा व उक्ति चमत्कार

ज्ञानभक्ति शाखा के संत पढ़े लिखे न होने के कारण साहित्यिक भाषा में अपनी रचनाएँ नहीं कर सके ऐसा समझा जाता है। किन्तु तथ्य यह है कि ज्ञान भक्ति शाखा के संत जिस समय साहित्य रचना कर रहे थे वह हिन्दी का निर्माण काल था। जिस प्रकार की भाषा का उन्होंने प्रयोग किया, भाषा के निर्माण काल में वही प्रशंसनीय था। दूसरी बात यह कि इस शाखा के संत तत्व की अभिव्यक्ति करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने भाषा को सँवारने की आवश्यकता भी नहीं समझी। किन्तु फिर भी ज्ञान-भक्ति शाखा के साहित्य में कहीं कहीं पर शब्दगत चमत्कार स्वयमेव आ गया है। कबीरदास का यह कथन—

एक दिन ऐसा होयगा, कोउ काहू का नाहिं
घर की नारी को कहे, तन की नारी जाहिं।३६।[1]

शब्दगत चमत्कार का सुन्दर उदाहरण है।

वाग्वैदग्ध्य के भी उदाहरण यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं। उदाहरण स्वरूप—

आसै पासै जो फिरै, निपट पिसावे सोय।
कीला से लागा रहे, ताको विघन न होय।३८।[2]

---

१. सन्त बानी संग्रह, भाग १, साखी, कबीर साहब, पृ० ११।
२. वही, वही, पृ० १२।

इसी प्रकार उक्ति सौन्दर्य भी प्रस्तुत दोहे में द्रष्टव्य है––

मनुष्य जन्म दुर्लभ है होय न बारम्बार।
तरवर से पत्ता झरै, बहुरि न लागै डार।४८।[१]

अत्युक्ति के भी दो एक उदाहरण मिल जाते हैं––

विरह तेज तन में तपै अंग सबै अकुलाय
घट सूना जिव पीव में मौत ढूंढि फिरि जाय।२।[२]

विरह का वर्णन करते हुए कुछ स्थलों पर जुगुप्साजनक अत्युक्तियों के रूप में कथन मिलते हैं। दो दोहे प्रस्तुत हैं––

विरह भुवंगम पैठि कै, किया कलेजे घाव।
बिरही अंग न मोड़िहै, ज्यो भावै त्यों खाव।१०।[३]
यहि तन का दिवला करौं, बाती मेलां जीव।
लोहूं सींचव तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव।।१४।।[४]

किन्तु सच्चाई यह है कि निर्गुणिया संतों की उक्तियों में चमत्कार प्रदर्शन की अपेक्षा मार्मिकता की प्रधानता है। उदाहरण के लिए कबीरदास के दो दोहे पर्याप्त होंगे––

हँसौं तो दुख न बीसरै, रोवौं बल घटि जाय।
मन ही माँहि बिसूरना, ज्यों घुन काठहिं खाय।।१६।।[५]
हौं विरह की लकड़ी, समझि समझि धूधाउँ
छूटि पड़ौं या विरह तै, जे सारी ही जलि जाऊँ।।३७।।[६]

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि ज्ञानभक्ति शाखा में भाषा के अन्तर्गत चमत्कार का आविर्भाव स्वभावतः है, सप्रयास नहीं।

प्रेमाश्रयी शाखा में भाषा व उक्ति के अनेक चमत्कारिक प्रयोग मिलते हैं। इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में विचार किया है जिसकी पुनरावृत्ति व्यर्थ है। यहाँ इतना ही संकेत करना है कि काव्य रचना के प्रति इस शाखा के रचयिता निश्चित रूप से चैतन्य थे और पाठक या श्रोता को प्रभावित करना इस प्रकार के प्रयोगों का लक्ष्य है।

राम भक्ति शाखा में यदि केशवदास को लें तो उनकी रचनाओं में इस प्रकार के चमत्कारिक प्रयोगों का अभाव नहीं। किन्तु जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है कि अपनी

---

१. वही, वही, पृ० १३।
२. वही, वही, पृ० १४।
३. वही, वही, पृ० १५।
४. सन्त बानी संग्रह, भाग १, साखी, कबीर साहब, पृ० १६।
५. वही, वही, पृ० १६।
६. कबीर ग्रन्थावली, बिरह कौ अंग, पृ० १०।

रीतिकालीन प्रवृत्तियों के कारण केशव के ग्रन्थों की रचना यद्यपि भक्तिकाल में हुई थी किन्तु उनके ग्रन्थों की गणना रीति साहित्य के अन्तर्गत करना ही समीचीन होगा।

तुलसीदास की दोहावली में भाषा चमत्कार के कुछ उदाहरण मिलते हैं—

तनु विचित्र कायर वचन, अहि अहार मन मोर।
तुलसी हरि भै पचछधर, तातै कह सब मोर॥१०७॥[1]
तिल पर राखेउ सकल जग, विदित बिलोकत लोग।
तुलसी महिमा राम की, कौन जानिबै जोग॥१९८॥[2]
तुलसी तनुसर सुख जलज, भुल हल गज वर जोर।
दलत दयानिधि, देखिये, कपि केसरी किसोर॥२३४॥[3]

कृष्णभक्ति शाखा में अनेक स्थल भाषा के चमत्कारिक स्वरूप को व्यक्त करते हैं। शब्द विन्यास के तो अनेक पद उपलब्ध होते हैं।

चतुर्भुज दास का एक पद है—

सारंग नैनी सारंग गावै।
तन सुख सारी पहिरि झीनी, अति मधुर मधुर मुरवीन बजावै।
अंजन नैन आंजि बिदुंली दी, सैन बैन दृढ़ बान चलावै।
चत्रभुज प्रभु गिरिधरन लाल के, चित अति रति अंतर उपजावै।[4]

उपर्युक्त संक्षिप्त उल्लेखों से इस तथ्य की ओर मात्र संकेत किया गया है कि रीतिकाल में अलंकृत भाषा की चुंदरी ओढ़ कर जो साहित्य प्रकट हुआ उसका मूल भक्ति साहित्य में उपलब्ध होता है। निर्गुण धारा की दोनों शाखाओं के साहित्य-रचना काल में साहित्यिक भाषा अपने निर्माण काल से होकर अग्रसर हो रही थी। सगुण धारा की दोनों शाखाओं के साहित्य की रचना जिस समय होनी प्रारम्भ हुई उस समय तक साहित्यिक भाषा के दोनों रूप ब्रज और अवधी, निर्गुण भक्ति धारा की दोनों शाखाओं के माध्यम से स्थापित हो चुके थे। यह निस्सन्देह तथ्य है कि कृष्ण भक्त कवि जिस कुशलता व सहजता के साथ शब्द विन्यास कर सके वह अन्य तीनों शाखाओं के कवि नहीं कर सकते थे।

सिद्धान्ततः भाषा सम्बन्धी अध्ययन स्वतन्त्र शोध का विषय है। यहाँ पर केवल इतना संकेत करना लक्ष्य था कि यद्यपि निर्गुण और सगुण भक्ति धाराओं के साहित्य में भाषा को अलंकृत करना कवि का लक्ष्य नहीं था, किन्तु फिर भी अलंकरण पूर्ण भाषा के प्रयोग का निर्गुण सगुण साहित्य में अभाव नहीं है।

---

१. दोहावली, पृ० ४४।
२. वही, पृ० ६९।
३. वही, पृ० ८०।
४. चतुर्भुजदास, पृ० १११, राग सारंग, पद सं० २०२।

उपसंहार

अब तक जिन विभिन्न दृष्टिकोणों से हिन्दी भक्ति साहित्य की सगुण व निर्गुण धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया उससे यह स्पष्ट हो गया कि दोनों धाराओं की चारों शाखाओं के साहित्य में विरोधी तत्वों के साथ साथ अनेक बिन्दुओं पर भाव-साम्य दृष्टिगोचर होता है। पहली बात यह कि दोनों भक्ति धाराओं में ईश्वर की अतर्क्य सत्ता पर अनन्य रूप से विश्वास है ? इन दोनों धाराओं के भक्ति साहित्य में "प्रमाणाभावात्नतत्सिद्धिः" अथवा "अस्ति च ब्रह्म" और "न नास्ति ब्रह्म" का प्रश्न नहीं उठाया गया है, वरन सीधे ब्रह्म के निराकार अथवा साकार स्वरूप के प्रश्न पर विचार किया गया है। यह तथ्य है कि हिन्दी के सगुण और निर्गुण साहित्य की पृष्ठभूमि में अत्यन्त सशक्त शास्त्रीय एवं दार्शनिक परम्परा थी।

उपनिषदों में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप से सम्बन्धित अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। ब्रह्म को 'न एषः सुविज्ञेयः' कह कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म कहा गया है। गीता में भी ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का प्रतिपादन था। परन्तु गीता का झुकाव सगुणत्व की ओर अधिक दिखाई देता है। गीता में इस प्रकार के विशेषणों का प्रयोग किया गया है जो कि उसके निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों की पुष्टि करते हैं। "कवि पुराणम् अनुशासितारम् अचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं" कहकर अव्यक्त ब्रह्म से भी परे ब्रह्म को कहा गया है। किन्तु सगुण स्वरूपको स्पष्ट करते हुए 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभावाम्यात्ममायया' कहकर 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' आदि वचनों के द्वारा निश्चित रूप से साकार उपासना की पुष्टि की गई है। सांख्य सूत्रकार ने प्रमाण के अभाव में उसको न सिद्ध कर सकने के फलस्वरूप मात्र आत्मा का अस्तित्व मानते हुए उसको निर्गुण घोषित किया था। योग सूत्रकार ने भी 'ईश्वर' को 'पुरुष विशेष' कहा किन्तु 'क्लेशकर्मविपाक' और 'आशय' से अपरामृष्ट' कहते हुये नकारात्मक प्रणाली से ही उसका वर्णन किया। पुराणों में जाकर निर्गुण और सगुण भाव इस रूप में व्यक्त हुए कि यद्यपि वह ईश्वर सैद्धान्तिक रूप में निर्गुण है किन्तु उपासना के क्षेत्र में उसका लीलामय सगुण स्वरूप स्वीकार किया जाना चाहिये। अनेक अवतारों के रूप में नाना प्रकार की लीलाओं में रत उदात्त चरित्र से युक्त भगवान का आकर्षक स्वरूप भक्ति के क्षेत्र में मान्य हुआ। आचार्य रामानुज ने भी शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित प्राकृत एवं अप्राकृत गुणों से रहित ब्रह्म में प्राकृत गुणों की शास्त्रीय स्थापना की। आचार्य निम्बार्क ने उस ब्रह्म के शरीर की सत्ता भी बड़े सुन्दर तर्क के साथ घोषित की, कि यदि उस ब्रह्म के शरीर न होता तो उपासना किसकी होती और साधना चिंतन किसके लिये किया जाता। वैदिक ऋषि के पर्यायवाची 'द्रष्टा' को लेकर उन्होंने सिद्ध किया कि यह शब्द ही इस तथ्य का प्रमाण है कि ऋषियों द्वारा वह ब्रह्म देखा गया। आगे चलकर १४वीं शताब्दी में रामानन्द ने सीतापति राम को जो कि दशरथ के पुत्र थे परम इष्ट के रूप में स्वीकार किया। इसी प्रकार १६वीं शताब्दी में नन्द यशोदा के प्रतिपालित परम प्रिय पुत्र गोपीरमण कृष्ण का परब्रह्मत्व शास्त्रीय भाष्य एवं स्वतन्त्र ग्रन्थों के आधार पर स्थापित करते हुए वल्लभाचार्य ने ब्रह्म को विरुद्ध-धर्मत्व से युक्त बतलाया और कहा कि यद्यपि ब्रह्म के प्राकृत शरीर और गुण नहीं हैं किन्तु वह सर्वनिर्दोष गुणों से युक्त है।

इस प्रकार प्रारम्भ से लेकर मध्ययुग के अन्त तक अनेक ऋषियों व आचार्यों ने ब्रह्म के निर्गुण अथवा सगुण, अथवा इन दोनों से युक्त स्वरूप की व्याख्या अपनी अपनी अनुभूति एवं अध्ययन के आधार पर करने का प्रयास किया।

इस प्रकार ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी के निर्गुण भक्ति साहित्य में उपनिषदों की विचारधारा ग्रहण की गई और सगुण भक्ति साहित्य में गीता और पुराण की विचारधारा को प्रश्रय मिला। तथ्य यह है कि सगुण साहित्य पर पुराणों का प्रभाव कहना असंगत नहीं क्योंकि इस साहित्य के रचयिता भागवत पुराण से अवश्य प्रभावित थे किन्तु निर्गुण-भक्त कवि केवल अपनी अनुभूति के आधार पर ब्रह्म के स्वरूप से सम्बन्धित जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं वह उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म के वर्णनों के निकट स्वयमेव आ गए हैं।

हिन्दी साहित्य में भक्ति के रूप में मध्ययुग में धार्मिक विचारधारा के आगमन के कई कारण थे। देश में प्रत्येक क्षेत्र की संक्रांति, वैष्णव धर्म के उत्तर भारत में पुनर्स्थापन व प्रचार तथा अनेक शक्तिशाली धार्मिक सम्प्रदायों ने हिन्दी साहित्य को भक्ति से आपूर्ण करने में अत्यन्त सहायता दी। सामाजिक धरातल पर गृहस्थ जीवन का निर्वाह करते हुये ईश्वर भक्ति में लीन रहना वैष्णव सम्प्रदायों की विशेषता थी। शंकराचार्य के मायावाद का विरोध करने वाले वैष्णव आचार्यों ने भक्ति का पोषण करने वाले साहित्य को अत्यधिक प्रोत्साहित किया। यह भक्ति की धारा साहित्य में चार भिन्न स्वरूप ज्ञानभक्ति, सूफियों की प्रेम भक्ति, रामभक्ति एवं कृष्ण-भक्ति की शाखाओं में निरन्तर ३०० वर्षों तक तीव्र वेग के साथ प्रवहमान रही।

भक्ति साहित्य की उपरोक्त प्रत्येक शाखा में अतुल साहित्य का सृजन हुआ। आध्यात्मिक एवं साहित्यिक दोनों ही दृष्टिकोणों से यह साहित्य अत्यन्त समृद्ध था। गणना की दृष्टि से ज्ञान भक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा को सबसे अधिक प्रतिभाशाली कवियों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रेम-भक्ति शाखा में आध्यात्मिक दृष्टि से यद्यपि केवल तीन कवि—उसमान, मंझन और जायसी ने रचना की, किन्तु अपनी अद्वितीयता एवं प्रबन्ध काव्य रचना के कारण इस शाखा का साहित्य भी अन्य शाखाओं के समानान्तर है। रामभक्ति शाखा में सच्चे रूप से भक्ति-भाव के साथ रचना करनेवाले यद्यपि केवल तुलसीदास थे पर उन्होंने अकेले ही अनेक ग्रन्थों की रचना करके अन्य शाखाओं के समकक्ष इस शाखा के साहित्य की स्थापना की। फिर भी रचना परिमाण की दृष्टि से कृष्णभक्ति साहित्य सबसे अधिक है। किन्तु इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि गुण की दृष्टि से चारों शाखाओं का साहित्य अपनी अपनी विशेषताओं से युक्त, अद्वितीय है।

चारों शाखाओं के स्वरूप में मुख्य रूप से दो कारणों के फलोद्भूत भेद उपस्थित हुआ। पहला कारण यह था कि कवियों की दार्शनिक मान्यताओं में विभेद था। ज्ञानभक्ति शाखा के कवियों ने शास्त्रीय ग्रन्थों के अज्ञान के कारण उनका खंडन किया और अपनी अनुभूति के ही आधार पर अपने ग्रन्थों की रचना की। प्रेमभक्ति शाखा के कवियों ने शास्त्रीय ग्रन्थों का यद्यपि आधार नहीं लिया किन्तु उनके प्रति अनादर का भाव भी नहीं प्रकट किया, वरन् इसके विपरीत वेद उपनिषद् कुरान आदि के प्रति श्रद्धा प्रकट की। सगुण भक्ति साहित्य में पुराण व रामायण

आदि ग्रन्थों का प्रत्यक्ष रूप में आधार ग्रहण किया गया। किन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि पुराणों एवं रामायण में वर्णित कृष्ण और राम की कथा का सगुण भक्ति साहित्य की शाखाओं ने पौराणिक रूप में यथातथ्य प्रतिपादन किया, वरन् वास्तविकता यह है कि राम और कृष्ण के अवतार की कथाओं की केवल स्थूल रूपरेखा इन ग्रन्थों से ग्रहण की गई, शेष सम्पूर्ण चित्र तुलसी सूर मीरा आदि कवियों की प्रतिभा के शतशः रंगों से आपूरित हैं।

संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि ज्ञानभक्ति शाखा के साहित्य का आधार उसके रचयिताओं की केवल स्वानुभूति अथवा आत्मोपलब्धि है। प्रेमभक्ति शाखा के ग्रन्थों में भारतीय ऐतिहासिक, लोक प्रचलित तथा कल्पना के आधार पर निर्मित कथाओं के सूत्र में सूफियों के प्रेम-भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों को पिरोने का प्रयास किया गया है। ज्ञानभक्ति शाखा में ब्रह्म को समस्त गणों से परे, एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म कहते हुए ऐसा कहा गया है कि मात्र अनुभव से ही उसे ग्रहण किया जा सकता है। प्रेमभक्ति शाखा में उसको माता पिता, जन्म मृत्यु से रहित अनादि, अनन्त कहते हुये सर्वकर्ता एवं सर्वदाता कहा गया।

सगुण भक्ति साहित्य की दोनों शाखाओं में अवतार की भावना पर विश्वास है, यद्यपि ब्रह्म को अन्ततः निर्गुण बताया गया है। रामभक्ति शाखा में राम ही को ब्रह्म का स्वरूप मानते हुये उनके उदात्त मर्यादापुरुषोत्तम चरित्र का आख्यान किया गया। कृष्णभक्ति शाखा में कृष्ण को साक्षात ब्रह्म मानकर उनके अलौकिक सौंदर्य से युक्त स्वरूप एवं लीलाओं को महत्व दिया गया।

ज्ञानभक्ति शाखा के संतों ने सगुण साकार का स्पष्ट रूप में खंडन किया। प्रेमभक्ति शाखा के संत इस वाद विवाद में नहीं पड़े, मात्र निराकार निर्गुण का उल्लेख कर वेद पुराणादि के प्रति श्रद्धा भाव व्यक्त कर अपने कथा वर्णन में संलग्न हो गये। रामभक्ति शाखा में निर्गुण को मान्यता देते हुए सगुण को निर्गुण की भी अपेक्षा समझने में दुर्लभ घोषित किया गया। कृष्ण भक्ति शाखा में एकनिष्ठ भाव के साथ निर्गुण को उपासना की दृष्टि से अगम कहकर सगुण साकार स्वरूप में ही संलग्न रहने को श्रेष्ठ बताया गया।

इस प्रकार साध्य के स्वरूप के साथ साधना सम्बन्धी मार्ग तथा भक्त के लक्ष्य से सम्बन्धित अनेक प्रकार के विभेद निर्गुण और सगुण साहित्य में उपलब्ध होते हैं। ज्ञानभक्तिशाखा में अत्यन्त कठिन 'सहज' भाव की भक्ति, प्रेमाश्रयी शाखा में कष्टबहुल प्रेममार्ग की यात्रा, रामभक्ति शाखा में निशिदिवस दास्य भाव से सेवा, तथा कृष्णभक्ति शाखा में मन के वांछित अवांछित प्रत्येक भाव को कृष्ण चरणों में ही समर्पित करके उनके स्वरूप व लीला में निमग्न रहना, इस प्रकार चारों शाखाओं के साहित्य में एक पृथक साधना मार्ग का प्रतिपादन लक्षित होता है।

जहाँ तक लक्ष्य का प्रश्न है ज्ञानभक्ति शाखा के संत आत्मा के ही अन्दर अखिल विश्व के कण कण में व्याप्त परमात्म स्वरूप की निरन्तर, प्रतिपल सहज भाव से अनुभूति करते हुये जीव-न्मुक्ति को लक्ष्य मानते हैं। प्रेमाश्रयी शाखा के संतों का लक्ष्य, आत्मा रूपी प्रेमी का अपने समस्त प्रयत्नों के पश्चात परमात्मा रूपी प्रेयसी को पा लेना है। रामभक्ति शाखा में ईश्वर के चरणों में भक्तिभाव का सदैव बना रहना ही चरम काम्य है। कृष्ण-भक्तिशाखा में भी मुक्ति को हेय

बताकर कृष्ण के अलौकिक लीला रस का पान ही लक्ष्य है।

सामाजिक धरातल पर चारों शाखाओं के साहित्य में अनेक बातों में मतविभेद जान पड़ता है। और इसी दृष्टिकोण से प्रस्तुत अध्ययन विशेष रूप से दोनों ही धाराओं के विश्लेषण एवं अनुशीलन की दृष्टि से प्रेरित हुआ है।

आध्यात्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक तीनों धरातलों पर अनेक विन्दुओं पर निर्गुण और सगुण भाव धाराओं में भाव साम्य है। उदाहरण के लिये इस सम्बन्ध में दोनों धाराओं का साहित्य एकमत है कि वह ईश्वर सर्वत्र है, प्रत्येक में ईश्वर भाव का दर्शन करनेवाला ही सच्चा साधक है। भक्ति का मार्ग ही श्रेष्ठतम है। इस मार्ग में सुविधा यह है कि किसी भी भाव से ईश्वर की उपासना की जा सकती है। वास्तव में सच्चा भक्ति भाव वही है जहाँ साधक अपने चेतन अचेतन प्रत्येक प्रकार के भावों को ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देता है।

अन्ततः दोनों धाराओं का साहित्य भक्ति के उस चरम रूप का व्याख्यान करता है जहाँ साध्य साधक का भेद भी मिट जाता है, भक्त अपने इष्टदेव से तदाकारता की प्रतिपल अनुभूति करता हुआ चारों ओर व्याप्त जगत् में अपने निःसीम आह्लाद का अभिवर्षण करता है, एवं जीवन्मुक्त की स्थिति प्राप्त कर लेता है।

सामाजिक धरातल पर भक्ति के क्षेत्र में स्त्री, पुरुष, वर्ण अवर्ण, रंक धनवान के भेद भाव की दोनों भक्ति धाराओं के साहित्य ने अवहेलना की है। गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भक्ति भाव में लीन रहना, दोनों प्रकार के भक्ति साहित्य का संदेश था। मनुष्य को चाहिये कि वह कनक कामिनी के लोभ को त्याग कर, विषय विकारों से दूर रहते हुए कुसंग का परित्याग कर सत्संग में समय व्यतीत करे। जीवन में जो कुछ मिल जाय उससे संतुष्ट रहे, परिश्रम करना कभी न छोड़े, और धैर्य को गाँठ बाँधे रहे। सबके प्रति स्नेह भाव रखते हुए जो ऐसा व्यवहार करता है और प्रतिपल ईश्वर स्मरण के प्रति चैतन्य रहता है उसके भीतर ईश्वर स्वयं प्रकाशित हो जाते हैं।

साहित्यिक दृष्टि से भाषा का सहज सरल सौंदर्य, भाव की यथातथ्य अभिव्यक्ति करने वाला तीखा और सुंदर शब्द विन्यास दोनों भक्ति धाराओं के साहित्य में उपलब्ध होता है। काव्य रूप भी दोनों प्रकार के साहित्य में इस प्रकार के ग्रहण किये गये हैं कि शास्त्र की दृष्टि से उचित होते हुये जनमानस के हृदय में सरलता से प्रवेश करने की सामर्थ्य रखते हैं। भाषा और शैली में काठिन्य, दुरूहता एवं व्यर्थ के शास्त्रीय वितंडावाद के स्थान पर सहज सौन्दर्य एवं सुगमता है।

सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि आध्यात्मिकता से ओत प्रोत होते हुये भी माधुर्य रस को प्रश्रय देने के परिणाम स्वरूप निर्गुण और सगुण दोनों भक्ति धाराओं का साहित्य शुष्क सैद्धान्तिक कथनों के स्थान पर सरसता से आप्लावित है।

इस प्रकार भक्ति साहित्य की निर्गुण सगुण धारायें इस तथ्य को प्रकाशित करती हैं कि यद्यपि वह ब्रह्म अपने चरम भाव में निर्गुण निर्लिप्त अपने आप में संपूर्ण है, किंतु वही ब्रह्म अपने सगुण भाव से समस्त विश्व में मणि सूत्रवत प्रत्येक कण में अन्तर्व्याप्त है। दोनों ही भाव अत्यन्त

सहज हैं, प्रत्यक्ष हैं, किन्तु ईश्वर कृपा एवं सम्पूर्ण भावेन भक्ति के अभाव में समझने में अत्यन्त दुर्लभ हैं।

दोनों धाराओं के अध्ययन के फलस्वरूप यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निर्गुण-वादी धारा ने जहाँ एक ओर राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में मानव जीवन के अन्तर्गत ब्रह्म जीव जगत एवं माया के पारस्परिक सम्बन्ध को निरूपित किया है और स्वस्थ चिन्तन की ओर प्रेरणा प्रदान की है वहाँ सगुणवादी धारा ने जीवन को संपूर्ण आसक्तियों का माध्यम मानकर जीव और जगत को सत्य निरूपित करते हुये मानव को अपने चरम लक्ष्य की सिद्धि में रस-प्रवण बनाया है और प्रेम तथा आनन्द की प्रवृत्तिमार्गी भावभूमि को सुदृढ़ किया है।

मध्ययुग में प्रवाहित हिन्दी साहित्य की निर्गुण एवं सगुण उभय धारायें अपने विलक्षण तत्व, असीम साहित्यिक सौन्दर्य एवं विश्वजनीन संदेशों के कारण निश्चित रूप से अक्षुण्ण एवं सार्वभौम हैं। अतः इनका अध्ययन आध्यात्मिक, साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक, सभी दृष्टियों से अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं कल्याणप्रद है।

परिशिष्ट १

सगुण और निर्गुण धारा से सम्बन्धित संप्रदायों की संक्षिप्त रूप-रेखा

(ख) प्रेमाश्रयी शाखा से सम्बन्धित सम्प्रदाय

(अ) चिश्तिया[1]

(आवेशवाद), ख्वाज़ा अबू इसहाक शामी चिश्ती; ख्वाजा मुईनुद्दीन-चिश्ती (भारत)
(सं० ११९९-१२९३ वि०); 'काकी' ख्वाजा कुतुबुद्दीन (सं० १२४३-१२९४ वि०)

फ़रीदिया
फ़रीदुद्दीन 'शकरगंज' (सं० १२३०-१३२२ वि०)

निज़ामिया
निज़ामुद्दीन औलिया
(सं० १२९५-१३८१ वि०)

साबिरिया
अलाउद्दीन साबिर
(मृ० सं० १३४८)

हिसामिया

हमजाशाही
सैयद गेसूदराज
(मृ० सं० १४७९)

(आ) सुहर्वर्दिया
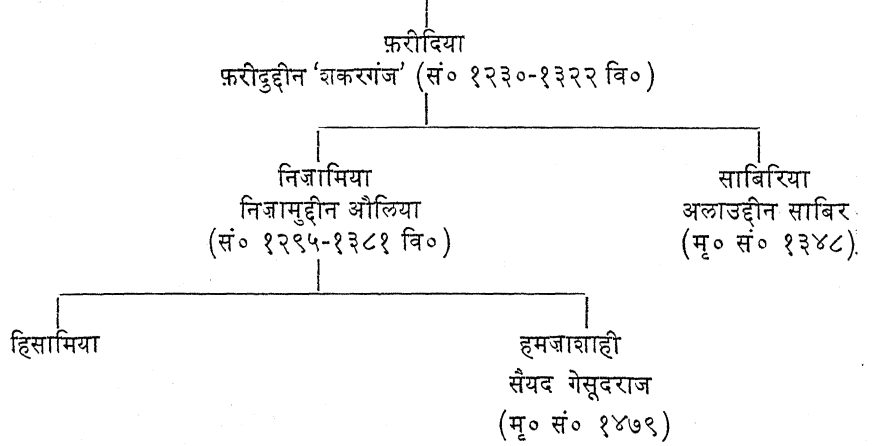
शिहाबुद्दीन सुहर्वर्दी (बगदाद); बहाउद्दीन ज़कारिया (भारत)
(सं० १२३९—सं० १३२४ वि०); सदरुद्दीन (मृ० सं० १३४२); शेख अहमद माशूक

बाशरा

जलाली
सैयद जलालुद्दीन 'शाह मीर' सुर्खपोश
(सं० १२४९-१३४८)

मख़दूमी शाखा
अहमद कबीर, मख़दूमे जहानियां (मृ० सं० १४४१)

इस्माइलशाही शाखा
हाफ़िज मुहम्मद इस्माइल
(मृ०सं०१७४०)

दौलाशाही शाखा
दौलत शाह (मृ० सं० १७३३)

बेशरा

लालशाह वाज़िया
सैयद लालशाह वाज़

रसूलशाही
रसूलशाह

सुहगिया
मूसासुहाग
(मृ० सं० १५०६)

---
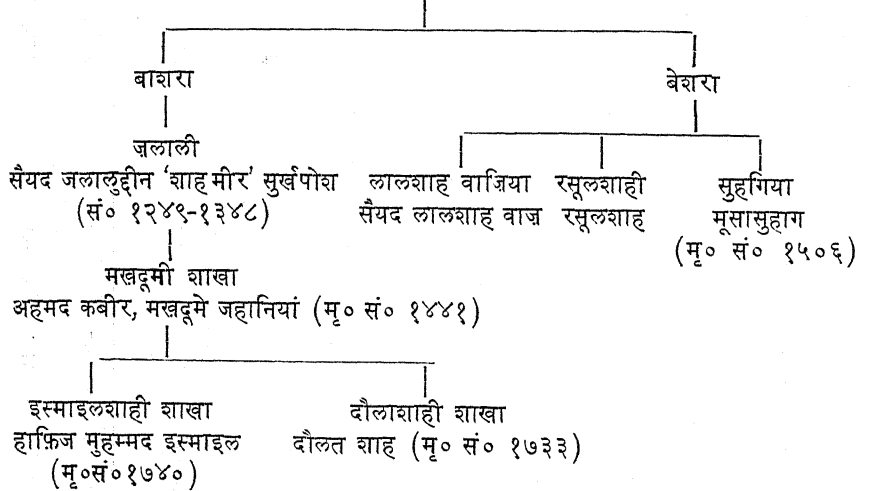
१. हिन्दी साहित्य की प्रेमभक्ति शाखा के दो प्रसिद्ध कवि—जायसी एवं उसमान का सम्बन्ध इसी सम्प्रदाय से है।

(इ) कादिरिया

अब्दुल कादिर ज़ीलानी (सं० ११३४-१२२३); सैयद मुहम्मद ग़ौस 'वाला पीर' (भारत)
(मृ० सं० १५७४)

कुमेशिया
शाह कुमेश (बंगाल)

बहलूलशाही
बहलूलशाह (रावलपिन्डी, पंजाब)

मुकीमशाही
(लाहौर के निकट)
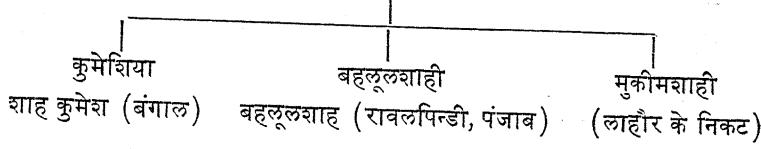
नौशाही—हाजी मुहम्मद (पश्चिमी भारत) (मृ० सं० १७५७)
हुसेनशाही—शाहलाल हुसेन (मृ० सं० १६५७)
(मियां खेल)—मिया मीर (सं० १६०७—सं० १६९२)

(ई) नक्शबन्दिया

(धर्मशास्त्रवाद), ख्वाजा बहाउद्दीन 'नक्शबंद' (मृ० सं० १४४६) (ईरान); ख्वाजा बाकी निल्ला 'बेरंग' (मृ० सं० १६६०); अहमद फारूकी 'क़यूम' (सं० १६२०-१६८२), मुहम्मद मासूम कयूम (सं० १६५६-१७२५ वि०) ख्वाजा हुज्जतुल्ला 'क़यूम' (ज० सं० १६८१); जुनेद 'क़यूम' (मृ० सं० १७९७)

(उ) अन्य सम्प्रदाय

उबेसी—उबेसुल करनी
मदारी—शाह मदार (मृ० सं० १५४२)
शत्तारी—शेख अब्दुल्ला शत्तार (मृ० सं० १४८५)
कलंदरिया—नजमुद्दीन कलंदर (भारत) (मृ० सं० १५७५)
मलामती—जूल नून मिस्त्री

(ग) रामभक्ति शाखा से सम्बन्धित संप्रदाय

रामानन्द सम्प्रदाय
रामानन्द (मृ० सं० १४६७ वि०)

रसिक सम्प्रदाय
अग्रदास (१६३२ वि०), मानदास

स्वसुखी शाखा
रामचरणदास, रसिक अली
(पति पत्नी भाव)

तत्सुखी शाखा
जीवाराम
(सखीभाव)
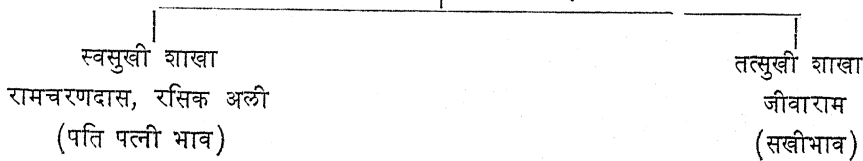
कृष्ण भक्ति शाखा से सम्बन्धित सम्प्रदाय

वल्लभ सम्प्रदाय—स्थापक : श्री वल्लभाचार्य, प्रचारक : गोपीनाथ, विट्ठल नाथ; भक्ति का भाव : दास्य व सख्य भाव की भक्ति; प्रसिद्ध कवि : अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध आठ कवि कुंभनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास, नंददास।

चैतन्य सम्प्रदाय—प्रवर्तक : श्री कृष्ण चैतन्य; स्थान : बंगाल; उपास्य : श्रीकृष्ण, सिद्धान्त : अचिंत्य भेदाभेद, शास्त्रीय स्थापना : बलदेव विद्याभूषण (गोविन्द भाष्य); प्रचारक : बंगाल में नित्यानन्द तथा अद्वैताचार्य, वृन्दावन में श्री रूप गोस्वामी, श्री सनातन गोस्वामी, श्री जीव गोस्वामी।

राधावल्लभ सम्प्रदाय—स्थापक : आचार्य हितहरिवंश; भक्ति का भाव : गुप्त रूप की भक्ति, प्रसिद्ध कवि : हित हरिवंश, वृन्दावनदास, ध्रुव दास, नागरीदास, हरिराम व्यास।

हरिदासी सम्प्रदाय—प्रवर्तक : हरिदास; भक्ति का भाव : अनुरागात्मिका भक्ति; प्रसिद्ध कवि : विट्ठल विपुल, बिहारिनीदास, भगवत रसिक, ललित किशोरी।

परिशिष्ट २

सहायक पुस्तकें

मूल ग्रंथ

सन्त साहित्य

१. कबीर ग्रन्थावली—संपादक श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, छठवाँ संस्करण, सं० २०१३।

२. पलटूदास की बानी—श्री रामफल पुरुषोत्तमदास, धर्मबाबू बैजनाथ प्रसाद, बनारस सिटी, सन् १९३९।

३. प्रेमदीपिका—महात्मा अक्षर अनन्य, रायबहादुर लाला सीताराम, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, यू० पी, सम्वत् १९३५।

४. बोध सागर (नं० १०)—संग्रहकर्त्ता श्री युगलानन्द, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, मुंबई, सं० १९८३।

५. भक्तिसागर (परिशिष्ट भाग सहित)—श्री स्वामी चरणदास जी, प्रकाशक, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, पंचम संस्करण, सन् १९३१।

६. रहिमन विलास—ब्रजरत्नदास, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, परिवर्द्धित संस्करण, प्रथमावृति १९८७।

७. रैदास जी की बानी और जीवन चरित्र—बेल्वेडियर प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९१८ ई०।

८. श्री दादूदयाल की बानी—संपादक, महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सन् १९०६ ई०।

९. सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खंड)—हरिनारायण शर्मा, राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, १९९३।

१०. संत कबीर—डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन, इलाहाबाद, १९५० ई०।

११. संत काव्य (संग्रह)—परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सन् १९५२ ई०।

१२. संत बानी संग्रह—बेल्वेडियर प्रेस, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, सन् १९४६।

१३. संत बानी संग्रह (भाग १), (साखी)—बेल्वेडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद, सन् १९१५ ई०।

१४. सन्त वाणी—संपादक, श्री वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, सन् १९४४ ई०।

सूफ़ी साहित्य

१. चित्रावली—उसमान, संपादक, जगन्मोहन वर्मा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सन् १९१२ ई०।
२. जायसी ग्रंथावली—रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पंचम संस्करण, संवत् २००८।
३. नयणसी की ख्यात (भाग १, २)—काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
४. माधवानल कामकन्दला—आलम, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।
५. मंझनकृत मधुमालती—डा० शिवगोपाल मिश्र, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९५७ ई०।
६. हिन्दी प्रेमगाथा काव्य संग्रह—संपादक. श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर-प्रदेश, इलाहाबाद।

रामभक्ति साहित्य

१. कवितावली (हिन्दी अनुवाद सहित)—गोस्वामी तुलसीदास, अनुवादक, इन्द्रदेवनारायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, नवम् संस्करण, सं० २००८।
२. केशव कौमुदी (दूसरा भाग, रामचन्द्रिका उत्तरार्द्ध)—टीकाकार लाला भगवानदीन, प्रकाशक, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, तृतीय बार, सन् १९४५।
३. केशव कौमुदी (प्रथम भाग रामचन्द्रिका पूर्वार्द्ध)—टीकाकार, लाला भगवानदीन; प्रकाशक, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, षष्ठावृत्ति, सं० २००४।
४. गीतावली (हिन्दी अनुवाद सहित)—गोस्वामी तुलसीदास अनुवाद कर्ता : मुनिलाल, गीता प्रेस, गोरखपुर, षष्ठ संस्करण, सं० २००८।
५. तुलसी ग्रन्थावली (भाग १, २)—काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९२७ ई०।
६. दोहावली—गोस्वामी तुलसीदास; अनुवादक हनुमानप्रसाद पोद्दार; गीताप्रेस, गोरखपुर; बारहवाँ संस्करण, सं० २०१३।
७. रामचरित मानस—डा० माता प्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।
८. विनय पत्रिका—गोस्वामी तुलसीदास; संपादक, श्री वियोगी हरि।
९. विनय पत्रिका (सरल भावार्थ सहित)—गोस्वामी तुलसीदास; हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वादश संस्करण, सं० २००८।
१०. वैराग्य संदीपनी—गोस्वामी तुलसीदास, अनुवादक, हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण, सं० २०१३।
११. श्री रामचरित मानस (विजया टीका, तीन भाग)—प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, प्रथम आवृति, सं० २०११।
१२. हनुमन्नाटक—संपादक, बाबू रामकृष्ण वर्म्मा, भारतजीवन यन्त्रालय, काशी, प्रथम बार सन् १८८८ ई०।

१३. हनुमान बाहुक—गोस्वामी तुलसीदास, टीकाकार पं० महावीर प्रसाद मालवीय, गीता प्रेस गोरखपुर, उन्नीसवां संस्करण, सं० २०१४।

कृष्णभक्ति साहित्य

१. कलि चरित्र बेली—चाचा जी श्री हितवृन्दावन दास जी, प्रकाशक बाबा तुलसीदास शिवलाल गोवर्धनदास, पुराना शहर, वृन्दावन, प्रथम संस्करण, सं० २००९।

२. कीर्तन संग्रह (भाग १ लो)—वर्षोत्सव के कीर्तन, ल० छ० देसाई, अहमदाबाद, द्वितीय संस्करण, १९९३ वि०।

३. कीर्तन संग्रह (भाग ३)—नित्यपद के कीर्तन; ल० छ० देसाई, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, १९९६ वि०।

४. कुंभनदास (जीवनी, पद संग्रह और भावार्थ)—संपादक, ब्रजभूषण शर्मा, कण्ठमणि शास्त्री, गोकुलानन्द शर्मा, प्रकाशक, विद्या विभाग, कांकरोली, प्रथम संस्करण, सं० २०१०।

५. गोविन्दस्वामी—श्री ब्रजभूषण शर्मा आदि। विद्या विभाग कांकरोली।

६. घनआनंद और आनंदघन (ग्रंथावली)—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम संस्करण, २००२ वि०।

७. द्वादश यश—चतुर्भुजदास, शेठ मणिलाल जमुनादास शाह, बुखारा की पोल, शाहपुर, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, १९९३ वि०।

८. नन्ददास (द्वितीय भाग)—संपादक, उमाशंकर शुक्ल, प्रकाशक, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सन् १९४२।

९. नंददास ग्रंथावली—ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, सं० २००६।

१०. परमानन्द सागर—संपादक, ब्रजभूषण शर्मा, कण्ठमणि शास्त्री, गोकुलानन्द तैलंग, विद्या-विभाग कांकरोली, प्रथम संस्करण, सं० २०१६।

११. भक्त कवि व्यास जी—वासुदेव गोस्वामी, संपादक, प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, प्रथम संस्करण, सं० २००९।

१२. भंवरगीत—नंददास, संपादक, विश्वम्भर नाथ मेहरोत्रा, प्रकाशक, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, अष्टम संस्करण, १९४८ ई०।

१३. मीराबाई की पदावली—श्री परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, आठवां संस्करण, सं० २०१४।

१४. वसंत धमार कीर्त्तन संग्रह—ल० छ० देसाई, अहमदाबाद, सं० १९८४।

१५. श्री कृष्ण गीतावली (सरल भावार्थ सहित)—गोस्वामी तुलसीदास, अनुवादक, हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस गोरखपुर, प्रथम संस्करण, सं० २०१४।

१६. श्री निम्बार्कमाधुरी—सम्पादक, ब्रह्मचारी बिहारीशरण, प्रकाशक, ब्रह्मचारी बिहारीशरण, वृन्दावन, सं० १९९७।

१७. श्री बयालीस लीला तथा पद्यावली—ध्रुवदास, प्रकाशक, बाबा तुलसीदास, श्रीराधावल्लभ जी का मन्दिर, वृन्दावन।

१८. श्री लाड़ सागर—हितवृन्दावन दास, जुगुल किशोर काशीराम, पूर्व पंजाब, प्रथम संस्करण, २०११ वि०।

१९. श्री व्यास वाणी—प्रकाशक, अखिल भारतवर्षीय श्री हितराधावल्लभीय वैष्णव महासभा, वृन्दावन (मथुरा), सन् १९३५।

२०. श्री हितसुधासागर (श्री हितवाणी जी, महाप्रभु श्री हितहरिवंश गोस्वामी चरणकृत। श्री सेवकवाणी जी, श्री सेवक जी, महाराजकृत)—प्रकाशक, स्वामी श्री नारायण दास, अलीगढ़, प्रथम संस्करण, १९९३ वि०।

२१. सूरदास मदनमोहन (जीवनी और पदावली)—प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, प्रथम संस्करण, सं० २०१५ वि०।

२२. सूरसागर (दूसरा खंड)—संपादक, श्री नंददुलारे बाजपेई, प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वितीय संस्करण, सं० २०१२।

२३. सूरसागर (पहला खंड)—संपादक, श्री नंददुलारे बाजपेयी, प्रकाशक, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, द्वितीय संस्करण, सं० २००९।

२४. सूरसागर सार—संकलन कर्त्ता, डा० धीरेन्द्र वर्मा, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सं० २०११।

अन्य सहायक ग्रन्थ

१. अष्टछाप—कंठमणि शास्त्री, कांकरोली, द्वितीय संस्करण, सं० २००९।

२. अष्टछाप—डा० धीरेन्द्र वर्मा, रामनारायण लाल प्रेस, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९२९ ई०।

३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (द्वितीय भाग)—डा० दीनदयाल गुप्त।

४. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (प्रथम भाग)—डा० दीनदयाल गुप्त।

५. आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत—केसरीनारायण शुक्ल।

६. उत्तरी भारत में संत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सं० २००८।

७. एकनाथ व तुलसीदास (तुलनात्मक अध्ययन)—जगमोहन लाल चतुर्वेदी, औरंगाबाद, प्रथम, संस्करण, १९२४ ई०।

८. कविवर सेनापति और उनका काव्य—डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, सरस्वती पुस्तक सदन आगरा, प्रथमावृत्ति, सं० २००९।

९. काव्य में उदात्त तत्व—डा० नगेन्द्र।

१०. काव्यांग कौमुदी (द्वितीय कला)—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, मोहनवल्लभ पंत, नंदकिशोर एंड ब्रदर्स, बनारस, द्वितीय संस्करण, सं० १९८८।

११. गीता रहस्य—लोकमान्य तिलक।

१२. गोरख बानी—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, सं० २००३।

१३. दर्शन दिग्दर्शन—राहुल सांकृत्यायन, द्वितीय संस्करण, १९४२ ई०।
१४. निर्गुण काव्य दर्शन—सिद्धिनाथ तिवारी, अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना, प्रथम संस्करण, १९५३ ई०।
१५. भक्तमाल हरिभक्ति प्रकाशिका—गंगा विष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९८१, कल्याण, मुंबई।
१६. भारतीय तत्व चिंतन—जगदीश चन्द्र जैन, राजकमल प्रकाशन, बम्बई।
१७. भारतीय प्रेमाख्यान काव्य हरिकान्त श्रीवास्तव, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, प्रथम संस्करण, १९५५ ई०।
१८. मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी।
१९. महाभारत मीमांसा (रावबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, मराठी)—अनुवादक पं० माधवराम सप्रे, बालकृष्ण पांडुरंग ठकार, पूना, सन् १९२०।
२०. मानव मूल्य और साहित्य—डा० धर्मवीर भारती।
२१. मानस, बालकाण्ड के स्त्रोत—श्रीश कुमार, हेमाभ प्रकाशन, काशी, प्रथम संस्करण, १९५७ ई०।
२२. मिश्रबन्धु विनोद (द्वितीय भाग)—गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, सन् १९८४।
२३. मिश्रबन्धु विनोद (प्रथम भाग)—हिन्दी ग्रन्थ प्रसारक मंडली, खंडवा, प्रथम संस्करण, सन् १९२०।
२४. रसखान और उनका काव्य—चन्द्रशेखर पांडे, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० १९९९।
२५. राधा वल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य—डा० विजयेन्द्र स्नातक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सं० २०१४।
२६. राम कथा—डा० कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय।
२७. रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना—भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र, 'माधव', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, प्रथम संस्करण, १९५७ ई०।
२८. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव—डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव, हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, १९५७ ई०।
२९. विद्यापति—डा० शिव प्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकमाला, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९५७ ई०।
३०. वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी, विवेक प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५३ ई०।
३१. सूफीमत और हिन्दी साहित्य—विमल कुमार जैन, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५५ ई०।
३२. सूर साहित्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्यभारत हिंदी साहित्य समिति, इन्दौर। प्रथम संस्करण, सं० १९९३।
३३. सूरदास—डा० ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय।

३४. संत कवि दरिया : एक अनुशीलन—धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, प्रथम संस्करण, १९५४ ई०।
३५. हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय।
३६. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, सं० २००७।
३७. हिन्दी के मुसलमान कवियों का प्रेमकाव्य—गुरुदेव प्रसाद वर्मा, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९५७ ई०।
३८. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन—विनय मोहन शर्मा, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, प्रथम संस्करण, १९५७ ई०।
३९. हिन्दी भाषा और साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास।
४०. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—अयोध्यासिंह उपाध्याय, हरिऔध पुस्तक भंडार, लहरिया सराय, द्वितीय संस्करण, १९५० ई०।
४१. हिन्दी साहित्य—रामरतन भटनागर।
४२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, रामनारायण लाल, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, १९४८ ई०।
४३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, ग्यारहवां संस्करण, सं० २०१४।
४४. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—सूर्यकान्त शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास अध्यक्ष, लाहौर, १९३१ ई०।
४५. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त परिचय—रामरतन भटनागर, इलाहाबाद प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५१ ई०।
४६. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, साहित्य रत्न भंडार, आगरा, प्रथम संस्करण, सं० २०१२।
४७. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, षष्ठ संस्करण, १९५९ ई०।
४८. हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएं—परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९५५ ई०।
४९. श्री भक्तमाल सटीक वार्तिक प्रकाश युत—नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, प्रथम संस्करण, १९१३ ई०।

संस्कृत ग्रन्थ

१. अध्यात्म रामायण (हिन्दी अनुवाद सहित), अनुवादक मुनिलाल, गीता प्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण, सं० १९९४।
२. अष्टोत्तर उपनिषत्सु शैव उपनिषद ।

३. उपनिषद—कल्याण अंक, गीताप्रेस गोरखपुर।
४. नारदभक्ति सूत्राणि—पंडित रामस्वरूपशर्मण कृतया, हिन्दी भाषा व्याख्या, मुरादाबाद, सं० १९५४।
५. पातंजल योग दर्शन—सांख्ययोगाचार्य श्रीमद्हरिहरानन्द आरण्य कृत बंगला भाष्यानुवाद और टीका का मूल सहित हिन्दी रूपान्तर, संपादक, डा० भगीरथ मिश्र आदि, लखनऊ विश्वविद्यालय।
६. प्रेमदर्शन, देवर्षि नारद विरचित भक्तिसूत्र—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस गोरखपुर, प्रथम संस्करण, सं० १९९२।
७. ब्रह्म सूत्र (शंकर भाष्य भाषानुवाद) भाग १,२—अनुवादक ब्रह्मचारी विष्णु, वेदान्त केसरी कार्यालय, बेलनगंज, आगरा, संवत १९८८, १९८९।
८. ब्रह्मसूत्र भाष्यम् सटिप्पनं मूलमात्रम् ।
९. ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्यम् चतुः सूत्रीभागः—सन् १९१५।
१०. भक्ति मीमांसा
११. सिद्धान्त रहस्य विवृत्ति—श्री हरिराय, अनुवादक, देवर्षिभट्ट रमानाथ शास्त्री, सिद्धान्त कार्यालय, सं० १९८४।
१२. शाण्डिल्य शतसूत्रीयम् भाष्यम्—श्री शाण्डिल्य सूत्रम्
१३. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य हिन्दी अनुवाद सहित—अनुवादक, श्री हरिकृष्णदास, गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर, सप्तम संस्करण, सं० २००८।
१४. श्रीमद्भागवत (दो खण्ड) (भाषाटीका सहित)—टीकाकार, पं० गोविन्दास 'विनीत', श्यामलाल हीरालाल, श्याम काशी प्रेस, मथुरा, प्रथम बार, सं० १९९६।
१५. श्रीमद्धनुमद्विरचित श्री हनुमन्नाटक (भाषाटीका समेत)—गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण, मुंबई, सं० १९८१।

अंग्रेजी ग्रंथ

1. A Handbook of Literary Criticism—William Henry Sheran
2. A History of Indian Ph losophy—Das Gupta
3. A History of Maithil Literature—Dr. Jayakanta Misra, Tirbhuktī Pub. Allahabad, 1949.
4. Annals of the Bhandarkar Inst tute. (Vols. 1-4)—1918-24.
5. Din Ilahi—M. Lal Rai Chaudhary Shastri, University of Calcutta, 1941.
6. Chaitanya and His Companions—Sen, University of Calcutta, 1917.
7. Gorakhnath and the Kanphata Yogis—Briggs, 1938.

8. India's Culture through the Ages.—Mohan Lal Vidyarthi, Tapeshwari Sahitya, Mandir, Kanpur, First Edition, 1951.
9. Influence of Islam on Indian Culture.—Dr. Tarachand.
10. Nimbarka School of Vedanta.—Dr. Umesh Misra, Senate House, Allahabad, 1940.
11. Pathway to God in Hindi Literature.—R. D. Ranade.
12. Philosophy of Vaishnava Religion (Vol. 1).—G. N. Mullick. Motilal Banarsidas, Lahore, 1927.
13. Sankhya Karika of Ishwara Krishna.—St. Davies, Calcutta, Second Edition, 1957.
14. Shrimad Bhagvatam. Translated into English. (2 Vols.).—S. Subbarao Prose Vol. 1, Skandha 1-7, Vol. 2, Skandha 8-12, S. Lakshman Rao Tripathi, 1928.
15. Studies in Vedanta.—Kirtikar.
16. The Chaitanya Movement.—Kennedy, Association Press, Calcutta 1933.
17. The cultural Heritage of India. Vol. IV. The Religions.—Editor—Haridas Bhattacharya, Calcutta. The Ram Krishna Mission, Institute of Culture. Second Edition 1956.
18. The Philosophy of Visistadvaita.—Srinivasachari, 1943.
19. Vedanta Parijata Saurabha of Nimbarka and Vedanta Kaustubha of Srinivasa (Vol. 1).—Translated and Annoted by Roma Bose. (Comentaries on the Brahm Sutra) Calcutta 1940.
20. Vedic Mysticism (Vol. 1).—Raghu Vira, New Era Publications, Lahore. 1932.

अन्य शोध प्रबन्ध

1. Indebtedness of Hindi Saints to Vedantic Systems.—Dr. Sheelvati, Allahabad University.
2. Philosophy of Shri Chaitanya.—O. B. L. Kapoor, Allahabad University.
3. Social Conditions in 16th & 17th centuries.—Dr. Anand Prakash, Allahabad University.

४. हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि : तुलनात्मक अध्ययन—डा० रत्नकुमारी, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९५४ ई०।
५. हिन्दी भक्ति काव्य में श्रृंगार रस—डा० मिथिलेश कान्ति प्रयाग विश्वविद्यालय, १९६१ ई०।
६. हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य पर पुराणों का प्रभाव—डा० शशि अग्रवाल, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी।

पत्र पत्रिकायें

१. आलोचना—संपादक नन्ददुलारे बाजपेई, राज कमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
२. सम्मेलन पत्रिका—संपादक रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
३. साहित्य—संपादक शिवपूजन सहाय, बिहार।
४. हिन्दी अनुशीलन।